



सच्चं लोगम्भि सारभूयं

Aspects of Jainology

3044

Vol. 5

जैन विद्या के आयाम

3044

खण्ड ५

SRI SVETAMBARA STHANAKAVASI JAINA SABHA
HIRAKA JAYANTI SEMINAR VOLUME

श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सभा
हीरक जयन्ती संगोष्ठी ग्रन्थ

Editors
Prof. Sagarmal Jain
Dr. Ashok Kumar Singh



पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी - ५

PĀRŚVANĀTHA ŚODHAPĪTHA, VĀRĀNASĪ-5

Aspects of Jainology

Vol. V

**Sri Shvetambara Sthanakavasj Jaina Sabha, Calcutta
Diamond Jubilee Seminar Volume**

Editors

**Prof. Sagarmal Jain
Dr. Ashok Kumar Singh**

Publisher

**Pujya Sohanlal Smaraka Parshvanath Shodhapitha
Varanasi-221 005.**

**Published with Financial Assistance from
Sri Shvetambara Sthanakavasi Jaina Sabha Calcutta**

Published by :

Pujya Sohanlal Smaraka Parshvanath Shodhapitha
I.T.I. Road, Karaundi
P.O. B.H.U., Varanasi-221 005.
Phone No. 311462

Ist Edition 1994

Price Rs. 200.00

Printed by :

Vardhaman Mudranalaya
Jawahar nagar Colony
Varanasi-10.

जैन विद्या के आयाम

ग्रन्थाङ्क 5

श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सभा, कलकत्ता
हीरक जयन्ती संगोष्ठी ग्रन्थ

सम्पादक

प्रो. सागरमल जैन
डॉ. अशोक कुमार सिंह

प्रकाशक

पूज्य सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ
वाराणसी-221 005.

श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सभा के आर्थिक सहयोग द्वारा प्रकाशित

प्रकाशक :

पूज्य सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ
आई.टी.आई. रोड, करौंदी
पो.आ. - काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी- 221.005.
दूरभाष - ३११४६२

प्रथम संस्करण

मूल्य रु. 200.00

मुद्रित :

वर्धमान मुद्रणालय
जवाहर नगर कालोनी
वाराणसी-10

प्रकाशकीय

जैन विद्या के पंचम खण्ड (Aspects of Jainology, Vol. V) का प्रकाशन श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सभा, कलकत्ता के हीरकजंघन्ती एवं पूज्य सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ के स्वर्णजयन्ती वर्ष 1988 के उपलक्ष्य में श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सभा कलकत्ता द्वारा आयोजित विद्वत् संगोष्ठी हेतु प्रस्तुत निबन्धों के संकलन के रूप में किया जा रहा है। श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सभा ने न केवल प्रस्तुत संगोष्ठी को आयोजित किया अपितु उसमें प्रस्तुत निबन्धों के प्रकाशन हेतु दस हजार रुपयों का आर्थिक अनुदान भी दिया है।

"वे ही व्यक्ति एवं संस्थाएँ जीवित रहती हैं जो दूसरों के सुख-दुःख में सहभागी बनती हैं एवं सतत सेवा कार्य के लिये प्रस्तुत रहती हैं, इस उक्ति को चरितार्थ करती हुई श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सभा कलकत्ता अपने शिक्षा, सेवा एवं साधना के सेवा-प्रकल्पों का निरन्तर विस्तार करते हुए गतिमान है। सन् 1928 में स्थापित सभा की समाज तथा राष्ट्रोपयोगी एवं लोक-कल्याणकारी प्रवृत्तियाँ किसी भी समाज के लिये गर्व का विषय हैं। सभा ने अपनी सेवा की परिधि में समाज के प्रत्येक वर्ग के हित-साधन को ध्यान में रखा। शिक्षा हेतु कम्प्यूटर शिक्षा की सुविधा युक्त जैन विद्यालय और हाबड़ा में स्थापित विद्यालय, गरीब छात्रों की सुविधा के लिये जैन बुक बैंक, रोगी एवं पीड़ित जनों की सेवा हेतु जैन चिकित्सालय, 4 करोड़ रुपयों की लागत से बन रहा अत्याधुनिक सुविधाओं वाला चिकित्सालय तथा साथ ही नियमित रूप से बड़े स्तर पर निःशुल्क नेत्र शल्य चिकित्सा शिविर एवं समय-समय पर श्री महावीर विकलांग समिति, जयपुर के सहयोग से निःशुल्क विकलांग शिविर का आयोजन सभा करती रही है। सभा द्वारा जैन-शिल्प-शिक्षा-केन्द्र एवं महिला उत्थान समिति के माध्यम से नारी उत्थान तथा विकास का प्रशंसनीय कार्य किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त अल्प आय वाले जैन भाइयों को नितान्त कम शुल्क में शुद्ध एवं सात्विक आहार "जैन भोजनालय" के माध्यम से उपलब्ध कराने का कार्य सभा कर रही है। साथ ही स्वधर्मी भाइयों की सेवा सहित प्राणिमात्र की सेवा का व्रत पूर्ण करने के लिये जीव दयाकोष एवं स्वधर्मी सहायता कोष की स्थापना भी सभा कर रही है। धार्मिक उत्थान के लिए भी सभा प्रतिवर्ष स्थापना दिवस, क्षमायाचना दिवस, महावीर जयन्ती एवं जैनाचार्यों की जयन्तियों को अत्यन्त उत्साहपूर्वक मनाती है। अष्ट दिवसीय पर्युषण पर्व की आराधना भी तप, त्याग एवं प्रत्याख्यान पूर्वक सोल्लास मनायी जाती है।

सभा कलकत्ता में ही नहीं अपितु देश के विभिन्न भागों में शिक्षा एवं सेवा से जुड़ी संस्थाओं को भी उदारतापूर्वक आर्थिक सहायता प्रदान करती रही हैं। सभा द्वारा पार्श्वनाथ शोधपीठ को अनेक प्रसंगों पर आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है। संगोष्ठी में प्रस्तुत निबन्धों का यह संकलन भी उसके जैन विद्या के प्रति अनुराग एवं उदार दृष्टिकोण का परिचायक है।

पार्श्वनाथ शोधपीठ भगवान पार्श्वनाथ की पवित्र जन्मस्थली पवित्रनगरी वाराणसी में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के समीप स्थित है। जैन विद्या के उच्चानुशीलन एवं शोधकेन्द्र के रूप में यह देश का प्रथम एवं प्रतिष्ठित संस्थान है। शोध कार्य हेतु काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा मान्यता प्राप्त यह शोधपीठ, जैनधर्म, दर्शन, साहित्य, इतिहास और संस्कृति के सम्बन्ध में शोधात्मक प्रवृत्तियों का तो जन्मदाता ही है। 10 नवम्बर, 1935 को अमृतसर में पूज्य श्री सोहनलाल जी. म. सा. की पावन स्मृति में स्थापित इस समिति ने जैन विद्या के विकास एवं प्रचार-प्रसार हेतु सन् 1937 में वाराणसी में अपनी शैक्षिक गतिविधियाँ प्रारम्भ की। इस शोधपीठ के प्रेरक

और अकादमिक रूपकार रहे हैं -- स्वनामधन्य प्रज्ञा चक्षु पं. सुखलाल संघवी और मूर्तरूपदाता हैं -- निष्काम समाज सेवी लाला हरजसरायजी जैन, अमृतसर।

शोध के सम्बन्ध में विशुद्ध अकादमिक दृष्टिकोण के आधार पर साम्प्रदायिक अभिनिवेशों से दूर रहकर जैन विद्या के क्षेत्र में शोध-कार्य करने के कारण इसका अपना विशिष्ट स्थान है। आज तक शोधपीठ से 50 से अधिक शोध-छात्र पी-एच.डी. उपाधि प्राप्त कर चुके हैं एवं 22 छात्र इस समय पी-एच.डी. हेतु पंजीकृत हैं। संस्थान द्वारा जैन विद्या का एक वर्षीय स्नातकोत्तर प्रारम्भिक डिप्लोमा एवं द्विवर्षीय स्नातकोत्तर उच्चतर डिप्लोमा पाठ्यक्रम भी चलाया जा रहा है।

यह शोध संस्थान वर्तमान में 25000 पुस्तकों वाले पुस्तकालय, फोटोकॉपीयर, कम्प्यूटर, लेजर प्रिंटर आदि अत्याधुनिक उपकरणों से सुसज्जित है। संस्थान के पास 108'x60' का दो मंजिला भवन, निदेशक आवास, शिक्षक आवास, अतिथिगृह, श्रमण-श्रमणियों तथा छात्र-छात्राओं के लिए आवास की सुविधा से युक्त है।

अपने विकासक्रम में संस्थान मान्य विश्वविद्यालय (Deemed University) बनने की प्रक्रिया में अग्रसर है। मान्य विश्वविद्यालय का प्रस्ताव उ.प्र. शासन द्वारा अनुमोदित होकर विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के पास विचाराधीन है। अनुदान आयोग की विशेषज्ञ समिति नवम्बर के प्रथम सप्ताह में संस्थान का दौरा भी कर चुकी है।

संस्थान अब तक प्राकृत एवं जैन विद्या से सम्बन्धित शोधपूर्ण एवं उच्चस्तरीय 100 ग्रन्थ प्रकाशित कर चुका है। इसके साथ ही 'श्रमण' नामक त्रैमासिक पत्रिका एवं जैन विद्या के आयाम का नियमित प्रकाशन भी संस्थान कर रहा है।

जैन विद्या के आयाम के प्रस्तुत पंचम खण्ड में निम्न विद्वानों के आलेख/शोध-निबन्ध समाहित किये जा रहे हैं-- प्रो. सागरमल जैन, निदेशक, पार्श्वनाथ शोधपीठ; डॉ. नरेन्द्र भानावत, भूतपूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर; प्रो. आर.एन.मेहता, भूतपूर्व अध्यक्ष, प्राचीन इतिहास विभाग, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद; प्रो. ए.के. चटर्जी, इतिहास विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता; डॉ. शैतिकण्ठ मिश्र, भूतपूर्व प्राचार्य, डी.ए.वी. डिग्री कालेज, वाराणसी; डॉ. सुदर्शन लाल जैन, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, का.हि.वि.वि., वाराणसी; डॉ. वशिष्ठनारायण गिन्हा, रीडर, दर्शन विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी; डॉ. फूलचन्द जैन "प्रेमी", अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी; डॉ. अरुण प्रताप सिंह, प्रवक्ता, सिकन्दरपुर महाविद्यालय, सिकन्दरपुर, बलिया; डॉ. अशोक कुमार सिंह प्रवक्ता, पार्श्वनाथ शोधपीठ; डॉ. शिवप्रसाद, शोध-अध्येता, प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, का.हि.वि.वि.; डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय, प्रवक्ता, पार्श्वनाथ शोधपीठ; डॉ. सुभाष कोठारी, शोधार्थिकारी, आगम-अहिंसा, समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर एवं डॉ. संजीव भानावत, प्रवक्ता, पत्रकारिता विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

जैन विद्या के आयाम के पंचम खण्ड के प्रकाशन की बेला में हम इन सभी विद्वानों के आभारी हैं। उनके इन विद्वत्तापूर्ण आलेखों से इस ग्रन्थ की गरिमा में वृद्धि हुई है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन में श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सभा, कलकत्ता ने जो 10,000 रुपये का आर्थिक सहयोग दिया है उसके लिये हम उसके प्रति आभारी हैं। साथ ही उपरोक्त प्रस्तुत आलेखों के सम्पादन, प्रूफ संशोधन, कम्पोजिंग और मुद्रण सम्बन्धी व्यवस्थाओं के लिए संस्थान के निदेशक, प्रो. सागरमल जैन, प्रवक्ता, डॉ. अशोक कुमार सिंह और डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय ने जो

सहयोग दिया है उसके लिए हम उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं और इस ग्रन्थ के कम्पोजिंग का कार्य श्री बृजेश कुमार श्रीवास्तव ने एवं मुद्रणकार्य "वर्धमान मुद्रणालय" वाराणसी ने सम्पादित किया है एतदर्थ हम इन दोनों के प्रति भी अपना आभार व्यक्त करते हैं।

4 नवम्बर, 1994, दीपावली
वाराणसी।

भवदीय,

भूपेन्द्रनाथ जैन, फरीदाबाद
सरदारमल जी कांकरिया, कलकत्ता
भूपराज जी जैन, कलकत्ता

विषय-सूची

		पृष्ठ संख्या
1. सागरमल जैन	: अर्धमागधी आगम साहित्य - एक विमर्श	1
2. सुदर्शन लाल जैन	: जैन आगम और आगमिक व्याख्या साहित्य - एक अध्ययन	38
3. श्रीप्रकाश पाण्डेय	: निर्युक्ति साहित्य - एक परिचय	48
4. अरुण प्रताप सिंह	: मूलाचार में वर्णित आचार नियम : श्वेताम्बर आगम साहित्य के परिप्रेक्ष्य में	60
5. शीतिकण्ठ मिश्र	: हिन्दी मरु-गुर्जर जैन साहित्य का महत्त्व और मूल्य	70
6. संजीव भानावत	: हिन्दी जैन पत्रकारिता का इतिहास एवं मूल्य	82
7. वशिष्ठ नारायण सिन्हा	: अनेकान्त, अहिंसा तथा अपरिग्रह की अवधारणाओं का मूल्यांकन : आधुनिक विश्व समस्याओं के सन्दर्भ में	97
8. अशाक कुमार सिंह	: प्राचीन जैन ग्रन्थों में कर्मसिद्धान्त का विकासक्रम	101
9. शिवप्रसाद	: श्वेताम्बर सम्प्रदाय के गच्छों का सामान्य परिचय	114
10. फूलचन्द जैन "प्रेमी"	: दिगम्बर जैन परम्परा में संघ, गण, गच्छ, कुल और अन्वय	132
11. नरेन्द्र भानावत	: जैनधर्म में अमूर्तिपूजक सम्प्रदायों का उद्भव एवं इतिहास	141
12. सुभाष कोठारी	: श्रावकाचार का मूल्यात्मक विवेचन	151
13. A.K. Chatterjee	: Contribution of Jainism to Indian History	157
14. R.N. Mehata	: Jahangir and Non-Violence	164

अर्धमागधी आगम साहित्य : एक विमर्श

- प्रो. सागरमल जैन^१

भारतीय संस्कृति में अति प्राचीनकाल से ही दो समानान्तर धाराओं की उपस्थिति पाई जाती है-- श्रमणधारा और वैदिकधारा। जैन धर्म और संस्कृति इसी श्रमणधारा का एक अंग है। जहाँ श्रमणधारा निवृत्तिपरक रही, वहाँ वैदिकधारा प्रवृत्तिपरक। जहाँ श्रमणधारा में संन्यास का प्रत्यय प्रमुख बना, वहाँ वैदिकधारा में गृहस्थजीवन। श्रमणधारा ने सांसारिक जीवन की दुःखमयता को अधिक अभिव्यक्ति दी और यह माना कि शरीर आत्मा का बन्धन है और संसार दुःखों का सागर, अतः उसने शरीर और संसार दोनों से ही मुक्ति को अपनी साधना का लक्ष्य माना। उसकी दृष्टि में जैविक एवं सामाजिक मूल्य गौण रहे और अनासक्ति, वैराग्य और आत्मानुभूति के रूप में मोक्ष या निर्वाण को ही सर्वोच्च मूल्य माना गया। इसके विपरीत वैदिकधारा ने सांसारिक जीवन को वरेण्य मानकर जैविक एवं सामाजिक मूल्यों अर्थात् जीवन के रक्षण एवं पोषण के प्रयत्नों के साथ-साथ पारम्परिक सहयोग या सामाजिकता को प्रधानता दी। फलतः वेदों में जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति एवं पारम्परिक सहयोग हेतु प्रार्थनाओं के स्वर अधिक मुखर हुए हैं, यथा -- हम सौ वर्ष जीवें, हमारी सन्तान बलिष्ठ हो, हमारी गायें अधिक दूध दें, वनस्पति एवं अन्न प्रचुर मात्रा में उत्पन्न हों, हममें परस्पर सहयोग हो आदि। ज्ञातव्य है कि वेदों में वैराग्य एवं मोक्ष की अवधारणा अनुपस्थित है, जबकि वह श्रमणधारा का केन्द्रीय तत्त्व है। इस प्रकार ये दोनों धारायें दो भिन्न जीवन-दृष्टियों को लेकर प्रवाहित हुई हैं। परिणामस्वरूप इनके साहित्य में भी इन्हीं भिन्न-भिन्न जीवन-दृष्टियों का प्रतिपादन पाया जाता है।

श्रमण परम्परा के साहित्य में संसार की दुःखमयता को प्रदर्शित कर त्याग और वैराग्यमय जीवन शैली का विकास किया गया, जबकि वैदिक साहित्य में ऐहिक जीवन को अधिक सुखी और समृद्ध बनाने हेतु प्रार्थनाओं की और सामाजिक-व्यवस्था (वर्ण-व्यवस्था) और भौतिक उपलब्धियों के हेतु विविध कर्मकाण्डों की सृजना हुई। प्रारम्भिक वैदिक साहित्य, जिसमें मुख्यतः वेद और ब्राह्मण ग्रन्थ समाहित हैं, में लौकिक जीवन को सुखी और समृद्ध बनाने वाली प्रार्थनाओं और कर्मकाण्डों का ही प्राधान्य है, इसके विपरीत श्रमण परम्परा के प्रारम्भिक साहित्य में संसार की दुःखमयता और क्षणभंगुरता को प्रदर्शित कर उससे वैराग्य और विमुक्ति को ही प्रधानता दी गई है। संक्षेप में श्रमण परम्परा का साहित्य वैराग्य प्रधान है।

श्रमणधारा और उसकी ध्यान और योग साधना की परम्परा के अस्तित्व के संकेत हमें मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की संस्कृति के काल से ही मिलने लगते हैं। यह माना जाता है कि हड़प्पा संस्कृति वैदिक संस्कृति से भी पूर्ववर्ती ही रही है। ऋग्वेद जैसे प्राचीनतम ग्रन्थ में भी द्रव्यों और वातरशना मुनियों के उल्लेख भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं कि उस युग में श्रमणधारा का अस्तित्व था। जहाँ तक इस प्राचीन श्रमण परम्परा के साहित्य का प्रश्न है दुर्भाग्य से वह आज हमें उपलब्ध नहीं है, किन्तु वेदों में उस प्रकार की जीवन दृष्टि की उपस्थिति के संकेत यह अवश्य सूचित करते हैं कि उनका अपना कोई साहित्य भी रहा होगा, जो कालक्रम में लुप्त हो गया। आज आत्मसाधना प्रधान निवृत्तिमूलक श्रमणधारा के साहित्य का सबसे प्राचीन अंश यदि कहीं उपलब्ध है, तो वह औपनिषदिक साहित्य में है। प्राचीन उपनिषदों में न केवल वैदिक कर्म-काण्डों और भौतिकवादी जीवन-दृष्टि की आलोचना की गई है, अपितु आध्यात्मिक मूल्यों के अधिष्ठान आत्मतत्त्व की सर्वोपरिता भी प्रतिष्ठित की

गयी है। आज यह सबसे बड़ी भ्रान्ति है कि हम उपनिषदों को वैदिकधारा के प्रतिनिधि ग्रन्थ मानते हैं, किन्तु उनमें वैदिक कर्मकाण्डों की स्पष्ट आलोचना के जो स्वर मुखरित हुए हैं और तप-त्याग प्रधान आध्यात्मिक मूल्यों की जो प्रतिष्ठा हुई है, वह स्पष्टतया इस तथ्य का प्रमाण है कि वे मूलतः श्रमण जीवन-दृष्टि के प्रस्तोता हैं।

यह सत्य है कि उपनिषदों में वैदिकधारा के भी कुछ संकेत उपलब्ध हैं किन्तु यह नहीं भूलना चाहिये कि उपनिषदों की मूलभूत जीवन दृष्टि वैदिक नहीं, श्रमण है। वे उस युग की रचना हैं, जब वैदिकों द्वारा श्रमण संस्कृति के जीवन मूल्यों को स्वीकृत किया जा रहा था। वे वैदिक संस्कृति और श्रमण संस्कृति के समन्वय की कहानी कहते हैं। ईशावास्योपनिषद् में समन्वय का यह प्रयत्न स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। उसमें त्याग और भोग, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति, कर्म और कर्म-संन्यास, व्यक्ति और समष्टि, अविद्या (भौतिक ज्ञान) और विद्या (आध्यात्मिक ज्ञान) के मध्य एक सुन्दर समन्वय स्थापित किया गया है।

उपनिषदों का पूर्ववर्ती एवं समसामयिक श्रमण परम्परा का जो अधिकांश साहित्य था, वह श्रमण परम्परा की अन्य धाराओं के जीवित न रह पाने या उनके बृहद् हिन्दू परम्परा में समाहित हो जाने के कारण या तो विलुप्त हो गया था या फिर दूसरी जीवित श्रमण परम्पराओं के द्वारा अथवा बृहद् हिन्दू परम्परा के द्वारा आत्मसात कर लिया गया। किन्तु उसके अस्तित्व के संकेत एवं अवशेष आज भी औपनिषदिक साहित्य, पालित्रिपिटक और जैनागमों में सुरक्षित हैं। प्राचीन आरण्यकों, उपनिषदों, आचारांग (प्रथम श्रुतस्कन्ध), सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, इसिभासियाइ, धेरगाथा, सुत्तनिपात और महाभारत में इन विलुप्त या समाहित श्रमण परम्पराओं के अनेक ऋषियों के उपदेश आज भी पाये जाते हैं। इसिभासियाइ, सूत्रकृतांग और उत्तराध्ययन में उल्लिखित याज्ञवल्क्य, नारद, असितदेवल, कपिल, पाराशर, आरुणि, उद्दालक, नमि, बाहुक, रामपुत्र आदि ऋषि वे ही हैं, जिनमें से अनेक के उपदेश एवं आख्यान उपनिषदों एवं महाभारत में भी सुरक्षित हैं। जैन परम्परा में ऋषिभाषित में इन्हें अर्हत् ऋषि एवं सूत्रकृतांग में सिद्धि को प्राप्त तपोधन महापुरुष कहा गया है और उन्हें अपनी पूर्व परम्परा से सम्बद्ध बनाया गया है। पालित्रिपिटक के दीघनिकाय के सामञ्जस्यसुत्त में भी बुद्ध के समकालीन छह तीर्थंकरों -- अजितकेशकम्बल, प्रकुधकात्यायन, पूर्णकश्यप, संजयवेलटिठपुत्त, मंखन्निगोशालक एवं निगंठनातपुत्त की मान्यताओं का निर्देश हुआ है, फिर चाहे उन्हें विकृत रूप में ही प्रस्तुत क्यों न किया गया हो। इसी प्रकार के धेरगाथा, सुत्तनिपात आदि के अनेक धेर (स्थविर) भी प्राचीन श्रमण परम्पराओं से सम्बन्धित रहे हैं। इस सबसे भारत में श्रमणधारा के प्राचीनकाल में अस्तित्व की सूचना मिल जाती है। पद्मभूषण पं. दलसुखभाई मालवणिया ने पालित्रिपिटक में अजित, अरक और अरनेमि नामक तीर्थंकरों के उल्लेख को भी खोज निकाला है। ज्ञातव्य है कि उसमें इन्हें "तित्थकरो कामेसु वीतरागो" कहा गया है-- चाहे हम यह मानें या न मानें कि इनकी संगति जैन परम्परा के अजित, अरह और अरिष्टनेमि नामक तीर्थंकरों से हो सकती है-- किन्तु इतना तो मानना ही होगा कि ये सभी उल्लेख श्रमणधारा के अतिप्राचीन अस्तित्व को ही सूचित करते हैं।

वैदिक साहित्य और जैनागम

वैदिक साहित्य में वेद प्राचीनतम है। वेदों के सन्दर्भ में भारतीय दर्शनों में दो प्रकार की मान्यताएँ उल्लिखित हैं। मीमांसकदर्शन के अनुसार वेद अपौरुषेय है अर्थात् किसी व्यक्ति विशेष द्वारा निर्मित नहीं है। उनके अनुसार वेद अनादि-निधन है, शाश्वत है, न तो उनका कोई रचयिता है और नहीं रचनाकाल। नैयायिकों की मान्यता इससे भिन्न है, वे वेद-वचनों को ईश्वर-सृष्ट मानते हैं। उनके अनुसार वेद अपौरुषेय नहीं, अपितु ईश्वरकृत हैं। ईश्वरकृत होते हुए भी ईश्वर के अनादि-निधन होने से वेद भी अनादि-निधन माने जा सकते हैं, किन्तु जब उन्हें

ईश्वरसृष्ट मान लिया गया है, तो फिर अनादि कहना उचित नहीं है, क्योंकि ईश्वर की अपेक्षा से तो वे सादि ही होंगे।

जहाँ तक जैनागमों का प्रश्न है उन्हें अर्थ-रूप में अर्थात् कथ्य-विषय-वस्तु की अपेक्षा से तीर्थकरों के द्वारा उपदिष्ट माना जाता है। इस दृष्टि से वे अपौरुषेय नहीं हैं। वे अर्थ-रूप में तीर्थकरों द्वारा उपदिष्ट और शब्द-रूप में गणधरों द्वारा रचित माने जाते हैं, किन्तु यह बात भी केवल अंग आगमों के सन्दर्भ में है। अंगबाह्य आगम ग्रन्थ तो विभिन्न स्थविरों और पूर्वधर-आचार्यों की कृति माने ही जाते हैं। इस प्रकार जैन आगम पौरुषेय (पुरुषकृत) हैं और काल विशेष में निर्मित हैं।

किन्तु जैन आचार्यों ने एक अन्य अपेक्षा से विचार करते हुए अंग आगमों को शाश्वत भी कहा है। उनके इस कथन का आधार यह है कि तीर्थकरों की परम्परा तो अनादिकाल से चली आ रही है और अनन्तकाल तक चलेगी, कोई भी काल ऐसा नहीं, जिसमें तीर्थकर नहीं होते हैं। अतः इस दृष्टि से जैन आगम भी अनादि-अनन्त सिद्ध होते हैं। जैन मान्यता के अनुसार तीर्थकर भिन्न-भिन्न आत्माएँ होती हैं किन्तु उनके उपदेशों में समानता होती है और उनके समान उपदेशों के आधार पर रचित ग्रन्थ भी समान ही होते हैं। इसी अपेक्षा से नन्दीसूत्र में आगमों को अनादि-निधन भी कहा गया है। तीर्थकरों के कथन में चाहे शब्द-रूप में भिन्नता हो, किन्तु अर्थ-रूप में भिन्नता नहीं होती है। अतः अर्थ या कथ्य की दृष्टि से यह एकरूपता ही जैनागमों को प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त सिद्ध करती है। नन्दीसूत्र (सूत्र 58) में कहा गया है कि "यह जो द्वादश-अंग या गणिपिटक है-- वह ऐसा नहीं है कि यह कभी नहीं था, कभी नहीं रहेगा और न कभी होगा। यह सदैव था, सदैव है और सदैव रहेगा। यह ध्रुव, नित्य, शाश्वत, अक्षय, अवस्थित और नित्य है।" इस प्रकार जैन चिन्तक एक ओर प्रत्येक तीर्थकर के उपदेश के आधार पर उनके प्रमुख शिष्यों के द्वारा शब्द-रूप में आगमों की रचना होने की अवधारणा को स्वीकार करते हैं तो दूसरी ओर अर्थ या कथ्य की दृष्टि से समरूपता के आधार पर यह भी स्वीकार करते हैं कि अर्थ-रूप से जिन-वाणी सदैव थी और सदैव रहेगी। वह कभी भी नष्ट नहीं होती है। विचार की अपेक्षा से आगमों की शाश्वतता और नित्यता मान्य करते हुए भी जैन परम्परा उन्हें शब्द-रूप से सृष्ट और विच्छिन्न होने वाला भी मानती है। अनेकान्त की भाषा में कहें तो तीर्थकर की अनवरत परम्परा की दृष्टि से आगम शाश्वत और नित्य है, जबकि तीर्थकर विशेष की शासन की अपेक्षा से वे सृष्ट एवं अनित्य हैं।

वैदिक साहित्य और जैनागमों में दूसरा महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि वेदों के अध्ययन में सदैव ही शब्द-रूप को महत्त्व दिया गया और यह माना गया कि शब्द-रूप में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए। चाहे उसका अर्थ स्पष्ट हो या न हो। इसके विपरीत जैन परम्परा में तीर्थकरों को अर्थ का प्रवक्ता माना गया और इसलिए इस बात पर बल दिया गया कि चाहे आगमों में शब्द-रूप में भिन्नता हो जाय किन्तु उनमें अर्थ-भेद नहीं होना चाहिए। यही कारण था कि शब्द-रूप की इस अपेक्षा के कारण परवर्तीकाल में आगमों में अनेक भाषिक परिवर्तन हुए और आगम पाठों की एकरूपता नहीं रह सकी। यद्यपि विभिन्न संगीतियों के माध्यम से एकरूपता बनाने का प्रयास हुआ लेकिन उसमें पूर्ण सफलता नहीं मिल सकी। यद्यपि यह शब्द-रूप परिवर्तन भी आगे निर्बाध रूप से न चले इसलिए एक ओर उन्हें लिपिबद्ध करने का प्रयास हुआ तो दूसरी ओर आगमों में पद, अक्षर, अनुस्वार आदि में परिवर्तन करना भी महापाप बताया गया। इस प्रकार यद्यपि आगमों के भाषागत स्वरूप को स्थिरता तो प्रदान की गयी, फिर भी शब्द की अपेक्षा अर्थ पर अधिक बल दिये जाने के कारण जैनागमों का स्वरूप पूर्णतया अपरिवर्तित नहीं रह सका, जबकि वेद शब्द-रूप में अपरिवर्तित रहे। आज भी उनमें ऐसी अनेक ऋचायें हैं-- जिनका कोई अर्थ नहीं निकलता है (अनर्थकारि मन्त्राः)। इस प्रकार वेद शब्द-प्रधान है जबकि जैन आगम अर्थ-प्रधान है।

वेद और जैनागमों में तीसरी भिन्नता उनकी विषय-वस्तु की अपेक्षा से भी है। वेदों में भौतिक उपलब्धियों हेतु प्राकृतिक शक्तियों के प्रति प्रार्थनाएँ ही प्रधान रूप से देखी जाती हैं, साथ ही कुछ खगोल-भूगोल सम्बन्धी विवरण और कथाएँ भी हैं। जबकि जैन अर्धमागधी आगम साहित्य में आध्यात्मिक एवं वैराग्यपरक उपदेशों के द्वारा मन, इन्द्रिय और वासनाओं पर विजय पाने के निर्देश दिये गये हैं। इसके साथ-साथ उसमें मुनि एवं गृहस्थ के आचार सम्बन्धी विधि-निषेध प्रमुखता से वर्णित हैं तथा तप-साधना और कर्म-फल विषयक कुछ कथाएँ भी हैं। खगोल-भूगोल सम्बन्धी चर्चा भी जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थों में है। जहाँ तक जैनदर्शन का प्रश्न है उसका प्रारम्भिक रूप ही अर्धमागधी आगमों में उपलब्ध होता है।

वैदिक साहित्य में वेदों के पश्चात् क्रमशः ब्राह्मण-ग्रन्थों, आरण्यकों और उपनिषदों का क्रम आता है। इनमें ब्राह्मण ग्रन्थ मुख्यतः यज्ञ-याग सम्बन्धी कर्मकाण्डों का विवरण प्रस्तुत करते हैं। अतः उनकी शैली और विषय-वस्तु दोनों ही अर्धमागधी आगम साहित्य से भिन्न हैं। आरण्यकों के सम्बन्ध में मैं अभी तक सम्यक् अध्ययन नहीं कर पाया हूँ अतः उनसे अर्धमागधी आगम साहित्य की तुलना कर पाना मेरे लिये सम्भव नहीं है। किन्तु आरण्यकों में वैराग्य, निवृत्ति एवं वानप्रस्थ जीवन के अनेक तथ्यों के उल्लेख होने से विशेष तुलनात्मक अध्ययन द्वारा उनमें और जैन आगमों में समरूपता को खोजा जा सकता है।

जहाँ तक उपनिषदों का प्रश्न है उपनिषदों के अनेक अंश आचारांग, इसिभासियाइ आदि प्राचीन अर्धमागधी आगम साहित्य में भी यथावत् उपलब्ध होते हैं। याज्ञवल्क्य, नारद, कपिल, असितदेवल, अरुण, उद्दालक, पाराशर आदि अनेक औपनिषदिक ऋषियों के उल्लेख एवं उपदेश इसिभासियाइ, आचारांग, सूत्रकृतांग एवं उत्तराध्ययन में उपलब्ध हैं। इसिभासियाइ में याज्ञवल्क्य का उपदेश उसी रूप में वर्णित है, जैसा वह उपनिषदों में मिलता है। उत्तराध्ययन के अनेक आख्यान, उपदेश एवं कथाएँ मात्र नाम-भेद के साथ महाभारत में भी उपलब्ध हैं। प्रस्तुत प्रसंग में विस्तारभय से वह सब तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है। इनके तुलनात्मक अध्ययन हेतु इच्छुक पाठकों को इसिभासियाइ की मेरी भूमिका एवं जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन खण्ड 1 एवं 2 देखने की अनुशंसा करके इस चर्चा को यहीं विराम देता हूँ।

पालित्रिपिटक और जैनागम

पालित्रिपिटक और जैनागम अपने उद्भव स्रोत की अपेक्षा से समकालिक कहे जा सकते हैं, क्योंकि पालित्रिपिटक के प्रवक्ता भगवान बुद्ध और जैनागमों के प्रवक्ता भगवान महावीर समकालिक ही हैं। इसलिए दोनों के प्रारम्भिक ग्रन्थों का रचनाकाल भी समसामयिक है। दूसरे जैन परम्परा और बौद्ध परम्परा दोनों ही भारतीय संस्कृति की श्रमणधारा के अंग हैं अतः दोनों की मूलभूत जीवन-दृष्टि एक ही है। इस तथ्य की पुष्टि जैनागमों और पालित्रिपिटक के तुलनात्मक अध्ययन से हो जाती है। दोनों परम्पराओं में समान रूप से निवृत्तिपरक जीवन-दृष्टि को अपनाया गया है और सदाचार एवं नैतिकता की प्रस्थापना के प्रयत्न किये गये हैं, अतः विषय-वस्तु की दृष्टि से भी दोनों ही परम्पराओं के साहित्य में समानता है। उत्तराध्ययन, दशवैकालिक एवं कुछ प्रकीर्णकों की अनेक गाथाएँ, सुत्तनिपात, धम्मपद आदि में मिल जाती हैं। किन्तु जहाँ तक दोनों के दर्शन एवं आचार नियमों का प्रश्न है, वहाँ स्पष्ट अन्तर भी देखा जाता है। क्योंकि जहाँ भगवान बुद्ध आचार के क्षेत्र में मध्यममार्गीय थे, वहाँ महावीर तप, त्याग और तितिक्षा पर अधिक बल दे रहे थे। इस प्रकार आचार के क्षेत्र में दोनों की दृष्टियाँ भिन्न थीं। यद्यपि विचार के क्षेत्र में महावीर और बुद्ध दोनों ही एकान्तवाद के समालोचक थे,

किन्तु जहाँ बुद्ध ने एकान्तवादों को केवल नकारा, वहाँ महावीर ने उन एकान्तवादों में समन्वय किया। अतः दर्शन के क्षेत्र में बुद्ध की दृष्टि नकारात्मक रही है, जबकि महावीर की सकारात्मक। इस प्रकार दर्शन और आचार के क्षेत्र में दोनों में जो भिन्नता थी, वह उनके साहित्य में भी अभिव्यक्त हुई है। फिर भी सामान्य पाठक की अपेक्षा से दोनों परम्परा के ग्रन्थों में क्षणिकवाद, अनात्मवाद आदि दार्शनिक प्रस्थानों को छोड़कर एकता ही अधिक परिलक्षित होती है।

आगमों का महत्त्व एवं प्रामाणिकता

प्रत्येक धर्म परम्परा में धर्म ग्रन्थ या शास्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है, क्योंकि उस धर्म के दार्शनिक सिद्धान्त और आचार व्यवस्था दोनों के लिए "शास्त्र" ही एक मात्र प्रमाण होता है। हिन्दूधर्म में वेद का, बौद्धधर्म में त्रिपिटक का, पारसीधर्म में अवेस्ता का, ईसाईधर्म में बाइबिल का और इस्लाम में कुरान का, जो स्थान है, वही स्थान जैनधर्म में आगम साहित्य का है। फिर भी आगम साहित्य को न तो वेद के समान अपौरुषेय माना गया है और न बाइबिल या कुरान के समान किसी पैगम्बर के माध्यम से दिया गया ईश्वर का सन्देश ही, अपितु वह उन अर्हतों व ऋषियों की वाणी का संकलन है, जिन्होंने अपनी तपस्या और साधना द्वारा सत्य का प्रकाश प्राप्त किया था। जैनों के लिए आगम जिनवाणी है, आप्तवचन है, उनके धर्म-दर्शन और साधना का आधार है। यद्यपि वर्तमान में जैनधर्म का दिगम्बर सम्प्रदाय उपलब्ध अर्धमागधी आगमों को प्रमाणभूत नहीं मानता है, क्योंकि उसकी दृष्टि में इन आगमों में कुछ ऐसा प्रक्षिप्त अंश है, जो उनकी मान्यताओं के विपरीत है। मेरी दृष्टि में चाहे वर्तमान में उपलब्ध अर्धमागधी आगमों में कुछ प्रक्षिप्त अंश हों या उनमें कुछ परिवर्तन-परिवर्धन भी हुआ हो, फिर भी वे जैनधर्म के प्रामाणिक दस्तावेज हैं। उनमें अनेक ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध हैं। उनकी पूर्णतः अस्वीकृति का अर्थ अपनी प्रामाणिकता को ही नकारना है। श्वेताम्बर मान्य इन अर्धमागधी आगमों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये ई. पू. पाँचवीं शती से लेकर ईसा की पाँचवीं शती अर्थात् लगभग एक हजार वर्ष में जैन संघ के चढ़ाव-उतार की एक प्रामाणिक कहानी कह देते हैं।

अर्धमागधी आगमों का वर्गीकरण

वर्तमान जो आगम ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उन्हें निम्न रूप में वर्गीकृत किया जाता है--

11 अंग

1. आचार (आचारांग), 2. सुयगड (सूत्रकृतांग), 3. ठाण (स्थानांग), 4. समवाय (समवायांग), 5. वियाहपन्नत्ति (व्याख्याप्रज्ञप्ति या भगवती), 6. नायाधम्मकहाओ (ज्ञात-धर्मकथाः), 7. उवासगदसाओ (उपासकदशाः), 8. अंतगडदसाओ (अन्तकृद्दशाः), 9. अनुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरौपपातिकदशाः), 10. पण्हावागरणाइ (प्रश्नव्याकरणानि), 11. विवागसुयं (विपाकश्रुतम्), 12. दृष्टिवाद (दिट्ठिवाय), जो विच्छिन्न हुआ है।

12 उपांग

1. उववाइयं (औपपातिकं), 2. रायपरंणइजं (राजप्रसेनजित्कं) अथवा रायपरंणियं (राजप्रश्नीयं), 3. जीवाजीवाभिगम, 4. पण्णवणा (प्रज्ञापना), 5. सूरपण्णत्ति (सूर्यप्रज्ञप्ति), 6. जम्बुद्वीवपण्णत्ति (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति), 7. चंदपण्णत्ति (चन्द्रप्रज्ञप्ति), 8-12. निरयावलियासुयस्कंध (निरयावलिकाश्रुतस्कंध),

8. निरयावलियाओ (निरयावलिकाः), 9. कप्पवडिसियाओ (कल्पावतंसिकाः), 10. पुष्पियाओ (पुष्पिकाः),
11. पुष्पचूलाओ (पुष्पचूलाः), 12. वण्हदसाओ (वृष्णिदशा)।

जहाँ तक उपर्युक्त अंग और उपांग ग्रन्थों का प्रश्न है। श्वेताम्बर परम्परा के सभी सम्प्रदाय इन्हें मान्य करते हैं। जबकि दिगम्बर सम्प्रदाय इन्हीं ग्यारह अंगसूत्रों को स्वीकार करते हुए भी यह मानता है कि ये अंगसूत्र वर्तमान में विलुप्त हो गये हैं। उपांगसूत्रों के सन्दर्भ में श्वेताम्बर परम्परा के सभी सम्प्रदायों में एक रूपता है, किन्तु दिगम्बर परम्परा में बारह उपांगों की न तो कोई मान्यता रही और न वे वर्तमान में इन ग्रन्थों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। यद्यपि जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, दीपसागरप्रज्ञप्ति आदि नामों से उनके यहाँ कुछ ग्रन्थ अवश्य पाये जाते हैं। साथ ही सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति को भी उनके द्वारा दृष्टिवाद के परिकर्म विभाग के अन्तर्गत स्वीकार किया गया था।

4 मूलसूत्र

सामान्यतया (1) उत्तराध्ययन, (2) दशवैकालिक, (3) आवश्यक और (4) पिण्डनिर्युक्ति -- ये चार मूलसूत्र माने गये हैं। फिर भी मूलसूत्रों की संख्या और नामों के सन्दर्भ में श्वेताम्बर सम्प्रदायों में एकरूपता नहीं है। जहाँ तक उत्तराध्ययन और दशवैकालिक का प्रश्न है इन्हें सभी श्वेताम्बर सम्प्रदायों एवं आचार्यों ने एक मत से मूलसूत्र माना है। समयसुन्दर, भावप्रभसूरि तथा पाशचात्य विद्वानों में प्रो. वेबर, प्रो. वूल्हर, प्रो. सारपेन्टियर, प्रो. विन्टर्नित्ज, प्रो. शूब्रिग आदि ने एक स्वर से आवश्यक को मूलसूत्र माना है, किन्तु स्थानकवासी एवं तेरापन्थी सम्प्रदाय आवश्यक को मूलसूत्र के अन्तर्गत नहीं मानते हैं। ये दोनों सम्प्रदाय आवश्यक एवं पिण्डनिर्युक्ति के स्थान पर नन्दी और अनुयोगद्वार को मूलसूत्र मानते हैं। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में कुछ आचार्यों ने पिण्डनिर्युक्ति के साथ-साथ ओघनिर्युक्ति को भी मूलसूत्र में माना है। इस प्रकार मूलसूत्रों के वर्गीकरण और उनके नामों में एक रूपता का अभाव है। दिगम्बर परम्परा में इन मूलसूत्रों में से दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और आवश्यक मान्य रहे हैं। तत्त्वार्थ की दिगम्बर टीकाओं में, धवला में तथा अंगपण्णत्ति में इनका उल्लेख है। ज्ञातव्य है कि अंगपण्णत्ति में नन्दीसूत्र की भाँति ही आवश्यक के छह विभाग किये गये हैं। यापनीय परम्परा में भी न केवल आवश्यक, उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक मान्य रहे हैं, अपितु यापनीय आचार्य अपराजित (नवीं शती) ने तो दशवैकालिक की टीका भी लिखी थी।

6 छेदसूत्र

छेदसूत्रों के अन्तर्गत वर्तमान में -- 1. आयारदशा (दशाश्रुतस्कन्ध), 2. कप्प (कल्प), 3. व्यवहार (व्यवहार), 4. निसीह (निशीथ), 5. महानिसीह (महानिशीथ) और 6. जीयकप्प (जीतकल्प) ये छह ग्रन्थ माने जाते हैं। इनमें से महानिशीथ और जीतकल्प को श्वेताम्बरों की तेरापन्थी और स्थानकवासी सम्प्रदायें मान्य नहीं करती हैं। वे दोनों मात्र चार ही छेदसूत्र मानते हैं। जबकि श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय उपर्युक्त 6 छेदसूत्रों को मानता है। जहाँ तक दिगम्बर और यापनीय परम्परा का प्रश्न है उनमें अंगबाह्य ग्रन्थों में कल्प, व्यवहार और निशीथ का उल्लेख मिलता है। यापनीय सम्प्रदाय के ग्रन्थों में न केवल इनका उल्लेख मिलता है, अपितु इनके अवतरण भी दिये गये हैं। आश्चर्य यह है कि वर्तमान में दिगम्बर परम्परा में प्रचलित मूलतः यापनीय परम्परा के प्रायश्चित्त सम्बन्धी ग्रन्थ "छेदपिण्डशास्त्र" में कल्प और व्यवहार के प्रमाण्य के साथ-साथ जीतकल्प का भी प्रमाण्य स्वीकार किया गया है। इस प्रकार दिगम्बर एवं यापनीय परम्पराओं में कल्प, व्यवहार, निशीथ और जीतकल्प की मान्यता रही है, यद्यपि वर्तमान में दिगम्बर आचार्य इन्हें मान्य नहीं करते हैं।

10 प्रकीर्णक

इसके अन्तर्गत निम्न दस ग्रन्थ माने जाते हैं --

1. चतुःशरण (चतुःशरण), 2. आउरपच्चाक्खाण (आतुरप्रत्याख्यान), 3. भक्तपरिन्ना (भक्तपरिज्ञा), 4. संस्तारय (संस्तारक), 5. तंदुलवेयालिय (तंदुलवैचारिक), 6. चंदवेज्जय (चन्द्रवेद्यक), 7. देविन्दत्थय (देवेन्द्रस्तव), 8. गणिविज्जा (गणिविद्या), 9. महापच्चाक्खाण (महाप्रत्याख्यान) और 10 वीरत्थय (वीरस्तव)।

श्वेताम्बर सम्प्रदायों में स्थानकवासी और तेरापथी इन प्रकीर्णकों को मान्य नहीं करते हैं। यद्यपि मेरी दृष्टि में इनमें उनकी परम्परा के विरुद्ध ऐसा कुछ भी नहीं है, जिससे इन्हें अमान्य किया जाये। इनमें से 9 प्रकीर्णकों का उल्लेख तो नन्दीसूत्र में मिल जाता है। अतः इन्हें अमान्य करने का कोई औचित्य नहीं है। हमने इसकी विस्तृत चर्चा आगम संस्थान, उदयपुर से प्रकाशित महापच्चाक्खाण की भूमिका में की है। जहाँ तक दस प्रकीर्णकों के नाम आदि का प्रश्न है, श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के आचार्यों में भी किंचित मतभेद पाया जाता है। लगभग 9 नामों में तो एक रूपता है किन्तु भक्तपरिन्ना, मरणविधि और वीरस्तव ये तीन नाम ऐसे हैं जो भिन्न-भिन्न आचार्यों के वर्गीकरण में भिन्न-भिन्न रूप से आये हैं। किसी ने भक्तपरिज्ञा को छोड़कर मरणविधि का उल्लेख किया है तो किसी ने उसके स्थान पर वीरस्तव का उल्लेख किया है। मुनि श्री पुण्यविजयजी ने पङ्णयसुत्ताई, प्रथम भाग की भूमिका में प्रकीर्णक नाम से अभिहित लगभग निम्न 22 ग्रन्थों का उल्लेख किया है इनमें से अधिकांश महावीर विद्यालय से पङ्णयसुत्ताई नाम से 2 भागों में प्रकाशित है। अंगविद्या का प्रकाशन प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी की ओर से हुआ है। ये बाईस प्रकीर्णक निम्न हैं--

1. चतुःशरण, 2. आतुरप्रत्याख्यान, 3. भक्तपरिज्ञा, 4. संस्तारक, 5. तंदुलवैचारिक, 6. चन्द्रवेद्यक, 7. देवेन्द्रस्तव, 8. गणिविज्जा, 9. महाप्रत्याख्यान, 10. वीरस्तव, 11. ऋषिभाषित, 12. अजीवकल्प, 13. गच्छाचार, 14. मरणसमाधि, 15. तित्थोगालिय, 16. आराधनापताका, 17. द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, 18. ज्योतिष्करण्डक, 19. अंगविद्या, 20. सिद्धप्राभृत, 21. सारावली और 22. जीवविभक्ति।

इसके अतिरिक्त एक ही नाम के अनेक प्रकीर्णक भी उपलब्ध होते हैं, यथा-- "आउरपच्चाक्खाण" के नाम से तीन ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। उनमें से एक तो दसवीं शती के आचार्य वीरभद्र की कृति है।

इनमें से नन्दी और पाक्षिकसूत्र के उत्कालिक सूत्रों के वर्ग में देवेन्द्रस्तव, तंदुलवैचारिक, चन्द्रवेद्यक, गणिविद्या, मरणविभक्ति, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान ये सात नाम पाये जाते हैं और कालिकसूत्रों के वर्ग में ऋषिभाषित और द्वीपसागरप्रज्ञप्ति ये दो नाम पाये जाते हैं। इस प्रकार नन्दी एवं पाक्षिकसूत्र में नौ प्रकीर्णकों का उल्लेख मिलता है। ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज के कुछ आचार्य जो 84 आगम मानते हैं, वे प्रकीर्णकों की संख्या 10 के स्थान पर 30 मानते हैं। इसमें पूर्वोक्त 22 नामों के अतिरिक्त निम्न 8 प्रकीर्णक और माने गये हैं -- पिण्डविशुद्धि, पर्यन्तआराधना, योनिप्राभृत, अंगचूलिया, वंगचूलिया, वृद्धचतुःशरण, जम्बूपयन्ना और कल्पसूत्र।

जहाँ तक दिगम्बर परम्परा एवं यापनीय परम्परा का प्रश्न है, वह स्पष्टतः इन प्रकीर्णकों को मान्य नहीं करती हैं, फिर भी मूलाचार में आतुरप्रत्याख्यान और महाप्रत्याख्यान से अनेक गाथायें उसके संक्षिप्त प्रत्याख्यान

और बृहत्-प्रत्याख्यान नामक अध्यायों में अवतरित की गई है। इसी प्रकार भगवतीआराधना में भी मरणविभक्ति, आराधनापताका आदि अनेक प्रकीर्णकों की गाथायें अवतरित हैं। ज्ञातव्य है कि इनमें अंग बाह्यों को प्रकीर्णक कहा गया है।

2 चूलिकासूत्र

चूलिकासूत्र के अन्तर्गत नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वार ये दो ग्रन्थ माने जाते हैं। जैसा कि हम पूर्व में सूचित कर चुके हैं कि स्थानकवासी परम्परा इन्हें चूलिकासूत्र न कहकर मूलसूत्र में वर्गीकृत करती है। फिर भी इतना निश्चित है कि ये दोनों ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परा के सभी सम्प्रदायों को मान्य रहे हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 11 अंग, 12 उपांग, 4 मूल, 6 छेद, 10 प्रकीर्णक, 2 चूलिकासूत्र-- ये 45 आगम श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में मान्य हैं। स्थानकवासी व तेरापन्थी इसमें से 10 प्रकीर्णक, जीतकल्प, महानिशीथ और पिण्डनिर्द्युक्ति -- इन 13 ग्रन्थों को कम करके 32 आगम मान्य करते हैं।

जो लोग चौरासी आगम मान्य करते हैं वे दस प्रकीर्णकों के स्थान पर पूर्वोक्त तीस प्रकीर्णक मानते हैं। इसके साथ दस निर्द्युक्तियों तथा यतिजीतकल्प, श्राद्धजतिकल्प, पाक्षिकसूत्र, क्षमापनासूत्र, वन्दित्तु, तिथि-प्रकरण, कवचप्रकरण, संशक्तनिर्द्युक्ति और विशेषावश्यकभाष्य को भी आगमों में सम्मिलित करते हैं।

इस प्रकार वर्तमानकाल में अर्धमागधी आगम साहित्य को अंग, उपांग, प्रकीर्णक, छेद, मूल और चूलिकासूत्र के रूप में वर्गीकृत किया जाता है, किन्तु यह वर्गीकरण पर्याप्त परवर्ती है। 12वीं शती से पूर्व के ग्रन्थों में इस प्रकार के वर्गीकरण का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता है। वर्गीकरण की यह शैली सर्वप्रथम हमें आचार्य श्रीचन्द्र की "सुखबोधासमाचारी" (ई.सन्.1112) में आंशिक रूप से उपलब्ध होती है। इसमें आगम साहित्य के अध्ययन का जो क्रम दिया गया है उससे केवल इतना ही प्रतिफलित होता है कि अंग, उपांग आदि की अवधारणा उस युग में बन चुकी थी। किन्तु वर्तमानकाल में जिस प्रकार से वर्गीकरण किया जाता है, वैसा वर्गीकरण उस समय तक भी पूर्ण रूप से निर्धारित नहीं हुआ था। उसमें मात्र अंग, उपांग, प्रकीर्णक इतने ही नाम मिलते हैं। विशेषता यह है कि उसमें नन्दीसूत्र व अनुयोगद्वारसूत्र को भी प्रकीर्णकों में सम्मिलित किया गया है। सुखबोधासमाचारी का यह विवरण मुख्य रूप से तो आगम ग्रन्थों के अध्ययन-क्रम को ही सूचित करता है। इसमें मुनि जीवन सम्बन्धी आचार नियमों के प्रतिपादक आगम ग्रन्थों के अध्ययन को प्राथमिकता दी गयी है और सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन बौद्धिक परिपक्वता के पश्चात् हो ऐसी व्यवस्था की गई है।

इसी दृष्टि से एक अन्य विवरण जिनप्रभ ने अपने ग्रन्थ विधिमार्गप्रपा में दिया है। इसमें वर्तमान में उल्लिखित आगमों के नाम तो मिल जाते हैं, किन्तु कौन आगम किस वर्ग का है यह उल्लेख नहीं है। मात्र प्रत्येक वर्ग के आगमों के नाम एक साथ आने के कारण यह विश्वास किया जा सकता है कि उस समय तक चाहे अंग, उपांग आदि का वर्तमान वर्गीकरण पूर्णतः स्थिर न हुआ हो, किन्तु जैसा पद्मभूषण पं. दलसुखभाई का कथन है कि कौन ग्रन्थ किसके साथ उल्लिखित होना चाहिए ऐसा एक क्रम बन गया था, क्योंकि उसमें अंग, उपांग, छेद, मूल, प्रकीर्णक एवं चूलिकासूत्रों के नाम एक ही साथ मिलते हैं। विधिमार्गप्रपा में अंग, उपांग ग्रन्थों का पारस्परिक सम्बन्ध भी निश्चित किया गया था। मात्र यही नहीं एक मतान्तर का उल्लेख करते हुए उसमें यह भी बताया गया है कि कुछ आचार्य चन्द्रप्रज्ञप्ति एवं सूर्यप्रज्ञप्ति को भगवती का उपांग मानते हैं। जिनप्रभ ने इस ग्रन्थ में सर्वप्रथम वाचनाविधि के प्रारम्भ में अंग, उपांग, प्रकीर्णक, छेद और मूल इन वर्गों का उल्लेख किया है। उन्होंने विधिमार्गप्रपा को ई. सन् 1306 में पूर्ण किया था, अतः यह माना जा सकता है कि इसके आस-पास ही आगमों का वर्तमान

वर्गीकरण प्रचलन में आया होगा।

आगमों के वर्गीकरण की प्राचीन शैली

अर्धमागधी आगम साहित्य के वर्गीकरण की प्राचीन शैली इससे भिन्न रही है। इस प्राचीन शैली का सर्वप्रथम निर्देश हमें नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र (ईस्वी सन् पाँचवीं शती) में मिलता है। उस युग में आगमों को अंगप्रविष्ट व अंगबाह्य-- इन दो भागों में विभक्त किया जाता था। अंगप्रविष्ट के अन्तर्गत आचारांग आदि 12 अंग ग्रन्थ आते थे। शेष ग्रन्थ अंगबाह्य कहे जाते थे। उसमें अंगबाह्यों की एक संज्ञा प्रकीर्णक भी थी। अंगप्रज्ञप्ति नामक दिगम्बर ग्रन्थ में भी अंगबाह्यों को प्रकीर्णक कहा गया है। अंगबाह्य को पुनः दो भागों में बाँटा जाता था-- 1. आवश्यक और 2. आवश्यक-व्यतिरिक्त। आवश्यक के अन्तर्गत सामायिक आदि छः ग्रन्थ थे। ज्ञातव्य है कि वर्तमान वर्गीकरण में आवश्यक को एक ही ग्रन्थ माना जाता है और सामायिक आदि 6 आवश्यक अंगों को उसके एक-एक अध्याय रूप में माना जाता है, किन्तु प्राचीनकाल में इन्हें छह स्वतन्त्र ग्रन्थ माना जाता था। इसकी पुष्टि अंगपण्णत्ति आदि दिगम्बर ग्रन्थों से भी हो जाती है। उनमें भी सामायिक आदि को छह स्वतन्त्र ग्रन्थ माना गया है। यद्यपि उसमें कायोत्सर्ग एवं प्रत्याख्यान के स्थानपर वैनयिक एवं कृतिकर्म नाम मिलते हैं। आवश्यक-व्यतिरिक्त के भी दो भाग किये जाते थे-- 1. कालिक और 2. उत्कालिक। जिनका स्वाध्याय विकाल को छोड़कर किया जाता था, वे कालिक कहलाते थे, जबकि उत्कालिक ग्रन्थों के अध्ययन या स्वाध्याय में काल एवं विकाल का विचार नहीं किया जाता था। नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र की आगमों के वर्गीकरण की यह सूची निम्नानुसार है--

श्रुत (आगम)

	(क) अंगप्रविष्ट		(ख) अंगबाह्य
1. आचारांग			
2. सूत्रकृतांग	(क) आवश्यक		(ख) आवश्यक व्यतिरिक्त
3. स्थानांग			
4. समवायांग	1. सामायिक		
5. व्याख्याप्रज्ञप्ति	2. चतुर्विंशतिस्तव		
6. ज्ञाताधर्मकथा	3. वन्दना		
7. उपासकदशांग	4. प्रतिक्रमण		
8. अन्तकृत्तदशांग	5. कायोत्सर्ग		
9. अनुत्तरोपपातिकदशांग	6. प्रत्याख्यान		
10. प्रश्नव्याकरण			
11. विपाकसूत्र			
12. दृष्टिवाद			
(क) कालिक			(ख) उत्कालिक
1. उत्तराध्ययन	20. वैश्रमणोपपात	1. दशवैकालिक	16. सूर्यप्रज्ञप्ति
2. दशाश्रुतस्कन्ध	21. वेलन्धरोपपात	2. कल्पिकाकल्पिक	17. पौरुषीमंडल
3. कल्प	22. देवेन्द्रोपपात	3. चुल्लकल्पश्रुत	18. मण्डलप्रवेश
4. व्यवहार	23. उत्थानश्रुत	4. महाकल्पश्रुत	19. विद्याचरण विनिश्चय
5. निशीथ	24. समुत्थानश्रुत	5. औपपातिक	20. गणिविद्या
6. महानिशीथ	25. नागपरिज्ञापनिका	6. राजप्रश्नीय	21. ध्यानविभक्ति
7. ऋषिभाषित	26. निरयावलिका	7. जीवाभिगम	22. मरणविभक्ति
8. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति	27. कल्पिका	8. प्रज्ञापना	23. आत्मविशोधि
9. द्वीपसागरप्रज्ञप्ति	28. कल्पावतंसिका	9. महाप्रज्ञापना	24. वीतरागश्रुत
10. चन्द्रप्रज्ञप्ति	29. पुष्पिता	10. प्रमादाप्रमाद	25. संलेखणाश्रुत
11. क्षुल्लिकाविमान- -प्रविभक्ति	30. पुष्पचूलिका	11. नन्दी	26. विहारकल्प
12. महल्लिकाविमान- -प्रविभक्ति	31. वृष्णिदशा	12. अनुयोगद्वार	27. चरणविधि
13. अंगचूलिका		13. देवेन्द्रस्तव	28. आतुरप्रत्याख्यान
14. वग्गचूलिका		14. तन्दुलवैचारिक	29. महाप्रत्याख्यान
15. विवाहचूलिका		15. चन्द्रवेद्यक	
16. अरुणोपपात			
17. वरुणोपपात			
18. गरुडोपपात			
19. धरुणोपपात			

इस प्रकार नन्दीसूत्र में १२ अंग, ६ आवश्यक, ३१ कालिक एवं २६ उत्कालिक सहित ७८ आगमों का उल्लेख मिलता है। ज्ञातव्य है कि आज इनमें से अनेक ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं।

यापनीय और दिगम्बर परम्परा में आगमों का वर्गीकरण

यापनीय और दिगम्बर परम्पराओं में जैन आगम साहित्य के वर्गीकरण की जो शैली मान्य रही है, वह भी बहुत कुछ नन्दीसूत्र की शैली के ही अनुरूप है। उन्होंने उसे उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र से ग्रहण किया है। उसमें आगमों को अंग और अंगबाह्य ऐसे दो वर्गों में विभाजित किया गया है। इनमें अंगों की बारह संख्या का स्पष्ट उल्लेख तो मिलता है, किन्तु अंगबाह्य की संख्या का स्पष्ट निर्देश नहीं है। मात्र यह कहा गया है अंगबाह्य अनेक प्रकार के हैं। किन्तु अपने तत्त्वार्थभाष्य (1/20) में आचार्य उमास्वाति ने अंग-बाह्य के अन्तर्गत सर्वप्रथम सामायिक आदि छह आवश्यकों का उल्लेख किया है उसके बाद दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, दशा, कल्प-व्यवहार, निशीथ और ऋषिभाषित के नाम देकर अन्त में आदि शब्द से अन्य ग्रन्थों का ग्रहण किया है। किन्तु अंगबाह्य में स्पष्ट नाम तो उन्होंने केवल बारह ही दिये हैं। इसमें कल्प-व्यवहार का एकीकरण किया गया है। एक अन्य सूचना से यह भी ज्ञात होता है कि तत्त्वार्थभाष्य में उपांग संज्ञा का निर्देश है। हो सकता है कि पहले 12 अंगों के समान यही 12 उपांग माने जाते हों। तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकार पूज्यपाद, अकलंक, विद्यानन्दी आदि दिगम्बर आचार्यों ने अंगबाह्य में न केवल उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि ग्रन्थों का उल्लेख किया है, अपितु कालिक एवं उत्कालिक ऐसे वर्गों का भी नाम निर्देश (1/20) किया है। हरिवंशपुराण एवं धवलाटीका में आगमों का जो वर्गीकरण उपलब्ध होता है उसमें 12 अंगों एवं 14 अंगबाह्यों का उल्लेख है। उसमें भी अंगबाह्यों में सर्वप्रथम छह आवश्यकों का उल्लेख है, तत्पश्चात् दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प-व्यवहार, कप्पाकप्पीय, महाकप्पीय, पुण्डरीक, महापुण्डरीक व निशीथ का उल्लेख है। इस प्रकार धवला में 12 अंग और 14 अंगबाह्यों की गणना की गयी। इसमें भी कल्प और व्यवहार को एक ही ग्रन्थ माना गया है। ज्ञातव्य है कि तत्त्वार्थभाष्य की अपेक्षा इसमें कप्पाकप्पीय (कल्पिकाकल्पिक), महाकप्पीय (महाकल्प), पुण्डरीक और महापुण्डरीक-- ये चार नाम अधिक हैं। किन्तु भाष्य में उल्लिखित दशा और ऋषिभाषित को छोड़ दिया गया है। इसमें जो चार नाम अधिक हैं-- उनमें कप्पाकप्पीय और महाकप्पीय का उल्लेख नन्दीसूत्र में भी है, मात्र पुण्डरीक और महापुण्डरीक ये दो नाम विशेष हैं।

दिगम्बर परम्परा में आचार्य शुभचन्द्र कृत अंगप्रज्ञप्ति (अंगपण्णत्ति) नामक एक ग्रन्थ मिलता है। यह ग्रन्थ धवलाटीका के पश्चात् का प्रतीत होता है। इसमें धवलाटीका में वर्णित 12 अंगप्रविष्ट व 14 अंगबाह्य ग्रन्थों की विषय-वस्तु का विवरण दिया गया है। यद्यपि इसमें अंगबाह्य ग्रन्थों की विषय-वस्तु का विवरण संक्षिप्त ही है। इस ग्रन्थ में और दिगम्बर परम्परा के अन्य ग्रन्थों में अंग बाह्यों को प्रकीर्णक भी कहा गया है (3.10)। इसमें कहा गया है कि सामायिक प्रमुख 14 प्रकीर्णक अंगबाह्य है। इसमें दिये गये विषय-वस्तु के विवरण से लगता है कि यह विवरण मात्र अनुश्रुति के आधार पर लिखा गया है, मूल ग्रन्थों को लेखक ने नहीं देखा है, इसमें भी पुण्डरीक और महापुण्डरीक का उल्लेख है। इन दोनों ग्रन्थों का उल्लेख श्वेताम्बर परम्परा में मुझे कहीं नहीं मिला। यद्यपि श्वेताम्बर परम्परा के सूत्रकृतांग में एक अध्ययन का नाम पुण्डरीक अवश्य मिलता है। प्रकीर्णकों में एक सारावली प्रकीर्णक है। इसमें पुण्डरीक महातीर्थ (शत्रुंजय) की महत्ता का विस्तृत विवरण है। सम्भव है कि पुण्डरीक सारावली प्रकीर्णक का ही यह दूसरा नाम हो। फिर भी स्पष्ट प्रमाण के अभाव में इस सम्बन्ध में अधिक कुछ कहना उचित नहीं होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रथम शती से लेकर दसवीं शती तक आगमों को नन्दीसूत्र की शैली में अंग और अंगबाह्य -- पुनः अंग बाह्यों को आवश्यक और आवश्यक-व्यतिरिक्त ऐसे दो विभागों में बाँटा जाता था। आवश्यक-व्यतिरिक्त में भी कालिक और उत्कालिक ऐसे दो विभाग सर्वमान्य थे। लगभग ग्यारहवीं-बारहवीं शती के बाद से अंग, उपांग, प्रकीर्णक, छेद, मूल और चूलिकासूत्र यह वर्तमान वर्गीकरण अस्तित्व में आया है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं में सभी अंगबाह्य आगमों के लिए प्रकीर्णक (पङ्णय) नाम भी प्रचलित रहा है।

अर्धमागधी आगम साहित्य की प्राचीनता एवं उनका रचनाकाल

भारत जैसे विशाल देश में अनिप्राचीनकाल से ही अनेक बोलियों का अस्तित्व रहा है, किन्तु साहित्यिक दृष्टि से भारत में तीन प्राचीन भाषाएँ प्रचलित रही हैं -- संस्कृत, प्राकृत और पालि। इनमें संस्कृत के दो रूप पाये जाते हैं-- छान्दस् और साहित्यिक संस्कृत। वेद छान्दस् संस्कृत में है, जो पालि और प्राकृत के निकट है। उपनिषदों की भाषा छान्दस् की अपेक्षा साहित्यिक संस्कृत के अधिक निकट है। प्राकृत भाषा में निबद्ध जो साहित्य उपलब्ध है, उसमें अर्धमागधी आगम साहित्य प्राचीनतम है। यहाँ तक कि आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध और ऋषिभाषित तो अशोककालीन प्राकृत अभिलेखों से भी प्राचीन है। ये दोनों ग्रन्थ लगभग ई.पू. पाँचवीं-चौथी शताब्दी की रचनाएँ हैं। आचारांग की सूत्रात्मक औपनिषदिक शैली उसे उपनिषदों का निकटवर्ती और स्वयं भगवान महावीर की वाणी सिद्ध करती है। भाव, भाषा और शैली तीनों के आधार पर यह सम्पूर्ण पालि और प्राकृत साहित्य में प्राचीनतम है। आत्मा के स्वरूप एवं अस्तित्व सम्बन्धी इसके विवरण औपनिषदिक विवरणों के अनुरूप हैं। इसमें प्रतिपादित महावीर का जीवनवृत्त भी अलौकिकता और अतिशयता रहित है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह विवरण भी उसी व्यक्ति द्वारा कहा गया है, जिसने स्वयं उनकी जीवनचर्या को निकटता से देखा और जाना होगा। अर्धमागधी आगम साहित्य में ही सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के छठें अध्याय, आचारांगचूला और कल्पसूत्र में भी महावीर की जीवनचर्या का उल्लेख है, किन्तु वे भी अपेक्षाकृत रूप में आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की अपेक्षा परवर्ती हैं, क्योंकि उनमें क्रमशः अलौकिकता, अतिशयता और अतिरंजना का प्रवेश होता गया है। इसी प्रकार ऋषिभाषित की साम्प्रदायिक अभिनिवेश से रहित उदारदृष्टि तथा भाव और भाषागत अनेक तथ्य उसे आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को छोड़कर सम्पूर्ण प्राकृत एवं पालिसाहित्य में प्राचीनतम सिद्ध करते हैं। पालिसाहित्य में प्राचीनतम ग्रन्थ सुत्तनिपात माना जाता है, किन्तु अनेक तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि ऋषिभाषित, गुत्तनिपात से भी प्राचीन है। अर्धमागधी आगमों की प्रथम वाचना स्थूलिभद्र के समय अर्थात् ईसा पूर्व तीसरी शती में हुई थी, अतः इतना निश्चित है कि उस समय तक अर्धमागधी आगम साहित्य अस्तित्व में आ चुका था। इंग प्रकार अर्धमागधी आगम साहित्य के कुछ ग्रन्थों के रचनाकाल की उत्तर सीमा ई.पू. पाँचवीं-चौथी शताब्दी सिद्ध होती है, जो कि इस साहित्य की प्राचीनता को प्रमाणित करती है।

फिर भी हमें यह स्मरण रखना होगा कि सम्पूर्ण अर्धमागधी आगम साहित्य न तो एक व्यक्ति की रचना है और न एक काल की। यह सत्य है कि इस साहित्य को अन्तिम रूप वीरनिर्वाण सम्वत् 980 में वल्लभी में सम्पन्न हुई वाचना में प्राप्त हुआ। किन्तु इस आधार पर हमारे कुछ विद्वान मित्र यह गलत निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि अर्धमागधी आगम साहित्य ईरवी सन् की पाँचवी शताब्दी की रचना है। यदि अर्धमागधी आगम ईसा की पाँचवी शती की रचना है, तो वल्लभी की इस अन्तिम वाचना के पूर्व भी वल्लभी, मथुरा, खण्डगिरि और पाटलीपुत्र में जो वाचनायेँ हुई थीं उनमें संकलित साहित्य कौन सा था ? उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि वल्लभी

में आगमों को संकलित, सुव्यवस्थित और सम्पादित करके लिपिबद्ध (पुस्तकारुद्ध) किया गया था, अतः यह किसी भी स्थिति में उनका रचना काल नहीं माना जा सकता है। संकलन और सम्पादन का अर्थ रचना नहीं है। पुनः आगमों में विषय-वस्तु, भाषा और शैली की जो विविधता और भिन्नता परिलक्षित होती है, वह स्पष्टतया इस तथ्य की प्रमाण है कि संकलन और सम्पादन के समय उनकी मौलिकता को यथावत रखने का प्रयत्न किया गया है, अन्यथा आज उनका प्राचीन स्वरूप समाप्त ही हो जाता और आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की भाषा और शैली भी परिवर्तित हो जाती तथा उसके उपघानश्रुत नामक नवें अध्ययन में वर्णित महावीर का जीवनवृत्त अलौकिकता एवं अतिशयों से युक्त बन जाता। यद्यपि यह सत्य है कि आगमों की विषय-वस्तु में कुछ प्रक्षिप्त अंश हैं, किन्तु प्रथम तो ऐसे प्रक्षेप बहुत ही कम हैं और दूसरे उन्हें स्पष्ट रूप से पहचाना भी जा सकता है। अतः इस आधार पर सम्पूर्ण अर्धमागधी आगम साहित्य को परवर्ती मान लेना सबसे बड़ी भ्रान्ति होगी।

अर्धमागधी आगम साहित्य पर कभी-कभी महाराष्ट्री प्राकृत के प्रभाव को देखकर भी उसकी प्राचीनता पर संदेह किया जाता है। किन्तु प्राचीन हस्तप्रतों के आधार पर पाठों के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनेक प्राचीन हस्तप्रतों में आज भी उनका "त" श्रुतिप्रधान अर्धमागधी स्वरूप सुरक्षित है। आचारांग के प्रकाशित संस्करणों के अध्ययन से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि परवर्तीकाल में उसमें कितने पाठान्तर हो गये हैं। इस साहित्य पर जो महाराष्ट्री प्रभाव आ गया है वह लिपिकारों और टीकाकारों की अपनी भाषा के प्रभाव के कारण है। उदाहरण के रूप में सूत्रकृतांग का "रामपुत्ते" पाठ चूर्ण में "रामाउत्ते" और शीलांक की टीका में "रामगुत्ते" हो गया। अतः अर्धमागधी आगमों में, महाराष्ट्री प्राकृत के प्रभाव को देखकर उनकी प्राचीनता पर संदेह नहीं करना चाहिये। अर्थात् उन ग्रन्थों की विभिन्न प्रतों एवं निर्युक्ति, भाष्य, चूर्ण और टीकाओं के आधार पर पाठों के प्राचीन स्वरूपों को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करना चाहिये। वस्तुतः अर्धमागधी आगम साहित्य में विभिन्न काल की सामग्री सुरक्षित है। इसकी उत्तर सीमा ई. पू. पाँचवीं-चौथी शताब्दी और निम्न सीमा ई. सन् की पाँचवीं शताब्दी है। वस्तुतः अर्धमागधी आगम साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों का या उनके किसी अंश विशेष का काल निर्धारित करते समय उनमें उपलब्ध सांस्कृतिक सामग्री, दार्शनिक चिन्तन की स्पष्टता एवं गहनता तथा भाषा-शैली आदि सभी पक्षों पर प्रामाणिकता के साथ विचार करना चाहिए। इस दृष्टि से अध्ययन करने पर ही यह स्पष्ट बोध हो सकेगा कि अर्धमागधी आगम साहित्य का कौन सा ग्रन्थ अथवा उसका कौन सा अंश विशेष किस काल की रचना है।

अर्धमागधी आगमों की विषय-वस्तु सम्बन्धी निर्देश श्वेताम्बर परम्परा में हमें स्थानांग, समवायांग, नन्दीसूत्र, नन्दीचूर्ण एवं तत्त्वार्थभाष्य में तथा दिगम्बर परम्परा में तत्त्वार्थ की टीकाओं के साथ-साथ धवला और जयधवला में मिलते हैं। तत्त्वार्थसूत्र की दिगम्बर परम्परा की टीकाओं और धवलादि में उनकी विषय-वस्तु सम्बन्धी निर्देश मात्र अनुश्रुतिपरक है, वे ग्रन्थों के वास्तविक अध्ययन पर आधारित नहीं हैं। उनमें दिया गया विवरण तत्त्वार्थभाष्य एवं परम्परा से प्राप्त सूचनाओं पर आधारित है। जबकि श्वेताम्बर परम्परा में स्थानांग, समवायांग, नन्दी आदि अर्धमागधी आगमों और उनकी व्याख्याओं एवं टीकाओं में उनकी विषय-वस्तु का जो विवरण है वह उन ग्रन्थों के अवलोकन पर आधारित है क्योंकि प्रथम तो इस परम्परा में आगमों के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा आज तक जीवित चली आ रही है। दूसरे आगम ग्रन्थों की विषय-वस्तु में कालक्रम में क्या परिवर्तन हुआ है, इसकी सूचना श्वेताम्बर परम्परा के उपर्युक्त आगम ग्रन्थों से ही प्राप्त हो जाती है। इनके अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि किस काल में किस आगम ग्रन्थ में कौन सी सामग्री जुड़ी और अलग हुई है। आचारांग में आचारचूला और निशीथ के जुड़ने और पुनः निशीथ के अलग होने की घटना, समवायांग और स्थानांग में

समय-समय पर हुए प्रक्षेप, ज्ञाताधर्मकथा के द्वितीय वर्ग में जुड़े हुए अध्याय, प्रश्नव्याकरण की विषय-वस्तु में हुआ सम्पूर्ण परिवर्तन, अन्तकृत्दशा, अनुत्तररूपपातिक एवं विपाक के अध्ययनों में हुए आंशिक परिवर्तन-- इन सबकी प्रामाणिक जानकारी हमें उन विवरणों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन करने से मिल जाती है। इनमें प्रश्नव्याकरण की विषय-वस्तु का परिवर्तन ही ऐसा है, जिसके वर्तमान स्वरूप की सूचना केवल नन्दीचूर्णि (ईस्वी सन् सातवीं शती) में मिलती है। वर्तमान प्रश्नव्याकरण लगभग ईस्वी सन् की पाँचवीं-छठीं शताब्दी में अस्तित्व में आया है। इस प्रकार अर्धमागधी आगम साहित्य लगभग एक सहस्र वर्ष की सुदीर्घ अवधि में किस प्रकार निर्मित, परिवर्धित, परिवर्तित एवं सम्पादित होता रहा है इसकी सूचना भी स्वयं अर्धमागधी आगम साहित्य और उसकी टीकाओं से मिल जाती है।

वस्तुतः अर्धमागधी आगम विशेष या उसके अंश विशेष के रचनाकाल का निर्धारण एक जटिल समस्या है, इस सम्बन्ध में विषय-वस्तु सम्बन्धी विवरण, विचारों का विकासक्रम, भाषा-शैली आदि अनेक दृष्टियों से निर्णय करना होता है। उदाहरण के रूप में स्थानांग में सात निहूनवों और नौ गणों का उल्लेख मिलता है जो कि वीरनिर्वाण सं. 584 तक अस्तित्व में आ चुके थे। किन्तु उसमें बोटिकों एवं उन परवर्ती गणों, कुलों और शाखाओं के उल्लेख नहीं है, जो वीरनिर्वाण सं. 609 अथवा उसके बाद अस्तित्व में आये, अतः विषय-वस्तु की दृष्टि से स्थानांग के रचनाकाल की अन्तिम सीमा वीरनिर्वाण सम्वत् 609 के पूर्व अर्थात् ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी का उत्तरार्ध या द्वितीय शताब्दी का पूर्वार्ध सिद्ध होती है। इसी प्रकार आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की विषय-वस्तु एवं भाषा-शैली आचारांग के रचनाकाल को अर्धमागधी आगम साहित्य में सबसे प्राचीन सिद्ध करती है। अर्धमागधी आगम के काल-निर्धारण में इन सभी पक्षों पर विचार अपेक्षित है।

इस प्रकार न तो हमारे कुछ दिगम्बर विद्वानों की यह दृष्टि समुचित है कि अर्धमागधी आगम देवद्विगण की वाचना के समय अर्थात् ईसा की पाँचवीं शताब्दी में अस्तित्व में आये और न कुछ श्वेताम्बर आचार्यों का यह कहना ही समुचित है कि सभी अंग आगम अपने वर्तमान स्वरूप में गणधरों की रचना है और उनमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन, परिवर्धन, प्रक्षेप या विन्धोप नहीं हुआ है। किन्तु इतना निश्चित है कि कुछ प्रक्षेपों को छोड़कर अर्धमागधी आगम साहित्य शौरसेनी आगम साहित्य से प्राचीन है। शौरसेनी आगम साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ कसायपाहुडसुत्त भी ईस्वी सन् की तीसरी-चौथी शताब्दी से प्राचीन नहीं है। उसके पश्चात् षट्खण्डागम, मूलाचार, भगवतीआराधना, तिलोयपण्णत्ति, पिण्डछेदशास्त्र, आवश्यक (प्रतिक्रमणसूत्र) आदि का क्रम आता है, किन्तु पिण्डछेदशास्त्र और आवश्यक (प्रतिक्रमण) के अतिरिक्त इन सभी ग्रन्थों में गुणस्थान सिद्धान्त आदि की उपस्थिति से यह फलित होता है कि ये सभी ग्रन्थ पाँचवीं शती के पश्चात् के हैं। दिगम्बर आवश्यक (प्रतिक्रमण) एवं पिण्डछेदशास्त्र का आधार भी क्रमशः श्वेताम्बर मान्य आवश्यक और कल्प-व्यवहार, निशीथ आदि छेदसूत्र ही रहे हैं। उनके प्रतिक्रमण सूत्र में भी वर्तमान सूत्रकृतांग के तेईस एवं ज्ञाताधर्मकथा के उन्नीस अध्ययनों का विवरण है तथा पिण्डछेदशास्त्र में जीतकल्प के आधार पर प्रायश्चित्त देने का निर्देश है ये यही सिद्ध करते हैं कि प्राकृत आगम साहित्य में अर्धमागधी आगम ही प्राचीनतम है, चाहे उनकी अन्तिम वाचना पाँचवीं शती के उत्तरार्ध (ई. सन् 453) में ही सम्पन्न क्यों न हुई हो ?

इस प्रकार जहाँ तक आगमों के रचनाकाल का प्रश्न है उसे ई. पू. पाँचवीं शताब्दी से ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक लगभग एक हजार वर्ष की सुदीर्घ अवधि में व्यापक माना जा सकता है क्योंकि उपलब्ध आगमों में सभी एक काल की रचना नहीं है। आगमों के सन्दर्भ में और विशेष रूप से अंग आगमों के सम्बन्ध में परम्परागत

मान्यता तो यही है कि वे गणधरों द्वारा रचित होने के कारण ई.पू. पाँचवीं शताब्दी की रचना है। किन्तु दूसरी ओर कुछ विद्वान उन्हें वल्लभी में संकलित एवं सम्पादित किये जाने के कारण ईसा की पाँचवीं शती की रचना मान लेते हैं। मेरी दृष्टि में ये दोनों ही मत समीचीन नहीं हैं। देवार्थि के संकलन, सम्पादन एवं टाइपत्रों पर लेखन काल को उनका रचना काल नहीं माना जा सकता। अंग आगम तो प्राचीन ही है। ईसा पूर्व चौथी शती में पाटलीपुत्र की वाचना में जिनद्वदश अंगों की वाचना हुई थी, वे निश्चित रूप से उसके पूर्व ही बने होंगे। यह सत्य है कि आगमों में देवार्थि की वाचना के समय अथवा उसके बाद भी कुछ प्रक्षेप हुए हों, किन्तु उन प्रक्षेपों के आधार पर सभी अंग आगमों का रचनाकाल ई.सन् की पाँचवीं शताब्दी नहीं माना जा सकता। डॉ. हर्मन याकोबी ने यह निश्चित किया है कि आगमों का प्राचीन अंश ई.पू. चौथी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर ई.पू. तीसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बीच का है। न केवल अंग आगम अपितु दशाश्रुतरकन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार भी, जिन्हें आचार्य भद्रबाहु की रचना माना जाता है याकोबी और शुब्रिग के अनुसार ई.पू. चतुर्थ शती के उत्तरार्द्ध से ई.पू. तीसरी शती के पूर्वार्द्ध में निर्मित हैं। पं. दलसुखभाई आदि की मान्यता है कि आगमों का रचनाकाल प्रत्येक ग्रन्थ की भाषा, छन्दयोजना, विषय-वस्तु और उपलब्ध आन्तरिक और बाह्य साक्ष्यों के आधार पर ही निश्चित किया जा सकता है। आचारांग का प्रथम श्रुतरकन्ध अपनी भाषा-शैली, विषय-वस्तु, छन्दयोजना आदि की दृष्टि से महावीर की वाणी के सर्वाधिक निकट प्रतीत होता है। उसकी औपनिषदिक शैली भी यही बताती है कि वह एक प्राचीन ग्रन्थ है। उसका काल किराी भी स्थिति में ई.पू. चतुर्थ शती के बाद का नहीं हो सकता। उसके द्वितीय श्रुतरकन्ध के रूप में जो "आयारचूला" जोड़ी गयी है, वह भी ई.पू. दूसरी या प्रथम शती से परवर्ती नहीं है। सूत्रकृतांग भी एक प्राचीन आगम है उसकी भाषा, छन्दयोजना एवं उसमें विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं के तथा ऋषियों के जो उल्लेख मिले हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वह भी ई.पू. चौथी-तीसरी शती से बाद का नहीं हो सकता, क्योंकि उसके बाद विकसित दार्शनिक मान्यताओं का उसमें कहीं कोई उल्लेख नहीं है। उसमें उपलब्ध वीरगनुति में भी अतिरजनाओं का प्रायः अभाव ही है। अंग आगमों में तीसरा क्रम स्थानांग का आता है। स्थानांग, बौद्ध आगम अंगुत्तरनिकाय की शैली का ग्रन्थ है। ग्रन्थ लेखन की यह शैली भी प्राचीन रही है। स्थानांग में नौ गणों और सात निह्नवों के उल्लेख को छोड़कर अन्य पेशा कुछ भी नहीं है जिससे उसे परवर्ती कहा जा सके। हो सकता है कि जैनधर्म के इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने के कारण ये उल्लेख उसमें अन्तिम वाचना के समय प्रक्षिप्त किये गये हों। उसमें जो दस दशाओं और उनमें प्रत्येक के अध्यायों के नामों का उल्लेख है, वह भी उन आगमों की प्राचीन विषय-वस्तु का निर्देश करता है। यदि वह वल्लभी के वाचनाकाल में निर्मित हुआ होता तो उसमें दस दशाओं की जो विषय-वस्तु वर्णित है वह भिन्न होती। अतः उसकी प्राचीनता में सन्देह नहीं किया जा सकता। समवायांग, स्थानांग की अपेक्षा एक परवर्ती ग्रन्थ है। इसके प्रारम्भ में द्वादश अंगों का स्पष्ट उल्लेख है। साथ ही इसमें उत्तराध्ययन के 36, ऋषिभाषित के 44, सूत्रकृतांग के 23, सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतरकन्ध के 16, आचारांग के चूलिका सहित 25 अध्ययन, दशा, कल्प और व्यवहार के 26 अध्ययन आदि का उल्लेख होने से इतना तो निश्चित है कि यह ग्रन्थ इसमें निर्दिष्ट आगमों के स्वरूप के निर्धारित होने के पश्चात् ही बना होगा। पुनः इसमें चतुर्दश गुणस्थानों का जीवस्थान के रूप में स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यह निश्चित है कि गुणस्थान का यह सिद्धान्त उमास्वाति के पश्चात् अर्थात् ईसा की चतुर्थ शती के बाद ही अस्तित्व में आया है। यदि इसमें जीवठाण के रूप में चौदह गुणस्थानों के उल्लेख को बाद में प्रक्षिप्त भी मान लिया जाय तो भी अपनी भाषा-शैली और विषय-वस्तु की दृष्टि से इसका वर्तमान स्वरूप ईसा की 3-4 शती से पहले का नहीं है। हो सकता है उसके कुछ अंश प्राचीन हों, लेकिन आज उन्हें खोज पाना अति कठिन कार्य है। जहाँ तक भगवतीसूत्र का प्रश्न है, विद्वानों के अनुसार इसके अनेक स्तर हैं। इसमें कुछ स्तर अवश्य ही ई.पू. के हैं, किन्तु समवायांग

की भाँति भगवती में भी पर्याप्त प्रक्षेप हुआ है। भगवतीसूत्र में अनेक स्थलों पर जीवाजीवाभिगम, प्रज्ञापना, अनुयोगद्वार, नन्दी आदि परवर्ती आगमों का निर्देश हुआ है। इनके उल्लेख होने से यह स्पष्ट है कि इसके सम्पादन के समय इसमें ये और इसी प्रकार की अन्य सूचनाएँ दे दी गयी हैं। इससे यह प्रतिफलित होता है कि वल्लभी वाचना में इसमें पर्याप्त रूप से परिवर्धन और संशोधन अवश्य हुआ है, फिर भी इसके कुछ शतकों की प्राचीनता निर्विवाद है। कुछ पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वान इसके प्राचीन एवं परवर्ती स्तरों के पृथक्करण का कार्य कर रहे हैं। उनके निष्कर्ष प्राप्त होने पर ही इसका रचनाकाल निश्चित किया जा सकता है।

उपासकदशा आगम साहित्य में श्रावकाचार का वर्णन करने वाला प्रथम ग्रन्थ है। स्थानांगसूत्र में उल्लिखित इसके दस अध्यायों और उनकी विषय-वस्तु में किसी प्रकार के परिवर्तन होने के संकेत नहीं मिलते हैं। अतः मैं समझता हूँ कि यह ग्रन्थ भी अपने वर्तमान स्वरूप में ई.पू. की ही रचना है और इसके किसी भी अध्ययन का विलोप नहीं हुआ है। श्रावकग्रन्थों के अणुवत और शिक्षाव्रत के रूप में वर्गीकृत करने के सम्बन्ध में तत्त्वार्थसूत्र में स्पष्टतः इसका अनुसरण देखा जाता है अतः यह तत्त्वार्थ से अर्थात् ईसा की तीसरी शती से परवर्ती नहीं हो सकता है। ज्ञातव्य है कि अनुत्तरौपपातिक में उपलब्ध वर्गीकरण परवर्ती है, क्योंकि उसमें गुणव्रत की अवधारणा आ गयी है।

अंग आगम साहित्य में अन्तकृद्दशा की विषय-वस्तु का उल्लेख हमें स्थानांगसूत्र में मिलता है। उसमें इसके निम्न दस अध्याय उल्लिखित हैं-- नमि, मातांग, सोमिल, रामपुत्त, सुदर्शन, जमालि, भगालि, किंकिम, पल्लतेतिय, फाल अम्बहपुत्र। इनमें से सुदर्शन सम्बन्धी कुछ अंश को छोड़कर वर्तमान अन्तकृद्दशासूत्र में ये कोई भी अध्ययन नहीं मिलते हैं। किन्तु समवायांग और नन्दीसूत्र में क्रमशः इसके सात और आठ वर्गों के उल्लेख मिलते हैं। इससे यह प्रतिफलित होता है कि स्थानांग में उल्लिखित अन्तकृद्दशा का प्राचीन अंश विलुप्त हो गया है। यद्यपि समवायांग और नन्दी में क्रमशः इसके सात एवं आठ वर्गों का उल्लेख होने से इतना तय है कि वर्तमान अन्तकृद्दशा समवायांग और नन्दी की रचना के समय अस्तित्व में आ गया था। अतः इसका वर्तमान स्वरूप ईसा की चौथी-पाँचवीं शती का है। उसके प्राचीन दस अध्यायों के जो उल्लेख हमें स्थानांग में मिलते हैं उन्हीं दस अध्ययनों के उल्लेख दिगम्बर एवं यापनीय परम्परा के ग्रन्थों में यथा अकलंक के राजवार्तिक, धवला, अंगप्रज्ञप्ति आदि में भी मिलते हैं। इससे यह फलित होता है कि इस अंग आगम के प्राचीन स्वरूप के विलुप्त हो जाने के पश्चात् भी माथुरी वाचना की अनुश्रुति से स्थानांग में उल्लिखित इसके दस अध्यायों की चर्चा होती रही है। हो सकता है कि इसकी माथुरी वाचना में ये दस अध्ययन रहे होंगे।

बहुत कुछ यही स्थिति अनुत्तरौपपातिकदशा की है। स्थानांगसूत्र की सूचना के अनुसार इसमें निम्न दस अध्ययन कहे गये हैं-- 1. ऋषिदास, 2. धन्य, 3. सुनक्षत्र, 4. कार्तिक, 5. संस्थान, 6. शालिभद्र, 7. आनन्द, 8. तेतली, 9. दशार्णभद्र, 10. अतिमुक्त। उपलब्ध अनुत्तरौपपातिकदशा में तीन वर्ग हैं उसमें द्वितीय वर्ग में ऋषिदास, धन्य और सुनक्षत्र ऐसे तीन अध्ययन मिलते हैं इनमें भी धन्य का अध्ययन ही विस्तृत है। सुनक्षत्र और ऋषिदास के विवरण अत्यन्त संक्षेप में ही हैं। स्थानांग में उल्लिखित शेष सात अध्याय वर्तमान अनुत्तरौपपातिकसूत्र में उपलब्ध नहीं होते। इससे यह प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ वल्लभी वाचना के समय ही अपने वर्तमान स्वरूप में आया होगा।

जहाँ तक प्रश्नव्याकरणदशा का प्रश्न है इतना निश्चित है कि वर्तमान प्रश्नव्याकरण की विषय-वस्तु न केवल स्थानांग में उल्लिखित उसकी विषय-वस्तु से भिन्न है, अपितु नन्दी और समवायांग की उल्लिखित विषय-वस्तु से

भी भिन्न है। प्रश्नव्याकरण की वर्तमान आस्रव और संवर द्वार वाली विषय-वस्तु का सर्वप्रथम निर्देश नन्दीचूर्णि में मिलता है। इससे यह फलित होता है कि वर्तमान प्रश्नव्याकरणसूत्र नन्दी के पश्चात् ई.सन्. की पाँचवीं-छठवीं शती के मध्य ही कभी निर्मित हुआ है। इतना तो निश्चित है कि नन्दी के रचयिता देववाचक के सामने यह ग्रन्थ अपने वर्तमान स्वरूप में नहीं था। किन्तु ज्ञाताधर्मकथा, अन्तकृद्दशा और अनुत्तरौपपातिकदशा में जो परिवर्तन हुए थे, वे नन्दीसूत्रकार के पूर्व हो चुके थे क्योंकि वे उनके इस परिवर्तित स्वरूप का विवरण देते हैं। इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा मैंने अपने एक स्वतन्त्र लेख में की है जो "जैन आगम साहित्य", सम्पादक डॉ. के.आर. चन्द्रा, अहमदाबाद, में प्रकाशित है।

इसी प्रकार जब हम उपांग साहित्य की ओर आते हैं तो उसमें रायपसेणियसुत्त में राजा पसेणीय द्वारा आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में जो प्रश्न उठाये गये हैं उनका विवरण हमें पालित्रिपिटक में भी उपलब्ध होता है। इससे यह फलित होता है कि औपपातिक का यह अंश कम से कम पालित्रिपिटक जितना प्राचीन तो है ही। जीवाजीवाभिगम के रचनाकाल को निश्चित रूप से बता पाना तो कठिन है, किन्तु इसकी विषय-वस्तु के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि वह ग्रन्थ ई.पू. की रचना होनी चाहिये। उपांग साहित्य में प्रज्ञापनासूत्र को तो स्पष्टतः आर्य श्याम की रचना माना जाता है। आर्य श्याम का आचार्यकाल वी.नि.सं. 335-376 के मध्य माना जाता है। अतः इसका रचनाकाल ई.पू. द्वितीय शताब्दी के लगभग निश्चित होता है।

इसी प्रकार उपांग वर्ग के अन्तर्गत वर्णित चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति -- ये तीन प्रज्ञप्तियाँ भी प्राचीन ही हैं। वर्तमान में चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति में कोई भेद नहीं दिखाई देता है। किन्तु सूर्यप्रज्ञप्ति में ज्योतिष सम्बन्धी जो चर्चा है वह वेदांग ज्योतिष के समान है, इससे इसकी प्राचीनता स्पष्ट हो जाती है। यह ग्रन्थ किसी भी स्थिति में ई.पू. प्रथम शती से परवर्ती नहीं है। इन तीनों प्रज्ञप्तियों को दिगम्बर परम्परा में भी दृष्टिवाद के एक अंश -- परिकर्म के अन्तर्गत माना है। अतः यह ग्रन्थ भी दृष्टिवाद के पूर्ण विच्छेद एवं सम्प्रदाय-भेद के पूर्व का ही होना चाहिये।

छेदसूत्रों में दशाश्रुत, बृहत्कल्प और व्यवहार को स्पष्टतः भद्रबाहु प्रथम की रचना माना गया है अतः इसका काल ई.पू. चतुर्थ-तृतीय शताब्दी के बाद का नहीं हो सकता है। ये सभी ग्रन्थ अचेल परम्परा में भी मान्य रहे हैं इसी प्रकार निशीथ भी अपने मूल रूप में तो आचारांग की ही एक चूला रहा है, बाद में उसे पृथक् किया गया है। अतः इसकी प्राचीनता में भी सन्देह नहीं किया जा सकता। याकोबी, शूब्रिंग आदि पाश्चात्य विद्वानों ने एकमत से छेदसूत्रों की प्राचीनता स्वीकार की है। इस वर्ग में मात्र जीतकल्प ही ऐसा ग्रन्थ है जो निश्चित ही परवर्ती है। पं. दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार यह आचार्य जिनभद्र की कृति है। ये जिनभद्र विशेषावश्यकभाष्य के कर्ता हैं। इनका काल अनेक प्रमाणों से ई.सन् की सातवीं शती है। अतः जीतकल्प का भी काल वही होना चाहिये। मेरी दृष्टि में पं. दलसुखभाई की यह मान्यता निरापद नहीं है, क्योंकि दिगम्बर परम्परा में इन्द्रनन्दि के छेदपिण्डशास्त्र में जीतकल्प के अनुसार प्रायश्चित्त देने का विधान किया गया है, इससे फलित होता है कि यह ग्रन्थ स्पष्ट रूप से सम्प्रदाय भेद से पूर्व की रचना होनी चाहिये। हो सकता है इसके कर्ता जिनभद्र विशेषावश्यक के कर्ता जिनभद्र से भिन्न हों और उनके पूर्ववर्ती भी हों। किन्तु इतना निश्चित है कि नन्दीसूत्र और पाक्षिकसूत्र में जो आगमों की सूची मिलती है उसमें जीतकल्प का नाम नहीं है। अतः यह उसके बाद की ही रचना होगी। इसका काल भी ई. सन् की पाँचवीं शती का उत्तमार्द्ध होना चाहिये। इसकी दिगम्बर और यापनीय परम्परा में मान्यता तभी संभव हो सकती है जब यह स्पष्ट रूप से संघभेद के पूर्व निर्मित हुआ हो। स्पष्ट संघ-भेद पाँचवीं

शती के उत्तरार्ध में अस्तित्व में आया है। छेद वर्ग में महानिशीथ का उद्धार आचार्य हरिभद्र ने किया था, यह सुनिश्चित है। आचार्य हरिभद्र का काल ई.सन् की आठवीं शती माना जाता है। अतः यह ग्रन्थ उसके पूर्व ही निर्मित हुआ होगा। हरिभद्र इसके उद्धारक अवश्य हैं किन्तु रचयिता नहीं। मात्र इतना माना जा सकता है कि उन्होंने इसके त्रुटित भाग की रचना की हो। इस प्रकार इसका काल भी आठवीं शती से पूर्व का ही है।

मूलसूत्रों के वर्ग में दशवैकालिक को आर्य शय्यभ्रव की कृति माना जाता है। इनका काल महावीर के निर्वाण के 75 वर्ष बाद है। अतः यह ग्रन्थ ई.पू. पाँचवीं-चौथी शताब्दी की रचना है। उत्तराध्ययन यद्यपि एक संकलन है किन्तु इसकी प्राचीनता में कोई शंका नहीं है। इसकी भाषा-शैली तथा विषय-वस्तु के आधार पर विद्वानों ने इसे ई.पू. चौथी-तीसरी शती का ग्रन्थ माना है। मेरी दृष्टि में यह पूर्व प्रश्नव्याकरण का ही एक विभाग था। इसकी अनेक गाथायें तथा कथानक पालित्रिपिटक साहित्य तथा महाभारत आदि में यथावत् मिलते हैं। दशवैकालिक और उत्तराध्ययन यापनीय और दिगम्बर परम्परा में मान्य रहे हैं अतः ये भी संघ भेद या सम्प्रदाय भेद के पूर्व की रचना है। अतः इनकी प्राचीनता में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। आवश्यक भ्रमणों दैनन्दिन क्रियाओं का ग्रन्थ था अतः इसके कुछ प्राचीन पाठ तो भगवान महावीर के समकालिक ही माने जा सकते हैं। चूँकि दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और आवश्यक के सामायिक आदि विभाग दिगम्बर और यापनीय परम्परा में भी मान्य रहे हैं, अतः इनकी प्राचीनता अमदिग्ध है।

प्रकीर्णक साहित्य में नौ प्रकीर्णकों का उल्लेख नन्दीसूत्र में है अतः ये सभी नन्दीसूत्र से तो प्राचीन हैं ही, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। पुनः आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, मरणसमाधि आदि प्रकीर्णकों की सैकड़ों गाथाएँ यापनीय ग्रन्थ मूलाचार और भगवतीआराधना में पायी जाती हैं, मूलाचार एवं भगवतीआराधना भी छठवीं शती से परवर्ती नहीं है। अतः इन नौ प्रकीर्णकों को तो ई.सन् की चौथी-पाँचवीं शती से परवर्ती नहीं माने जा सकता। यद्यपि वीरभद्र द्वारा रचित कुछ प्रकीर्णक नवीं-दसवीं शती की रचनाएँ हैं। इसी प्रकार चूलिकासूत्रों के अन्तर्गत नन्दी और अनुयोगद्वार सूत्रों में भी अनुयोगद्वार को कुछ विद्वानों ने आर्यरक्षित के समय का माना है। अतः वह ई.सन् की प्रथम शती का ग्रन्थ होना चाहिए। नन्दीसूत्र के कर्त्ता देववाचक देवार्थ से पूर्ववर्ती है अतः उनका काल भी पाँचवीं शताब्दी से परवर्ती नहीं हो सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपलब्ध आगमों में प्रक्षेपों को छोड़कर अधिकांश ग्रन्थ तो ई.पू. के हैं। यह तो एक सामान्य चर्चा हुई, अभी इन ग्रन्थों में से प्रत्येक के काल-निर्धारण के लिए स्वतन्त्र और सम्प्रदाय निरपेक्ष दृष्टि से अध्ययन की आवश्यकता बनी हुई है। आशा है जैन विद्वानों की भावी पीढ़ी इस दिशा में कार्य करेगी।

आगमों की वाचनाएँ

यह सत्य है कि वर्तमान में उपलब्ध श्वेताम्बर मान्य अर्धमागधी आगमों के अन्तिम स्वरूप का निर्धारण वल्लभी वाचना में वि.नि.संवत् 980 या 993 में हुआ किन्तु उसके पूर्व भी आगमों की वाचनाएँ तो होती रही हैं। जो ऐतिहासिक साक्ष्य हमें उपलब्ध हैं उनके अनुसार अर्धमागधी आगमों की पाँच वाचनाएँ होने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

प्रथम वाचना -- प्रथम वाचना महावीर के निर्वाण के 160 वर्ष पश्चात् हुई। परम्परागत मान्यता तो यह है कि मध्यदेश में द्वादशवर्षीय भीषण अकाल के कारण कुछ मुनि काल-कवलित हो गये और कुछ समुद्र के तटवर्ती प्रदेशों की ओर चले गये। अकाल की समाप्ति पर वे मुनिगण वापस लौटे तो उन्होंने यह पाया कि उनका

आगम-ज्ञान अंशतः विस्मृत एवं विभ्रंखलित हो गया है और कहीं-कहीं पाठभेद हो गया है। अतः उस युग के प्रमुख आचार्यों ने पाटलीपुत्र में एकत्रित होकर आगमज्ञान को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया। दृष्टिवाद और पूर्व साहित्य का कोई विशिष्ट ज्ञाता वहाँ उपस्थित नहीं था। अतः ग्यारह अंग तो व्यवस्थित किये गये हैं किन्तु दृष्टिवाद और उसमें अन्तर्निहित साहित्य को व्यवस्थित नहीं किया जा सका, क्योंकि उसके विशिष्ट ज्ञाता भद्रबाहु उस समय नेपाल में थे। संघ की विशेष प्रार्थना पर उन्होंने स्थूलिभद्र आदि कुछ मुनियों को पूर्व साहित्य की वाचना देना स्वीकार किया। स्थूलिभद्र भी उनसे दस पूर्वों तक का ही अध्ययन अर्थ सहित कर सके और शेष चार पूर्वों का मात्र शाब्दिक ज्ञान ही प्राप्त कर पाये।

इस प्रकार पाटलीपुत्र की वाचना में द्वादश अंगों को सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न अवश्य किया गया किन्तु उनमें एकादश अंग ही सुव्यवस्थित किये जा सके। दृष्टिवाद और उसमें अन्तर्भूक्त पूर्व साहित्य को पूर्णतः सुरक्षित नहीं किया जा सका और उसका क्रमशः विलोप होना प्रारम्भ हो गया। फलतः उसकी विषय-वस्तु को लेकर अंग बाह्य ग्रन्थ निर्मित किये जाने लगे।

द्वितीय वाचना -- आगमों की द्वितीय वाचना ई.पू. द्वितीय शताब्दी में महावीर के निर्वाण के लगभग 300 वर्ष पश्चात् उड़ीसा के कुमारी पूर्ववत् पर सम्राट खारवेल के काल में हुई थी। इस वाचना के सन्दर्भ में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती है -- मात्र यही ज्ञात होता है कि इसमें श्रुत के संरक्षण का प्रयत्न हुआ था। वस्तुतः उस युग में आगमों के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा गुरु-शिष्य के माध्यम से मौखिक रूप से ही चलती थी। अतः देशकालगत प्रभावों तथा विस्मृति-दोष के कारण उनमें स्वाभाविक रूप से भिन्नता आ जाती थी। अतः वाचनाओं के माध्यम से उनके भाषायी स्वरूप तथा पाठभेद को सुव्यवस्थित किया जाता है। कालक्रम में जो स्थविरों के द्वारा नवीन ग्रन्थों की रचना होती थी, उस पर भी विचार करके उन्हें इन्हीं वाचनाओं में मान्यता प्रदान की जाती थी। इसी प्रकार परिस्थितिवश आचार-नियमों में एवं उनके आगमिक सन्दर्भों की व्याख्या में जो अन्तर आ जाता था, उसका निराकरण भी इन्हीं वाचनाओं में किया जाता था। खण्डगिरि पर हुई इस द्वितीय वाचना में ऐसे किन विवादों का समाधान खोजा गया था -- इसकी प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है।

तृतीय वाचना

आगमों की तृतीय वाचना वि. नि. 827 अर्थात् ई.सन् की तीसरी शताब्दी में मथुरा में आर्य स्कन्दिल के नेतृत्व में हुई। इसलिए इसे माथुरी वाचना या स्कन्दिली वाचना के नाम से भी जाना जाता है। माथुरी वाचना के सन्दर्भ में दो प्रकार की मान्यताएँ नन्दीचूर्ण में हैं। प्रथम मान्यता के अनुसार सुकाल होने के पश्चात् आर्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में शेष रहे मुनियों की स्मृति के आधार पर कालिकसूत्रों को सुव्यवस्थित किया गया। अन्य कुछ का मन्तव्य यह है कि इस काल में सूत्र नष्ट नहीं हुआ था किन्तु अनुयोगधर स्वर्गवासी हो गये थे। अतः एक मात्र जीवित स्कन्दिल ने अनुयोगों का पुनः प्रवर्तन किया।

चतुर्थ वाचना -- चतुर्थ वाचना तृतीय वाचना के समकालीन ही है। जिस समय उत्तर, पूर्व और मध्य क्षेत्र में विचरण करने वाला मुनि संघ मथुरा में एकत्रित हुआ, उसी समय दक्षिण-पश्चिम में विचरण करने वाला मुनि संघ वल्लभी (सौराष्ट्र) में आर्य नागार्जुन के नेतृत्व में एकत्रित हुआ। इसे नागार्जुनीय वाचना भी कहते हैं।

आर्य स्कन्दिल की माथुरी वाचना और आर्य नागार्जुन की वल्लभी वाचना समकालिक हैं। नन्दीसूत्र स्थविरावली में आर्य स्कन्दिल और नागार्जुन के मध्य आर्य हिमवत का उल्लेख है। इससे यह फलित होता है कि

आर्य स्कंदिल और नागार्जुन समकालिक ही रहे होंगे। नन्दीसूत्र स्थविरावली में आर्य स्कंदिल के सन्दर्भ में यह कहा गया कि उनका अनुयोग आज भी दक्षिणाद्रं भरत क्षेत्र में प्रचलित है। इसका एक तात्पर्य यह भी हो सकता है कि उनके द्वारा सम्पादित आगम दक्षिण भारत में प्रचलित थे। ऐतिहासिक साक्ष्यों से यह ज्ञात होता है कि उत्तर भारत के निग्रन्थ संघ के विभाजन के फलस्वरूप जिस यापनीय सम्प्रदाय का विकास हुआ था उसमें आर्य स्कंदिल के द्वारा सम्पादित आगम ही मान्य किये जाते थे और इस यापनीय सम्प्रदाय का प्रभाव क्षेत्र मध्य और दक्षिण भारत था। आचार्य पाल्यकीर्ति शाकटायन ने तो स्त्री-निर्वाण प्रकरण में स्पष्ट रूप से मथुरागम का उल्लेख किया है। अतः यह स्पष्ट है कि यापनीय सम्प्रदाय जिन आगमों को मान्य करता था, वे माथुरी वाचना के आगम थे। मूलाचार, भगवतीआराधना आदि यापनीय आगमों में वर्तमान में श्वेताम्बर मान्य आचारांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, कल्प, व्यवहार संग्रहणीसूत्रों एवं निर्युक्तियों आदि की सैकड़ों गाथाएँ आज भी उपलब्ध हो रही हैं। इससे यही फलित होता है कि यापनीयों के पास माथुरी वाचना के आगम थे। हम यह भी पाते हैं कि यापनीय ग्रन्थों में जो आगमों की गाथाएँ मिलती हैं वे न तो अर्धमागधी में हैं, न महाराष्ट्री प्राकृत में, अपितु वे शौरसेनी में हैं। मात्र यही नहीं अपराजित की भगवतीआराधना की टीका में आचारांग, उत्तराध्ययन, कल्पसूत्र, निशीथ आदि से जो अनेक अवतरण दिये हैं वे सभी अर्धमागधी में न होकर शौरसेनी में हैं।

इससे यह फलित होता है कि स्कंदिल की अध्यक्षता वाली माथुरी वाचना में आगमों की अर्धमागधी भाषा पर शौरसेनी का प्रभाव आ गया था। दूसरे माथुरी वाचना के आगमों के जो भी पाठ भगवतीआराधना की टीका आदि में उपलब्ध होते हैं, उनमें वल्लभी वाचना के वर्तमान आगमों से पाठभेद भी देखा जाता है। साथ ही अचेल्कत्व की समर्थक कुछ गाथाएँ और गद्यांश भी पाये जाते हैं। कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में अनुयोगद्वारसूत्र, प्रकीर्णकों एवं निर्युक्त आदि की कुछ गाथाएँ क्वचित् पाठभेद के साथ मिलती हैं-- सम्भवतः उन्होंने ये गाथाएँ यापनीयों के माथुरी वाचना के आगमों से ही ली होंगी।

एक ही समय में आर्य स्कंदिल द्वारा मथुरा में और नागार्जुन द्वारा वल्लभी में वाचना किये जाने की एक सम्भावना यह भी हो सकती है कि दोनों में किन्हीं बातों को लेकर मतभेद थे। सम्भव है कि इन मतभेदों में वस्त्र-पात्र आदि सम्बन्धी प्रश्न भी रहे हों। पं. कैलाशचन्द्रजी ने जैन साहित्य का इतिहास -- पूर्व पीठिका (पृ. 500) में माथुरी वाचना की समकालीन वल्लभी वाचना के प्रमुख के रूप में देवर्धिगाणि का उल्लेख किया है, यह उनकी भ्रान्ति है। वास्तविकता तो यह है कि माथुरी वाचना का नेतृत्व आर्य स्कंदिल और वल्लभी की प्रथम वाचना का नेतृत्व आर्य नागार्जुन कर रहे थे और ये दोनों समकालिक थे, यह बात हम नन्दीसूत्र के प्रमाण से पूर्व में ही कह चुके हैं। यह स्पष्ट है कि आर्य स्कंदिल और नागार्जुन की वाचना में मतभेद था।

पं. कैलाशचन्द्रजी ने यह प्रश्न उठाया है कि यदि वल्लभी वाचना नागार्जुन की थी तो देवर्धि ने वल्लभी में क्या किया ? साथ ही उन्होंने यह भी कल्पना कर ली कि वादिचेतालशान्तिरसूरि वल्लभी की वाचना में नागार्जुनीयों का पक्ष उपस्थित करने वाले आचार्य थे। हमारा यह दुर्भाग्य है कि दिगम्बर विद्वानों ने श्वेताम्बर साहित्य का समय एवं निष्पक्ष अध्ययन किये बिना मात्र यत्र-तत्र उद्धृत या अंशतः पठित अंशों के आधार पर अनेक भ्रान्तियाँ खड़ी कर दीं। इसके प्रमाण के रूप में उनके द्वारा उद्धृत मूल गाथा में ऐसा कहीं कोई उल्लेख ही नहीं है, कि शान्तिरसूरि वल्लभी वाचना के समकालिक थे। यदि हम आगमिक व्याख्याओं को देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि अनेक वर्षों तक नागार्जुनीय और देवर्धि की वाचनाएँ साथ-साथ चलती रहीं हैं, क्योंकि इनके पाठान्तरों का उल्लेख मूल ग्रन्थों में कम और टीकाओं में अधिक हुआ है।

पंचम वाचना -- वी. नि. के 980 वर्ष पश्चात् ई. सन् की पाँचवीं शती के उत्तरार्द्ध में आर्य स्कंदिल की माथुरी वाचना और आर्य नागार्जुन की वल्लभी वाचना के लगभग 150 वर्ष पश्चात देवर्षिगणिकमाश्रमण की अध्यक्षता में पुनः वल्लभी में एक वाचना हुई। इस वाचना में मुख्यतः आगमों को पुस्तकारुद्ध करने का कार्य किया गया। ऐसा लगता है कि इस वाचना में माथुरी और नागार्जुनीय दोनों वाचनाओं को समान्वित किया गया है और जहाँ मतभेद परिलक्षित हुआ वहाँ "नागार्जुनीयास्तु पठन्ति" ऐसा लिखकर नागार्जुनीय पाठ को भी सम्मिलित किया गया।

प्रत्येक वाचना के सन्दर्भ में प्रायः यह कहा जाता है कि मध्यदेश में द्वादशवर्षीय दुष्काल के कारण श्रमणसंघ समुद्रतटीय प्रदेशों की ओर चला गया और वृद्ध मुनि, जो इस अकाल में लम्बी यात्रा न कर सके कालगत हो गये। सुकाल होने पर जब मुनिसंघ लौटकर आया तो उसने यह पाया कि इनके श्रुतज्ञान में विस्मृति और विसंगति आ गयी है। प्रत्येक वाचना से पूर्व अकाल की यह कहानी मुझे बुद्धिगम्य नहीं लगती है। मेरी दृष्टि में प्रथम वाचना में श्रमण संघ के विश्रंखलित होने का प्रमुख कारण अकाल की अपेक्षा मगध राज्य में युद्ध से उत्पन्न अशांति और आराजकता ही थी क्योंकि उस समय नन्दों के अत्याचारों एवं चन्द्रगुप्त मौर्य के आक्रमण के कारण मगध में अशांति थी। उसी के फलस्वरूप श्रमण संघ सुदूर समुद्रीतट की ओर या नेपाल आदि पर्वतीय क्षेत्र की ओर चला गया था। भद्रबाहु की नेपाल यात्रा का भी सम्भवतः यही कारण रहा होगा।

जो भी उपलब्ध साक्ष्य है उससे यह फलित होता है कि पाटलिपुत्र की वाचना के समय द्वादश अंगों को ही व्यवस्थित करने का प्रयत्न हुआ था। उसमें एकादश अंग सुव्यवस्थित हुए और बारहवें दृष्टिवाद, जिसमें अन्य दर्शन एवं महावीर के पूर्व पार्श्वनाथ की परम्परा का साहित्य समाहित था, इसका संकलन नहीं किया जा सका। इसी सन्दर्भ में स्थूलिभद्र के द्वारा भद्रबाहु के सान्निध्य में नेपाल जाकर चतुर्दश पूर्वों के अध्ययन की बात कही जाती है। किन्तु स्थूलिभद्र भी मात्र दस पूर्वों का ही ज्ञान अर्थ सहित ग्रहण कर सके, शेष चार पूर्वों का केवल शाब्दिक ज्ञान ही प्राप्त कर सके। इसका फलितार्थ यही है कि पाटलीपुत्र की वाचना में एकादश अंगों का ही संकलन और संपादन हुआ था। किसी भी चतुर्दश पूर्वविद् की उपस्थिति नहीं होने से दृष्टिवाद के संकलन एवं संपादन का कार्य नहीं किया जा सका।

उपांग साहित्य के अनेक ग्रन्थ जैसे प्रज्ञापना आदि, छेदरसूत्रों में आचारदशा, कल्प, व्यवहार आदि तथा चूलिकासूत्रों में नन्दी, अनुयोगद्वार आदि -- ये सभी परवर्ती कृति होने से इस वाचना में सम्मिलित नहीं किये गये होंगे। यद्यपि आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि ग्रन्थ पाटलीपुत्र की वाचना के पूर्व के हैं किन्तु इस वाचना में इनका क्या किया गया, यह जानकारी प्राप्त नहीं है। हो सकता है कि सभी साधु-साध्वियों के लिये इनका स्वाध्याय आवश्यक होने के कारण इनके विस्मृत होने का प्रश्न ही न उठा हो।

पाटलीपुत्र वाचना के बाद उड़ीसा के कुमारी पर्वत (खण्डगिरि) पर खारवेल के राज्य काल में हुई थी। इस वाचना के सम्बन्ध में मात्र इतना ही ज्ञात है कि इममें भी श्रुत को सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न किया गया था। संभव है कि इस वाचना में ई. पू. प्रथम शती से पूर्व रचित ग्रन्थों के संकलन और सम्पादन का कोई प्रयत्न किया गया हो।

जहाँ तक माथुरी वाचना का प्रश्न है इतना तो निश्चित है कि उसमें ई. सन् की चौथी शती तक के रचित सभी ग्रन्थों के संकलन एवं सम्पादन का प्रयत्न किया गया होगा। इस वाचना के कार्य के सन्दर्भ में जो सूचना मिलती है, उसमें इस वाचना में कालिकसूत्रों को व्यवस्थित करने का निर्देश है। नन्दिसूत्र में कालिकसूत्र को

अंग-बाह्य, आवश्यक व्यतिरिक्त श्रुतों का ही एक भाग बताया गया है। कालिकसूत्रों के अन्तर्गत उत्तराध्ययन, ऋषिभाषित, दशाश्रुत, कल्प, व्यवहार, निशीथ तथा वर्तमान में उपांग के नाम से अभिहित अनेक ग्रन्थ आते हैं। हो सकता है कि अंग सूत्रों की जो पाटलीपुत्र की वाचना चली आ रही थी वह मथुरा में मान्य रही हो, किन्तु उपांगों में से कुछ को तथा कल्प आदि द्वेद सूत्रों को सुव्यवस्थित किया गया हो। किन्तु यापनीय ग्रन्थों की टीकाओं में जो माथुरी वाचना के आगमों के उद्धरण मिलते हैं, उन पर जो शौरसेनी का प्रभाव दिखता है, उससे ऐसा लगता है कि माथुरी वाचना में न केवल कालिक सूत्रों का अपितु उस काल तक रचित सभी ग्रन्थों के संकलन का काम किया गया था। ज्ञातव्य है कि यह माथुरी वाचना अचेल्ता की पोषक यापनीय परम्परा में भी मान्य रही है। यापनीय ग्रन्थों की व्याख्याओं एवं टीकाओं में इस वाचना के आगमों के अवतरण तथा इन आगमों के प्रामाण्य के उल्लेख मिलते हैं। आर्य शाकटायन ने अपने स्त्री-निर्वाण प्रकरण एवं अपने व्याकरण की स्वोपज्ञटीका में न केवल मथुरा आगम का उल्लेख किया है, अपितु उनकी अनेक मान्यताओं का निर्देश भी किया है तथा अनेक अवतरण भी दिये हैं। इसी प्रकार भगवतीआराधना की अपराजित की टीका में भी आचारांग, उत्तराध्ययन, निशीथ आदि के अवतरण पाये जाते हैं, यह हम पूर्व में कह चुके हैं।

आर्य स्कंदिल की माथुरी वाचना वस्तुतः उत्तर भारत के निर्गन्ध संघ के सचेल्-अचेल् दोनों पक्षों के लिये मान्य थी और उसमें दोनों ही पक्षों के सम्पोषक साक्ष्य उपस्थित थे। यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि यदि माथुरी वाचना उभय पक्षों को मान्य थी तो फिर उसी समय नागार्जुन की अध्यक्षता में वल्लभी में वाचना करने की क्या आवश्यकता थी। मेरी मान्यता है कि अनेक प्रश्नों पर स्कंदिल और नागार्जुन में मतभेद रहा होगा। इसी कारण से नागार्जुन को स्वतन्त्र वाचना करने की आवश्यकता पड़ी।

इस समस्त चर्चा से पं. कैलाशचन्द्रजी के इस प्रश्न का उत्तर भी मिल जाता है कि वल्लभी की दूसरी वाचना में क्या किया गया? एक ओर मुनि श्री कल्याणविजयजी की मान्यता यह है कि वल्लभी में आगमों को मात्र पुस्तकास्द किया गया तो दूसरी ओर पं. कैलाशचन्द्रजी यह मानते हैं कि वल्लभी में आगमों को नये सिरे से लिखा गया, किन्तु ये दोनों ही मत मुझे एकांगी प्रतीत होते हैं। यह सत्य है कि वल्लभी में न केवल आगमों को पुस्तकास्द किया गया, अपितु उन्हें संकलित एवं सम्पादित भी किया गया किन्तु यह संकलन एवं सम्पादन निराधार नहीं था। न तो दिगम्बर परम्परा का यह कहना उचित है कि वल्लभी में श्वेताम्बरों ने अपनी मान्यता के अनुरूप आगमों को नये सिरे से रच डाला और न यह कहना ही समुचित होगा कि वल्लभी में जो आगम संकलित किये गये वे अक्षुण्ण रूप से वैसे ही थे जैसे-- पाटलीपुत्र आदि की पूर्व वाचनाओं में उन्हें संकलित किया गया था। यह सत्य है कि आगमों की विषय-वस्तु के साथ-साथ अनेक आगम ग्रन्थ भी कालक्रम में विलुप्त हुए हैं। वर्तमान आगमों का यदि सम्यक् प्रकार से विश्लेषण किया जाय तो इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है। आज आचारांग का सातवाँ अध्ययन विलुप्त है। इसी प्रकार अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिक व विपाकदशा के भी अनेक अध्याय आज अनुपलब्ध हैं। नन्दिसूत्र की सूची के अनेक आगम ग्रन्थ आज अनुपलब्ध हैं। इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा हमने आगमों के विच्छेद की चर्चा के प्रसंग में की है। ज्ञातव्य है कि देवार्थ की वल्लभी वाचना में न केवल आगमों को पुस्तकास्द किया गया है, अपितु उन्हें सम्पादित भी किया गया है। इस सम्पादन के कार्य में उन्होंने आगमों की अवशिष्ट उपलब्ध विषय-वस्तु को अपने ढंग से पुनः वर्गीकृत भी किया था और परम्परा वा अनुश्रुति से प्राप्त आगमों के वे अंश जो उनके पूर्व की वाचनाओं में समाहित नहीं थे उन्हें समाहित भी किया। उदाहरण के रूप में ज्ञाताधर्मकथा में सम्पूर्ण द्वितीय श्रुतरकन्ध के दस वर्ग और अध्ययन इसी वाचना में समाहित किये गये हैं, क्योंकि श्वेताम्बर, यापनीय एवं दिगम्बर परम्परा के प्रतिक्रमणसूत्र एवं अन्यत्र उसके उन्नीस अध्ययनों का ही उल्लेख

मिलता है। प्राचीन ग्रन्थों में द्वितीय श्रुतस्कन्ध के दस वर्गों का कहीं कोई निर्देश नहीं है।

इसी प्रकार अन्तकृद्दशा, अनुत्तरीपपातिकदशा और विपाकदशा के सन्दर्भ में स्थानाग में जो दस-दस अध्याय होने की सूचना है उसके स्थान पर इनमें भी जो वर्गों की व्यवस्था की गई वह देवधि की ही देन है। उन्होंने इनके विलुप्त अध्यायों के स्थान पर अनुश्रुति से प्राप्त सामग्री जोड़कर इन ग्रन्थों को नये सिरे से व्यवस्थित किया था।

यह एक सुनिश्चित सत्य है कि आज प्रश्नव्याकरण की आखव-सँवर द्वार सम्बन्धी जो विषय-वस्तु उपलब्ध है वह किसके द्वारा संकलित व संपादित है यह निर्णय करना कठिन कार्य है किन्तु यदि हम यह मानते हैं कि नन्दीसूत्र के रचयिता देवधि न होकर देव वाचक हैं, जो देवधि से पूर्व के हैं तो यह कल्पना भी की जा सकती है कि देवधि ने आखव व संवर द्वार सम्बन्धी विषय-वस्तु को लेकर प्रश्नव्याकरण की प्राचीन विषय-वस्तु का जो विच्छेद हो गया था, उसकी पूर्ति की होगी। इस प्रकार ज्ञाताधर्म से लेकर विपाकसूत्र तक के छः अंग आगमों में जो आंशिक या सम्पूर्ण परिवर्तन हुए हैं, वे देवधि के द्वारा ही किये हुए माने जा सकते हैं। यद्यपि यह परिवर्तन उन्होंने किसी पूर्व परम्परा या अनुश्रुति के आधार पर ही किया होगा यह विश्वास किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त देवधि ने एक यह महत्त्वपूर्ण कार्य भी किया कि जहाँ अनेक आगमों में एक ही विषय-वस्तु का विस्तृत विवरण था वहाँ उन्होंने एक स्थल पर विस्तृत विवरण था रखकर अन्यत्र उस ग्रन्थ का निर्देश कर दिया। हम देखते हैं कि भगवती आदि कुछ प्राचीन स्तरों के आगमों में भी, उन्होंने प्रज्ञापना, नन्दी, अनुयोगद्वार जैसे परवर्ती आगमों का निर्देश करके आगमों में विषय-वस्तु के पुनरावर्तन को कम किया। इसी प्रकार जब एक ही आगम में कोई विवरण बार-बार आ रहा था तो उस विवरण के प्रथम शब्द के बाद "जाव" शब्द रखकर अन्तिम शब्द का उल्लेख कर उसे संक्षिप्त बना दिया। इसके साथ ही उन्होंने कुछ महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ जो यद्यपि परवर्तीकाल की थीं, उन्हें भी आगमों में दे दिया जैसे स्थानांगसूत्र में सात निह्नवों और सात गणों का उल्लेख। इस प्रकार वल्लभी की वाचना में न केवल आगमों को पुस्तकारूढ़ किया गया अपितु उनकी विषय-वस्तु को सुव्यवस्थित और संपादित भी किया गया। सम्भव है कि इस सन्दर्भ में प्रक्षेप और विलोपन भी हुआ होगा किन्तु यह सब भी अनुश्रुति या परम्परा के आधार पर ही किया गया था अन्यथा आगमों को मान्यता न मिलती।

सामान्यतया यह माना जाता है कि वाचनाओं में केवल अनुश्रुति से प्राप्त आगमों को ही संकलित किया जाता था किन्तु मेरी दृष्टि में वाचनाओं में न केवल आगम पाठों को सम्पादित एवं संकलित किया जाता अपितु उनमें नवनिर्मित ग्रन्थों को मान्यता भी प्रदान की जाती और जो आचार और विचार सम्बन्धी मतभेद होते थे उन्हें समन्वित या निराकृत भी किया जाता था। इसके अतिरिक्त इन वाचनाओं में वाचना स्थलों की अपेक्षा से आगमों के भाषिक स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ है।

उदाहरण के रूप में जो आगम पटना अथवा उड़ीसा के कुमारी पर्वत (खण्डगिरि) में सुव्यवस्थित किये गये थे, उनकी भाषा अर्धमागधी ही रही, किन्तु जब वे आगम माथुरा और वल्लभी में पुनः सम्पादित किये गये तो उनमें भाषिक परिवर्तन आ गये। माथुरी वाचना में जो आगमों का स्वरूप तय हुआ था, उस पर व्यापक रूप से शौरसेनी का प्रभाव आ गया था। दुर्भाग्य से आज हमें माथुरी वाचना के आगम उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु इन आगमों के जो उद्धृत अंश उत्तर भारत की अचेल धारा यापनीय संघ के ग्रन्थों में और उनकी टीकाओं में उद्धृत मिलते हैं, उनमें हम यह पाते हैं कि भावगत समानता के होते हुए भी शब्द-रूपों और भाषिक स्वरूप में भिन्नता है। उत्तराध्ययन, आचारांग, निशीथ, कल्प, व्यवहार आदि से जो अंश भगवतीआराधना की टीका में उद्धृत हैं वे अपने भाषिक

स्वरूप और पाठभेद की अपेक्षा से वल्लभी के आगमों से किंचित् भिन्न हैं।

अतः इन वाचनाओं के कारण आगमों में न केवल भाषिक परिवर्तन हुए अपितु पाठान्तर भी अस्तित्व में आये हैं। वल्लभी की अन्तिम वाचना में वल्लभी की ही नागार्जुनीय वाचना के पाठान्तर तो लिखे गये, किन्तु माथुरी वाचना के पाठान्तर समाहित नहीं हैं। यद्यपि कुछ विद्वानों की मान्यता है कि वल्लभी की देवर्धि की वाचना का आधार माथुरी वाचना के आगम थे और यही कारण था कि उन्होंने नागार्जुनीय वाचना के पाठान्तर दिये हैं। किन्तु मेरा मन्तव्य इससे भिन्न है। मेरी दृष्टि में उनकी वाचना का आधार भी परम्परा से प्राप्त नागार्जुनीय वाचना के पूर्व के आगम रहे होंगे, किन्तु जहाँ उन्हें अपनी परम्परागत वाचना का नागार्जुनीय वाचना से मतभेद दिखायी दिया, वहाँ उन्होंने नागार्जुनीय वाचना का उल्लेख कर दिया, क्योंकि माथुरी वाचना स्पष्टतः शौरसेनी से प्रभावित थी, दूसरे उस वाचना के आगमों के जो भी अवतरण आज मिलते हैं उनमें कुछ वर्तमान आगमों की वाचना से मेल नहीं खाते हैं। उनसे यही फलित होता है कि देवर्धि की वाचना का आधार स्कंदिल की वाचना तो नहीं रही है। तीसरे माथुरी वाचना के जो अवतरण आज यापनीय ग्रन्थों में मिलते हैं, उनसे इतना तो फलित होता है कि माथुरी वाचना के आगमों में भी वस्त्र-पात्र सम्बन्धी एवं स्त्री की तद्भव मुक्ति के उल्लेख तो थे, किन्तु उनमें अचेलता को उत्सर्ग मार्ग माना गया था। यापनीय ग्रन्थों में उद्धृत, अचेलपक्ष के सम्पोषक कुछ अवतरण तो वर्तमान वल्लभी वाचना के आगमों यथा आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध आदि में मिलते हैं किन्तु कुछ अवतरण वर्तमान वाचना में नहीं मिलते हैं। अतः माथुरी वाचना के पाठान्तर वल्लभी की देवर्धि की वाचना में समाहित नहीं हुए हैं, इसकी पुष्टि होती है। मुझे ऐसा लगता है कि वल्लभी की देवर्धि की वाचना का आधार माथुरी वाचना के आगम न होकर उनकी अपनी ही गुरु-परम्परा से प्राप्त आगम रहे होंगे। मेरी दृष्टि में उन्होंने नागार्जुनीय वाचना के ही पाठान्तर अपनी वाचना में समाहित किये -- क्योंकि दोनों में भाषा एवं विषय-वस्तु दोनों ही दृष्टि से कम ही अन्तर था। माथुरी वाचना के आगम या तो उन्हें उपलब्ध ही नहीं थे अथवा भाषा एवं विषय-वस्तु दोनों की अपेक्षा भिन्नता अधिक होने से उन्होंने उसे आधार न बनाया हो। फिर भी देवर्धि को परम्परा से प्राप्त जो आगम थे, उनका और माथुरी वाचना के आगमों का मूलस्रोत तो एक ही था। हो सकता है कि दोनों में कालक्रम में भाषा एवं विषय-वस्तु की अपेक्षा क्वचित् अन्तर आ गये हों। अतः यह दृष्टिकोण भी समुचित नहीं होगा कि देवर्धि की वल्लभी वाचना के आगम माथुरी वाचना के आगमों से नितान्त भिन्न थे।

यापनीयों के आगम

यापनीय संघ के आचार्य आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, कल्प, निशीथ, व्यवहार, आवश्यक आदि आगमों को मान्य करते थे। इस प्रकार आगमों के विच्छेद होने की जो दिगम्बर मान्यता है, वह उन्हें स्वीकार्य नहीं थी। यापनीय आचार्यों द्वारा निर्मित किसी भी ग्रन्थ में कहीं भी यह उल्लेख नहीं है कि अंगादि-आगम विच्छिन्न हो गये हैं। वे आचारांग, सूत्रकृतांग, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, निशीथ, बृहत्कल्प, व्यवहार, कल्प आदि को अपनी परम्परा के ग्रन्थों के रूप में उद्धरित करते थे। इस सम्बन्ध में आदरणीय पं. नाथूराम प्रेमी (जैन साहित्य और इतिहास, पृ. 91) का यह कथन द्रष्टव्य है-- "अक्सर ग्रन्थकार किसी मत का खण्डन करने के लिए उसी मत के ग्रन्थों का हवाला दिया करते हैं और अपने सिद्धान्त को पुष्ट करते हैं। परन्तु इस टीका (अर्थात् भगवती-आराधना की विजयोदया टीका) में ऐसा नहीं है, इसमें तो टीकाकार ने अपने ही आगमों का हवाला देकर अचेलता सिद्ध की है।"

आगमों के अस्तित्व को स्वीकार कर उनके अध्ययन और स्वाध्याय सम्बन्धी निर्देश भी यापनीय ग्रन्थः

मूलाचार में स्पष्ट रूप से उपलब्ध होते हैं। मूलाचार (5/80-82) में चार प्रकार के आगम ग्रन्थों का उल्लेख है-- 1. गणधर कथित, 2. प्रत्येकबुद्ध कथित, 3. श्रुतकेवलि कथित और 4. अभिन्न दशपूर्वी कथित।

इसके साथ ही यह भी कहा गया है कि संयमी पुरुषों एवं स्त्रियों अर्थात् मुनियों एवं आर्यिकाओं के लिए अस्वाध्यायकाल में इनका स्वाध्याय करना वर्जित है किन्तु इनके अतिरिक्त कुछ अन्य ऐसे ग्रन्थ हैं जिनका अस्वाध्यायकाल में पाठ किया जा सकता है, जैसे -- आराधना (भगवतीआराधना या आराधनापताका), निर्युक्ति, मरणातिभक्ति, संग्रह (पंचसंग्रह या संग्रहणीसूत्र), स्तुति (देविदत्थु), प्रत्याख्यान (आउरपच्चक्खाण एवं महापच्चक्खाण), धर्मकथा (ज्ञाताधर्मकथा) तथा ऐसे ही अन्य ग्रन्थ।

यहाँ पर चार प्रकार के आगम ग्रन्थों का जो उल्लेख हुआ है, उस पर थोड़ी विस्तृत चर्चा अपेक्षित है, क्योंकि मूलाचार की मूलगाथा में मात्र इन चार प्रकार के सूत्रों का उल्लेख हुआ है। उसमें इन ग्रन्थों का नाम निर्देश नहीं है। मूलाचार के टीकाकार वसुनन्दि न तो यापनीय परम्परा से सम्बद्ध थे और न उनके सम्मुख ये ग्रन्थ ही थे। अतः इस प्रसंग में उनकी प्रत्येक-बुद्धकथित की व्याख्या पूर्णतः भ्रान्त ही है। मात्र यही नहीं, अगली गाथा की टीका में उन्होंने "थुदि", "पच्चक्खाण" एवं "धम्मकहा" को जिन ग्रन्थों से समीकृत किया है वह तो और भी अधिक भ्रामक है। आश्चर्य है कि वे "थुदि" से देवागमस्तोत्र और परमेष्ठिस्तोत्र को समीकृत करते हैं, जबकि मूलाचार का मन्तव्य अन्य ही है। जहाँ तक गणधरकथित ग्रन्थों का प्रश्न है वहाँ लेखक का तात्पर्य आचारांग, सूत्रकृतांग आदि अंग ग्रन्थों से है, प्रत्येकबुद्धकथित ग्रन्थों से तात्पर्य प्रश्नव्याकरण, उत्तराध्ययन और ऋषिभाषित आदि से है, क्योंकि ये ग्रन्थ प्रत्येकबुद्धकथित माने जाते हैं। ये ग्रन्थ प्रत्येकबुद्धकथित हैं, ऐसा स्पष्ट उल्लेख भी समवायांग, उत्तराध्ययन निर्युक्ति आदि में है। श्रुतकेवलिकथित ग्रन्थों से तात्पर्य आचार्य शय्यम्भवरचित दशवैकालिक, आचार्य भद्रबाहु (प्रथम) रचित बृहत्कल्प, दशाश्रुतस्कन्ध (आयारदसा), व्यवहार आदि से है तथा अभिन्न दशपूर्वीकथित ग्रन्थों से उनका तात्पर्य कम्मपयडी आदि "पूर्वी" साहित्य के ग्रन्थों से है। यहाँ स्मरण रखने योग्य तथ्य यह है कि यदि यापनीय परम्परा में ये ग्रन्थ विच्छिन्न माने जाते, तो फिर इनके स्वाध्याय का निर्देश लगभग ईसा की छठी शताब्दी के ग्रन्थ मूलाचार में कैसे हो पाता। दिगम्बर परम्परा के अनुसार तो वीरनिर्वाण के 683 वर्ष पश्चात् अर्थात् ईसा की दूसरी शती में आचारांग धारियों की परम्परा भी समाप्त हो गई थी फिर वीरनिर्वाण के एक हजार वर्ष पश्चात् भी आचारांग आदि के स्वाध्याय करने का निर्देश देने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है। ज्ञातव्य है कि मूलाचार की यही गाथा कुन्दकुन्द के सुत्तपाहुड में भी मिलती है, किन्तु कुन्दकुन्द आगमों के उपर्युक्त प्रकारों का उल्लेख करने के पश्चात् उनकी स्वाध्याय विधि के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहते हैं। जबकि मूलाचार स्पष्ट रूप से उनके स्वाध्याय का निर्देश करता है। मात्र यही नहीं मूलाचार में आगमों के अध्ययन की उपधान विधि अर्थात् तप पूर्वक आगमों के अध्ययन करने की विधि का भी उल्लेख है। आगमों के अध्ययन की यह उपधान विधि श्वेताम्बरों में आज भी प्रचलित है। विधिमार्गप्रपा (पृ. 49-51) में इसका विस्तृत उल्लेख है। इससे यह भी स्पष्ट रूप से प्रमाणित हो जाता है कि मूलाचार आगमों को विच्छिन्न नहीं मानता था। यापनीय परम्परा में ये अंग आगम और अंगबाह्य आगम प्रचलन में थे, इसका एक प्रमाण यह भी है कि नवीं शताब्दी में यापनीय आचार्य अपगजित भगवतीआराधना की टीका में न केवल इन आगमों से अनेक उद्धरण प्रस्तुत करते हैं, अपितु स्वयं दशवैकालिक पर टीका भी लिख रहे हैं। मात्र यही नहीं, यापनीय पर्युपण के अवसर पर कल्पसूत्र का वाचन भी करते थे, ऐसा निर्देश स्वयं दिगम्बराचार्य कर रहे हैं।

क्या यापनीय आगम वर्तमान श्वेताम्बर आगमों से भिन्न थे ?

इस प्रसंग में यह विचारणीय है कि यापनीयों के ये आगम कौन से थे ? क्या वे इन नामों से उपलब्ध श्वेताम्बर परम्परा के आगमों से भिन्न थे या यही थे ? हमारे कुछ दिगम्बर विद्वानों ने यह कहने का अतिसाहस भी किया है कि ये आगम वर्तमान श्वेताम्बर आगमों से सर्वथा भिन्न थे। पं. कैलाशचन्द्रजी (जैन साहित्य का इतिहास, पूर्व पीठिका, पृ. 525) ने ऐसा ही अनुमान किया है, वे लिखते हैं "जैन परम्परा में दिगम्बर और श्वेताम्बर के समान एक यापनीय संघ भी था। यह संघ यद्यपि नग्नता का पक्षधर था, तथापि श्वेताम्बरीय आगमों को मानता था। इस संघ के आचार्य अपराजितसूरि की संस्कृत टीका भगवतीआराधना नामक प्राचीन ग्रन्थ पर है। जो मुद्रित भी हो चुकी है। उसमें नग्नता के समर्थन में अपराजितसूरि ने आगम ग्रन्थों से अनेक उद्धरण दिये हैं, जिनमें से अनेक उद्धरण वर्तमान आगमों में नहीं मिलते। आदरणीय पंडितजी ने यहाँ जो "अनेक" शब्द का प्रयोग किया है वह भ्रान्ति उत्पन्न करता है। मैंने अपराजितसूरि की टीका में उद्धृत आगमिक सन्दर्भों की श्वेताम्बर आगमों से तुलना करने पर स्पष्ट रूप से यह पाया है कि लगभग 90 प्रतिशत सन्दर्भों में आगमों की अर्धमागधी प्राकृत पर शौरसेनी प्राकृत के प्रभाव के फलस्वरूप हुए आंशिक पाठभेद को छोड़कर कोई अन्तर नहीं है। जहाँ किंचित् पाठभेद है वहाँ भी अर्थ-भेद नहीं है। आदरणीय पंडितजी ने इस ग्रन्थ में भगवतीआराधना की विजयोदया टीका (पृ. 320-327) से एक उद्धरण दिया है, जो वर्तमान आचारांग में नहीं मिलता है। उनके द्वारा प्रस्तुत वह उद्धरण निम्न है--

तथा घोक्तमाचारङ्गे -- सुदं *आउस्सत्तो* भगवदा एवमक्खादा इह खलु संयमाभिमुख दुविहा इत्थी पुरिसा जादा हवति। तं जहा सक्वसमण्णागदे णो सक्वसमण्णागदे चेव। तत्थ जे सक्वसमण्णागदे थिणा* हत्थपाणीपादे सक्विंदिय समण्णागदे तस्स णं णो कप्पदि एगमवि वत्थ धारितं एवं परिहिउं एवं अण्णत्थ एणेण पडिल्लेहणेण इति।

निश्चय ही उपर्युक्त सन्दर्भ आचारांग में इसी रूप में शब्दशः नहीं है किन्तु "सक्वसमन्नागय" नामक पद और उक्त कथन का भाव आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के अष्टम अध्यायन में आज भी सुरक्षित है। अतः इस आधार पर यह कल्पना करना अनुचित होगा कि यापनीय परम्परा का आचारांग, वर्तमान में श्वेताम्बर परम्परा में उपलब्ध आचारांग से भिन्न था। क्योंकि अपराजितसूरि द्वारा उद्धृत आचारांग के अन्य सन्दर्भ आज भी श्वेताम्बर परम्परा के इसी आचारांग में उपलब्ध है। अपराजित ने आचारांग के "लोकविचय" नामक द्वितीय अध्यायन के पंचम उद्देशक का उल्लेखपूर्वक जो उद्धरण दिया है, वह आज भी उसी अध्याय के उसी उद्देशक में उपलब्ध है। इसी प्रकार उसमें "अहं पुण एवं जाणेज्ज उपातिकंते हेमंते-- ठविज्ज" जो यह पाठ आचारांग से उद्धृत है-- वह भी वर्तमान आचारांग के अष्टम अध्यायन के चतुर्थ उद्देशक में है। उत्तराध्ययन, सूत्रकृतांग, कल्प आदि के सन्दर्भों की भी लगभग यही स्थिति है। अब हम उत्तराध्ययन के सन्दर्भों पर विचार करेंगे। आदरणीय पंडितजी ने जैन साहित्य की पूर्वपीठिका में अपराजित की भगवतीआराधना की टीका की निम्न दो गाथाएँ उद्धृत की हैं--

परिचत्तेसु वत्थेसु ण पुणो चेलनादिए ।
अचेलपवरे भिक्खू जिणरूपधरे सदा ।।
सचेलगो सुखी भवदि असुखी वा वि अचेलगो ।
अहं तो सचेलो होक्खामि इदि भिक्खु न चितए ।।

पंडितजी ने इन्हें उत्तराध्ययन की गाथा कहा है और उन्हें वर्तमान उत्तराध्ययन में अनुपलब्ध भी बताया है। किन्तु जब हमने स्वयं पंडितजी द्वारा ही सम्पादित एवं अनुवादित भगवतीआराधना की टीका देखी तो उसमें इन्हें

स्पष्ट रूप से उत्तराध्ययन की गाथायें नहीं कहा गया है। उसमें मात्र "इमानि च सूत्राणि अचेलतां दर्शयन्ति" कहकर इन्हें उद्धृत किया गया है। आदरणीय पंडितजी को यह भ्रान्ति कैसे हो गई, हम नहीं जानते। पुनः ये गाथाएँ भी चाहे शब्दशः उत्तराध्ययन में न हों, किन्तु भावरूप से तो दोनों ही गाथाएँ और शब्द-रूप से इनके आठ चरणों में से चार चरण तो उपलब्ध ही हैं। उपरोक्त उद्धृत गाथाओं से तुलना के लिए उत्तराध्ययन की ये गाथाएँ प्रस्तुत हैं--

"परिजुणोहि वत्थोहि होक्खामि त्ति अचेलए।
अदुवा "सवेलए होक्खं" इदं भिक्खू न चिन्तए।।
"एगया अचेलए होइ सवले यावि एगया।"
एयं धम्महिंयं नट्ठया नाणी नो परिदेवए।।

-- उत्तराध्ययन, 2/12-13

जिस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा में ही चूर्णि में आगत पाठों और शीलांक या अभयदेव की टीका में आगत पाठों में अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत की दृष्टि से पाठभेद रहा है, उसी प्रकार यापनीय परम्परा के आगम के पाठ माथुरी वाचना के होने के कारण शौरसेनी प्राकृत से युक्त रहे होंगे। किन्तु यहाँ यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि प्राचीन स्तर के सभी आगम ग्रन्थ मूलतः अर्धमागधी के रहे हैं। उनमें जो महाराष्ट्री या शौरसेनी के शब्द-रूप उपलब्ध होते हैं, वे परवर्ती हैं। विजयोदया में आचारांग आदि के सभी आगमिक सन्दर्भों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे पूर्णतः शौरसेनी प्रभाव से युक्त हैं। मूलतः आचारांग, उत्तराध्ययन आदि आगम तो निश्चित ही अर्धमागधी में रहे हैं। यहाँ दो सम्भावनाएँ हो सकती हैं, प्रथम यही है कि माथुरी वाचना के समय उन पर शौरसेनी का प्रभाव आया हो और यापनीयों ने उसे मान्य रखा हो। दूसरे यह है कि यापनीयों द्वारा उन आगमों का शौरसेनीकरण करते समय श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आचारांग आदि से उनमें पाठभेद हो गया हो, किन्तु इस आधार पर भी यह कहना उचित नहीं होगा कि यापनीय और श्वेताम्बर परम्परा के आगम भिन्न थे। ऐसा पाठभेद तो एक ही परम्परा के आगमों में भी उपलब्ध है। स्वयं पं. कैलाशचन्द्रजी ने अपने ग्रन्थ जैन साहित्य का इतिहास-पूर्वपीठिका में अपराजितसूरि की भगवतीआराधना की टीका से आचारांग का जो उपर्युक्त पाठ दिया है, उसमें और स्वयं उनके द्वारा सम्पादित भगवतीआराधना की अपराजितसूरि की टीका में उद्धृत पाठ में ही अन्तर है-- एक में "धीण" पाठ है-- दूसरे में "धीरांग" पाठ है, जिससे अर्थ-भेद भी होता है। एक ही लेखक और सम्पादक की कृति में भी पाठभेद हो तो भिन्न परम्पराओं में किंचित् पाठभेद होना स्वाभाविक है, किन्तु उससे उनकी पूर्ण भिन्नता की कल्पना नहीं की जा सकती है। पुनः यापनीय परम्परा द्वारा उद्धृत आचारांग, उत्तराध्ययन आदि के उपर्युक्त पाठों की अचेलकत्व की अवधारणा का प्रश्न है, वह श्वेताम्बर परम्परा के आगमों में आज भी उपलब्ध है।

इसी प्रसंग में उत्तराध्ययन की जो अन्य गाथायें उद्धृत की गई हैं, वे आज भी उत्तराध्ययन के 23वें अध्ययन में कुछ पाठभेद के साथ उपलब्ध हैं। आराधना की टीका में उद्धृत इन गाथाओं पर भी शौरसेनी का स्पष्ट प्रभाव है। यह भी स्पष्ट है कि मूल उत्तराध्ययन अर्धमागधी की रचना है। इससे ऐसा लगता है कि यापनीयों ने अपने समय के अविभक्त परम्परा के आगमों को मान्य करते हुए भी उन्हें शौरसेनी प्राकृत में रूपान्तरित करने का प्रयास किया था, अन्यथा अपराजित की टीका में मूल आगमों के उद्धरणों का शौरसेनी रूप न मिलकर अर्धमागधी रूप ही मिलता। इस सम्बन्ध में पं. नाथूरामजी प्रेमी (जैन साहित्य और इतिहास, पृ. 60) का निम्न वक्तव्य विचारणीय है--

"श्वेताम्बर सम्प्रदाय मान्य जो आगम ग्रन्थ हैं, यापनीय संघ शायद उन सभी को मानता था, परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि दोनों के आगमों में कुछ पाठभेद था और उसका कारण यह हो कि उपलब्ध वल्लभी वाचना के पहले की कोई वाचना (संभवतः माथुरी वाचना) यापनीय संघ के पास थी, क्योंकि विजयोदयाटीका में आगमों के जो उद्धरण हैं वे श्वेताम्बर आगमों में बिल्कुल ज्यों के त्यों नहीं बल्कि कुछ पाठभेद के साथ मिलते हैं। यापनीयों के पास स्कंदिल की माथुरी वाचना के आगम थे यह मानने में एक बाधा आती है, वह यह कि स्कंदिल की वाचना का काल वीरनिर्वाण 827-840 अर्थात् ईसा की तृतीय शती का अन्त और चतुर्थशती का प्रारम्भ है, जबकि संघभेद उसके लगभग 200 वर्ष पहले ही घटित हो चुका था। किन्तु पं. नाथूरामजी यह शंका इस आधार पर निरस्त हो जाती है कि वास्तविक सम्प्रदाय-भेद ईस्वी सन् की द्वितीय शताब्दी में न होकर पाँचवीं शती में हुआ। यद्यपि यह माना जाता है कि फल्गुभिन्न की परम्परा की कोई वाचना थी, किन्तु इस वाचना के सम्बन्ध में स्पष्ट निर्देश कहीं भी उपलब्ध नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि यापनीय आगम वही थे, जो उन नामों से आज श्वेताम्बर परम्परा में उपलब्ध हैं। मात्र उनमें किंचित् पाठभेद था तथा भाषा की दृष्टि से शौरसेनी का प्रभाव अधिक था। यापनीय ग्रन्थों में आगमों के जो उद्धरण मिलते हैं उनमें कुछ तो वर्तमान श्वेताम्बर परम्परा के आगमों में अनुपलब्ध हैं, कुछ पाठान्तर के साथ उपलब्ध हैं। जो अनुपलब्ध हैं, उनके सम्बन्ध में दो विकल्प हैं-- प्रथम यह कि मूलागमों के वे अंश बाद के श्वेताम्बर आचार्यों ने अमली वाचना में निकाल दिये और दूसरा यह कि वे अंश यापनीय मान्यता के प्रक्षिप्त अंश हों। किन्तु प्रथम विकल्प में इसलिए विश्वास नहीं होता कि यदि परवर्ती वाचनाओं में वे सब बातें, जो उस युग के आचार्यों को मान्य नहीं थीं या उनकी परम्परा के विरुद्ध थीं, निकाल दी गई होतीं तो वर्तमान श्वेताम्बर आगमों में अचेलता के समर्थक सभी अंश निकाल दिये जाने चाहिए थे। मुझे ऐसा लगता है कि आगमों की वाचनाओं (संकलन) के समय केवल वे ही अंश नहीं आ पाये थे जो विस्मृत हो गये थे अथवा पुनरावृत्ति से बचने के लिए "जाव" पाठ देकर वहाँ से हटा दिये गये थे। मान्यता भेद के कारण कुछ अंश जानबूझकर निकाले गये हों, ऐसा कोई भी विश्वसनीय प्रमाण हमें नहीं मिलता है। किन्तु यह हो सकता है कि वे अंश किसी अन्य गण की वाचना के रहे हों, जिनके प्रतिनिधि उस वाचना में सम्मिलित नहीं थे। कुछ ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं कि विभिन्न गणों में वाचना-भेद या पाठभेद होता था। विभिन्न गणों के निर्माण का एक कारण वाचना भेद भी माना गया है। यह कहा जाता है कि महावीर के ग्यारह गणधरों की नौ वाचनाएँ थीं अर्थात् महावीर के काल में भी वाचना-भेद था। क्योंकि प्रत्येक वाचनाचार्य की अध्यापन शैली भिन्न होती थी। ज्ञातव्य है कि जैन परम्परा में शब्द के स्थान पर अर्थ पर बल दिया जाता था, तीर्थंकर को अर्थ का प्रवर्तक माना गया था जबकि वैदिक परम्परा शब्द प्रधान थी। यही कारण है कि जैनों ने यह माना कि चाहे शब्द-भेद हो, पर अर्थ-भेद नहीं होना चाहिए। यही कारण है कि वाचना भेद बढ़ते गये। हमें यापनीय ग्रन्थों में उपलब्ध आगमिक उद्धरणों से वर्तमान आगमों के पाठों का जो पाठभेद मिलता है उनका कारण वाचना-भेद है, अर्थ-भेद नहीं, क्योंकि ऐसे अनुपलब्ध अंशों या पाठभेदों में विषय प्रतिपादन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं है। किन्तु इस सम्भावना से पूरी तरह इन्कार नहीं किया जा सकता कि स्वयं यापनीयों ने भी अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए कुछ अंश जोड़े हों अथवा परिवर्तित किये हों। श्वेताम्बर परम्परा में भी वल्लभी वाचना में या उसके पश्चात् भी आगमों में कुछ अंश जुड़ते रहे हैं-- इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। हम पण्डित कैलाशचन्द्रजी (जैन साहित्य का इतिहास पूर्वपीठिका, पृ. 527) के इस कथन से सहमत हैं कि वल्लभी वाचना के समय और उसके बाद भी आगमों के स्वरूप में कुछ परिवर्तन हुए हैं। किन्तु उनके द्वारा प्रयुक्त "बहुत" शब्द आपत्तिजनक है। फिर भी ध्यान रखना होगा कि इनमें प्रक्षेप ही

अधिक हुआ है, विस्मृति को छोड़कर जान-बूझकर निकाला कुछ नहीं गया है।

किन्तु ऐसा प्रक्षेप मात्र श्वेताम्बरों ने किया है और दिगम्बरों तथा यापनीयों ने नहीं किया है-- यह नहीं कहा जा सकता। सम्भव है कि यापनीय परम्परा ने भी आगमों में अपने अनुकूल कुछ अंश प्रक्षिप्त किये हों। मूलाचार, भगवतीआराधना आदि ग्रन्थों को देखने से ऐसा स्पष्ट लगता है कि उन्होंने अर्धमागधी आगम साहित्य की ही सैकड़ों गाथायें शौरसेनी प्राकृत में रूपान्तरित करके अपने इन ग्रन्थों को रचना की है, मूलाचार का लगभग आधा भाग प्रकीर्णकों, निर्युक्तियों एवं आगमों की गाथाओं से निर्मित है। यह तो निश्चित है कि प्राचीन आगम साहित्य अर्धमागधी में था। यापनीय ग्रन्थों में उपलब्ध आगमिक सन्दर्भ के सदैव शौरसेनी रूप ही मिलते हैं, जो इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण हैं कि उन्होंने अर्धमागधी आगम साहित्य को शौरसेनी में अपने ढंग से रूपान्तरित करने का प्रयत्न किया होगा और इस प्रयत्न में उन्होंने अपने मत की पुष्टि का भी प्रयास किया होगा।

अतः इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि यापनीय आचार्यों ने भी मूल आगमों के साथ छेड़छाड़ की थी और अपने मत की पुष्टि हेतु उन्होंने उनमें परिवर्धन और प्रक्षेप भी किये।

मात्र श्वेताम्बर और यापनीय ही आगमों के साथ छेड़छाड़ करने के दोषी नहीं हैं, बल्कि दिगम्बर आचार्य और पण्डित भी इस दौड़ में पीछे नहीं रहे हैं। यापनीय ग्रन्थों में दिगम्बर परम्परा के द्वारा जो प्रक्षेपण और परिवर्तन किये गये हैं वे तो और भी अधिक विचारणीय हैं, क्योंकि इनके कारण अनेक यापनीय ग्रन्थों का यापनीय स्वरूप ही विकृत हो गया है। हमारे दिगम्बर विद्वान् श्वेताम्बर ग्रन्थों में प्रक्षेपण की बात तो कहते हैं किन्तु वे इस बात को विस्मृत कर जाते हैं कि स्वयं उन्होंने यापनीय और अपने ग्रन्थों में भी किस प्रकार हेर-फेर किये हैं। इस सम्बन्ध में मैं अपनी ओर से कुछ न कहकर दिगम्बर विद्वानों का मत प्रस्तुत करना चाहूँगा।

पं. कैलाशचन्द्रजी स्व-सम्पादित "भगवतीआराधना" की प्रस्तावना (पृ. 9) में लिखते हैं-- "विजयोदया के अध्ययन से प्रकट होता है कि उनके सामने टीका लिखते समय जो मूलग्रन्थ उपस्थित था, उसमें और वर्तमान मूल (ग्रन्थ) में अन्तर है। अनेक गाथाओं में वे शब्द नहीं मिलते जो टीकाओं में हैं।"

इससे स्पष्ट होता है कि जब दिगम्बर आचार्यों ने इस यापनीय ग्रन्थ को अपने में समाहित किया होगा तो इसकी मूल गाथाओं के शब्दों में भी हेर-फेर कर दिया होगा। यदि पं. कैलाशचन्द्रजी ने उन सभी स्थलों का जहाँ उन्हें पाठभेद प्रतीत हुआ, निर्देश किया होता तो सम्भवतः हम अधिक प्रामाणिकता से कुछ बात कह सकते थे। टीका और मूल के सारे अन्तरों का हम भी अभी तक खोज नहीं पाये हैं। अतः अभी तो उनके मत को ही विश्वसनीय मानकर संतोष करेंगे। स्वयंभू के रिट्ठनेभिचारिउ (हरिवंशपुराण) में भी इसी प्रकार की छेड़-छाड़ हुई थी। इस सन्दर्भ में पं. नाथूरामजी प्रेमी (जैन साहित्य और इतिहास, पृ. 202) लिखते हैं-- "इसमें तो संदेह नहीं है कि इस अन्तिम अंश में मुनि जसकित्ति (यशकीर्ति) का भी हाथ है परन्तु यह कितना है यह निर्णय करना कठिन है। बहुत कुछ सोच-विचार के बाद हम इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि मुनि जसकित्ति को इस ग्रन्थ की कोई ऐसी जीर्ण-शीर्ण प्रति मिली थी जिसके अन्तिम पत्र नष्ट-भ्रष्ट थे और शायद अन्य प्रतियाँ दुर्लभ थीं, इसलिए उन्होंने गोपगिरि (ग्वालियर) के समीप कुमरनगरी के जैन मन्दिर में व्याख्यान करने के लिए इसे ठीक किया अर्थात् जहाँ-जहाँ जितना अंश पढ़ा नहीं गया था या नष्ट हो गया था, उसको स्वयं रचकर जोड़ दिया और जहाँ-जहाँ जोड़ा, वहाँ-वहाँ अपने परिश्रम के एवज में अपना नाम भी जोड़ दिया। इससे स्पष्ट है कि कुछ दिगम्बर आचार्यों ने दूसरों की रचनाओं को भी अपने नाम पर चढ़ा लिया।

इसी प्रकार तिलोयपण्णत्ति में भी पर्याप्त रूप से मिलावट हुई है। जहाँ "तिलायपण्णत्ति" का ग्रन्थ-परिमाण 8000 श्लोक बताया गया है वहाँ वर्तमान तिलोयपण्णत्ति का श्लोक-परिमाण 9340 है अर्थात् लगभग 1340 श्लोक अधिक हैं। पं. नाथुरामजी प्रेमी के शब्दों में -- ये इस बात के संकेत देते हैं कि पीछे से इसमें मिलावट की गयी है। इस सन्दर्भ में पं. फूलचन्द्रशास्त्री के, जैन साहित्य भास्कर, भाग 11, अंक प्रथम में प्रकाशित "वर्तमान तिलोयपण्णत्ति और उसके रचनाकार का विचार" नामक लेख के आधार पर वे लिखते हैं-- "उससे मालूम होता है कि यह ग्रन्थ अपने असल रूप में नहीं रहा है। उसमें न केवल बहुत सा लगभग एक अष्टमांश प्रक्षिप्त है, बल्कि बहुत-सा परिवर्तन और परिशोध भी किया गया है, जो मूल ग्रन्थ कर्ता के अनुकूल नहीं है।" इसी प्रकार कसायपाहुडसुत्त की मूल गाथाएँ 180 थीं, किन्तु आज उसमें 233 गाथाएँ मिलती हैं-- अर्थात् उसमें 53 गाथाएँ परवर्ती आचार्यों द्वारा प्रक्षिप्त हैं। यही स्थिति कुन्दकुन्द के समयसार, वट्टकेर के मूलाचार आदि की भी है। प्रकाशित संस्करणों में भी गाथाओं की संख्याओं में बहुत अधिक अन्तर है। समयसार के ज्ञानपीठ के संस्करण में 415 गाथायें हैं तो अजिताश्रम संस्करण में 437 गाथायें। मूलाचार के दिगम्बर जैनग्रन्थमाला के संस्करण में 1242 गाथाएँ हैं तो फलटण के संस्करण में 1414 गाथाएँ हैं अर्थात् 162 गाथाएँ अधिक हैं, यह सब इस बात का प्रमाण है कि दिगम्बर परम्परा के आचार्यों ने श्वेताम्बरों और यापनीयों की अपेक्षा बहुत अधिक प्रक्षेप एवं परिवर्तन किया है। इन उल्लेखों के अतिरिक्त वर्तमान में भी इस प्रकार के परिवर्तनों के प्रयास हुए हैं। जैसे "धवला" के सम्पादन के समय मूल ग्रन्थ षट्खण्डागम से "संजद" पद को हटा देना, ताकि उस ग्रन्थ के यापनीय स्वरूप या स्त्री-मुक्ति के समर्थक होने का प्रमाण नष्ट किया जा सके। इस सन्दर्भ में दिगम्बर समाज में कितनी ऊहापोह मची थी और पक्ष-विपक्ष में कितने लेख लिखे गये थे, यह तथ्य किसी से छिपा नहीं है। यह भी सत्य है कि अन्त में मूलप्रति में "संजद" पद पाया गया। तथापि ताम्रपत्र वाली प्रति में वह पद नहीं लिखा गया, सम्भवतः भविष्य में वह एक नई समस्या उत्पन्न करेगा। इस सन्दर्भ में भी मैं अपनी ओर से कुछ न कहकर दिगम्बर परम्परा के मान्य विद्वान् पं. कैलाशचन्द्रजी के शब्दों को ही उद्धृत कर रहा हूँ। पं. बालचन्द्रशास्त्री की कृति "षट्खण्डागम-परिशौलन" के अपने प्रधान सम्पादकीय में वे लिखते हैं-- "समूचा ग्रन्थ प्रकाशित होने से पूर्व ही एक और विवाद उठ खड़ा हुआ। प्रथम भाग के सूत्र 93 में जो पाठ हमें उपलब्ध था, उसमें अर्थ-संगति की दृष्टि से "संजदासंजद" के आगे "संजद" पद जोड़ने की आवश्यकता प्रतीत हुई, किन्तु इससे फलित होने वाली सैद्धान्तिक व्यवस्थाओं से कुछ विद्वानों के मन आलोडित हुए और वे "संजद" पद को वहाँ जोड़ना एक अनधिकार चेष्टा कहने लगे। इस पर बहुत बार मौखिक शारत्रार्थ भी हुए और उत्तर-प्रत्युत्तर रूप लेखों की श्रृंखलाएँ भी चल पड़ीं, जिनका संग्रह कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थों में प्रकाशित भी हुआ। इसके मौखिक समाधान हेतु जब सम्पादकों ने ताड़पत्रीय प्रतियों के पाठ की सृष्टमता से जाँच करायी तब पता चला कि वहाँ की दोनों भिन्न प्रतियों में हमारा गुझाया गया संजद पद विद्यमान है। इससे दो बातें स्पष्ट हुईं-- एक तो यह कि सम्पादकों ने जो पाठ-संशोधन किया है, वह गम्भीर चिन्तन और समझदारी पर आधारित है और दूसरी यह कि मूल प्रतियों से पाठ मिलान की आवश्यकता अब भी बनी हुई है, क्योंकि जो पाठान्तर मूडबिद्री से प्राप्त हुए थे और तृतीय भाग के अन्त में समाविष्ट किये गये थे उनमें यह संशोधन नहीं मिला।"

मेरे उपर्युक्त लेखन का तात्पर्य किसी की भावनाओं को ठेस पहुँचाना नहीं है किन्तु मूलग्रन्थों के साथ ऐसी छेड़-छाड़ करने के लिए श्वेताम्बर, दिगम्बर, यापनीय-- सभी समानरूप से दोषी हैं। जहाँ श्वेताम्बरों ने अपने ही पूर्व अविभक्त परम्परा के आगमों से ऐसी छेड़-छाड़ की, वहाँ यापनीयों ने श्वेताम्बर मान्य आगमों और आगमिक व्याख्याओं से और दिगम्बरों ने यापनीय परम्परा के ग्रन्थों से ऐसी ही छेड़-छाड़ की।

निष्कर्ष यह है कि इस प्रकार की छेड़-छाड़ प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल तक होती रही है। कोई भी परम्परा इस सन्दर्भ में पूर्ण निरक्षर नहीं कही जा सकती। अतः किसी भी परम्परा का अध्ययन करते समय यह आवश्यक है कि हम उन प्राक्षेप अथवा परिवर्धित अंशों पर निष्पक्ष दृष्टि से विचार करें, क्योंकि इस छेड़-छाड़ में कहीं कुछ ऐसा अवश्य रह जाता है, जिससे यथार्थता को समझा जा सकता है।

परिवर्धनों और परिवर्तनों के बावजूद भी श्वेताम्बर आगमों की एक विशेषता है, वह यह कि वे सब बातें भी जिनका उनकी परम्परा से स्पष्ट विरोध है, उनमें यथावत् रूप से सुरक्षित हैं। यही कारण है कि श्वेताम्बर आगम जैन धर्म के प्राचीन स्वरूप की जानकारी देने में आज भी पूर्णतया सक्षम हैं। आवश्यकता है निष्पक्ष भाव से उनके अध्ययन की। क्योंकि उनमें बहुत कुछ ऐसा मिल जाता है, जिसमें जैनधर्म के विकास और उसमें आये परिवर्तनों को समझा जा सकता है। यही बात किसी सीमा तक यापनीय और दिगम्बर ग्रन्थों के सन्दर्भ में भी कही जा सकती है, यद्यपि श्वेताम्बर साहित्य की अपेक्षा वह अल्प ही है। प्रक्षेप और परिष्कार के बाद भी समग्र जैन साहित्य में बहुत कुछ ऐसा है, जो सत्य को प्रस्तुत करता है, किन्तु शर्त यही है कि उसका अध्ययन ऐतिहासिक और सम्प्रदाय निरपेक्ष दृष्टि से हो, तभी हम सत्य को समझ सकेंगे।

आगमों के विच्छेद की अवधारणा

आगम के विच्छेद की यह अवधारणा जैनधर्म के श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में उल्लिखित है। दिगम्बर परम्परा में आगमों के विच्छेद की यह अवधारणा तिलोयपण्णत्ति, षट्खण्डागम की धवला टीका, हरिवंशपुराण, आदिपुराण आदि में मिलती है। इन सब ग्रन्थों में तिलोयपण्णत्ति अपेक्षा कृत प्राचीन है। तिलोयपण्णत्ति का रचनाकाल विद्वानों ने ईसा की छठी-सातवीं शती के लगभग माना है। इसके पश्चात् षट्खण्डागम की धवला टीका, हरिवंशपुराण, आदिपुराण आदि ग्रन्थ आते हैं जो लगभग ई. की नवीं शती की रचनाएँ हैं। हरिवंश पुराण में आगम-विच्छेद की चर्चा को कुछ विद्वानों ने प्रक्षिप्त माना है क्योंकि वह यापनीय परम्परा का ग्रन्थ है और यापनीयों में नवीं-दसवीं शताब्दी तक आगमों के अध्ययन और उन पर टीका लिखने की परम्परा जीवित रही है। सम्भव यह भी है कि जिस प्रकार श्वेताम्बरों में आगमों के विच्छेद की चर्चा होते हुए भी आगमों की परम्परा जीवित रही उसी प्रकार यापनीयों में भी श्रुत विच्छेद की परम्परा का उल्लेख होते हुए भी श्रुत के अध्ययन एवं उन पर टीका आदि के लेखन की परम्परा जीवित रही है। पुनः हरिवंशपुराण में भी मात्र पूर्व एवं अंग ग्रन्थ के विच्छेद की चर्चा है शेष ग्रन्थ तो थे ही।

इन ग्रन्थों के अनुसार भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् गौतम, सुधर्मा (लोहार्य) और जम्बू ये तीन आचार्य केवली हुए, इन तीनों का सम्मिलित काल 62 वर्ष माना गया है। तत्पश्चात् विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पाँच आचार्य चतुर्दश पूर्वों के धारक श्रुतकेवली हुए। इन पाँच आचार्यों का सम्मिलित काल 100 वर्ष है। इस प्रकार भद्रबाहु के काल तक अंग और पूर्व की परम्परा अविच्छिन्न बनी रही। उसके बाद प्रथम पूर्व साहित्य का विच्छेद प्रारम्भ हुआ। भद्रबाहु के पश्चात् विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिसेन, विजय बुद्धिल, धर्मसेन और गगदेव -- ये ग्यारह आचार्य दस पूर्वों के धारक हुए। इनका सम्मिलित काल 183 वर्ष माना गया है। इस प्रकार वीरनिर्वाण के पश्चात् 345 वर्ष तक पूर्वधरों का अस्तित्व रहा। इसके बाद पूर्वधरों के विच्छेद के साथ ही पूर्व ज्ञान का विच्छेद हो गया। इनके पश्चात् नक्षत्र, यशपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंस -- ये पाँच आचार्य एकादश अंगों के ज्ञाता हुए। इनका सम्मिलित काल 220 वर्ष माना गया। इस

प्रकार भगवान महावीर निर्वाण के 565 वर्ष पश्चात् आचारांग को छोड़कर शेष अंगों का भी विच्छेद हो गया। इनके बाद सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहाचार्य -- ये चार आचार्य आचारांग के धारक हुए। इनका काल 118 वर्ष रहा। इस प्रकार वीरनिर्वाण के 683 वर्ष पश्चात् अंग एवं पूर्व साहित्य के ग्रन्थों के पूर्णज्ञाता आचार्यों की परम्परा समाप्त हो गई। इनके बाद आचार्य धरसेन तक अंग और पूर्व के एकदेश ज्ञाता (आंशिकज्ञाता) आचार्यों की परम्परा चली। उसके बाद पूर्व और अंग साहित्य का विच्छेद हो गया। मात्र अंग और पूर्व के आधार पर उनके एकदेश ज्ञाता आचार्यों द्वारा निर्मित ग्रन्थ ही शेष रहे। अंग और पूर्वधरों की यह सूची हमने हरिवंशपुराण के आधार पर दी है। अन्य ग्रन्थों एवं श्रवण बेलगोला के कुछ अभिलेखों में भी यह सूची दी गयी है किन्तु इन सभी सूचियों में कहीं नामों में और कहीं क्रम में अन्तर है, जिससे इनकी प्रामाणिकता संदेहास्पद बन जाती है। किन्तु जो कुछ साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्य उपलब्ध हैं उन्हें ही आधार बनाना होगा अन्य कोई विकल्प भी नहीं है। यद्यपि इन साक्ष्यों में भी एक भी साक्ष्य ऐसा नहीं है, जो सातवीं शती से पूर्व का हो। इन समस्त विवरणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि दिगम्बर परम्परा में श्रुत विच्छेद की इस घर्चा का प्रारम्भ लगभग छठी-सातवीं शताब्दी में हुआ और उसमें अंग एवं पूर्व साहित्य के ग्रन्थों के ज्ञाता आचार्यों के विच्छेद की घर्चा हुई है।

श्वेताम्बर परम्परा में पूर्व ज्ञान के विच्छेद की घर्चा तो निर्युक्ति, भाष्य, चूर्ण आदि आगमिक व्याख्या ग्रन्थों में हुई है। किन्तु अंग-आगमों के विच्छेद की घर्चा मात्र तित्थोगालिय प्रकीर्णक के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं मिलती है। तित्थोगालिय प्रकीर्णक को देखने से लगता है कि यह ग्रन्थ लगभग छठी-सातवीं शताब्दी में निर्मित हुआ है। इसका रचना काल और कुछ विषय-वस्तु भी तिलोयपण्णत्ति से समरूप ही है। इस प्रकीर्णक का उल्लेख, नन्दीसूत्र की कालिक और उत्कालिक ग्रन्थों की सूची में नहीं है किन्तु व्यवहारभाष्य (10/704) में इसका उल्लेख हुआ है। व्यवहारभाष्य स्पष्टतः सातवीं शताब्दी की रचना है। अन्ततः तित्थोगालिय पाँचवीं शती के पश्चात् तथा सातवीं शती के पूर्व अर्थात् लगभग ईस्वी सन् की छठी शताब्दी में निर्मित हुआ होगा। यही काल तिलोयपण्णत्ति का भी है। इन दोनों ग्रन्थों में ही सर्वप्रथम श्रुत के विच्छेद की घर्चा है। तित्थोगालिय में तीर्थकरों की माताओं के चौदह स्वप्न, स्त्री-मुक्ति तथा दस आशचर्यों का उल्लेख होने से एवं नन्दीसूत्र, अनुयोगद्वार तथा आवश्यकनिर्युक्ति से इसमें अनेक गाथाएँ अवतरित किये जाने से यही सिद्ध होता है कि यह श्वेताम्बर ग्रन्थ है। श्वेताम्बर परम्परा में प्रकीर्णक रूप में इसकी आज भी मान्यता है। इस ग्रन्थ की गाथा 807 से 857 तक में न केवल पूर्वी के विच्छेद की घर्चा है अपितु अंग साहित्य के विच्छेद की भी घर्चा है।

तित्थोगालिय एवं अन्य ग्रन्थों के साक्ष्य से ज्ञात होता है कि श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार अन्तिम चतुर्दशपूर्वधर आर्य भद्रबाहु हुए। आर्य भद्रबाहु स्वर्गवास के साथ ही चतुर्दश पूर्वधरों की परम्परा समाप्त हो गयी। इनका स्वर्गवास काल वीरनिर्वाण के 170 वर्ष पश्चात् माना जाता है। इसके पश्चात् स्थूलिभद्र दसपूर्वी के अर्थ सहित और शेष चार पूर्वी के मूल मात्र के ज्ञाता हुए। यथार्थ में तो वे दस पूर्वी के ही ज्ञाता थे। तित्थोगालिय में स्थूलिभद्र को दस पूर्वधरों में प्रथम कहा गया है। उसमें अन्तिम दसपूर्वी सत्यमित्र पाठभेद से सर्वमित्र को बताया गया है, किन्तु उनके काल का निर्देश नहीं किया गया है। उसके बाद उस ग्रन्थ में यह उल्लेखित है कि अनुक्रम से भगवान महावीर के निर्वाण के 1000 वर्ष पश्चात् वाचक वृषभ के समय में पूर्वगत श्रुत का विच्छेद हो जायेगा। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार दस पूर्वधरों के पश्चात् भी पूर्वधरों की परम्परा चलती रही है, श्वेताम्बरों में अभिन्न-अक्षर दसपूर्वधर और भिन्न-अक्षर दसपूर्वधर, ऐसे दो प्रकार के वर्गों का उल्लेख है, जो सम्पूर्ण दस पूर्वी के ज्ञाता होते, वे अभिन्न-अक्षर दसपूर्वधर कहे जाते थे और जो आंशिक रूप से दस पूर्वी के

जाता होते थे, उन्हें भिन्न-अक्षर दसपूर्वधर कहा जाता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चतुर्दश पूर्वधरों के विच्छेद की इस चर्चा में दोनों परम्परा में अन्तिम चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु को ही माना गया है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार वीरनिर्वाण के 170 वर्ष पश्चात् और दिगम्बर परम्परा के अनुसार 162 वर्ष पश्चात् चतुर्दश पूर्वधरों का विच्छेद हुआ। यहाँ दोनों परम्पराओं में मात्र आठ वर्षों का अन्तर है। किन्तु दस पूर्वधरों के विच्छेद के सम्बन्ध में दोनों परम्पराओं में कोई समरूपता नहीं देखी जाती है। श्वेताम्बर परम्परानुसार आर्य सर्वमित्र और दिगम्बर परम्परा के अनुसार आर्य धर्मसेन या आर्य सिद्धार्थ अन्तिम दस पूर्वी हुए हैं। श्वेताम्बर परम्परा में आर्य सर्वमित्र को अन्तिम दस पूर्वधर कहा गया है। दिगम्बर परम्परा में भगवतीआराधना के कर्त्ता शिवार्य के गुरुओं के नामों में सर्वगुप्ताणि और मित्रगणि नाम आते हैं किन्तु दोनों में कोई समरूपता हो यह निर्णय करना कठिन है। दिगम्बर परम्परा में दस पूर्वधरों के पश्चात् एकदेश पूर्वधरों का उल्लेख तो हुआ है किन्तु उनकी कोई सूची उपलब्ध नहीं होती। अतः इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की तुलना कर पाना सम्भव नहीं है।

पूर्व साहित्य के विच्छेद की चर्चा के पश्चात् तित्थोगालिय में अंग साहित्य के विच्छेद की चर्चा हुई है, जो निम्नानुसार है--

उसमें उल्लिखित है कि वीरनिर्वाण के 1250 वर्ष पश्चात् विपाक्सूत्र सहित छः अंगों का विच्छेद हो जायेगा। इसके पश्चात् वीरनिर्वाण सं. 1300 में समवायांग का, वीरनिर्वाण सं. 1350 में स्थानांग का, वीरनिर्वाण सं. 1400 में कल्प-व्यवहार का, वीरनिर्वाण सं. 1500 में आयारदशा का, वीरनिर्वाण सं. 1900 में सूत्रकृतांग का और वीरनिर्वाण सं. 2000 में निशीथसूत्र का विच्छेद होगा। ज्ञातव्य है कि इसके पश्चात् लगभग अठारह हजार वर्ष तक विच्छेद की कोई चर्चा नहीं है। फिर वीरनिर्वाण सं. 20,000 में आचारांग का, वीरनिर्वाण सं. 20500 में उत्तराध्ययन का, वीरनिर्वाण सं. 20900 में दशवैकालिक मूल का और वीरनिर्वाण सं. 21,000 में दशवैकालिक के अर्थ का विच्छेद होगा -- यह कहा गया है।

ज्ञातव्य है कि पण्डित दलसुखभाई ने जैन साहित्य के बृहद् इतिहास की भूमिका (पृ. 61) में आचारांग का विच्छेद वीरनिर्वाण के 2300 वर्ष पश्चात् लिखा है किन्तु मूल गाथा से कहीं भी यह अर्थ फलित नहीं होता। उन्होंने किस आधार पर यह अर्थ किया यह हम नहीं जानते हैं। हो सकता है कि उनके पास इस गाथा का कोई दूसरा पाठान्तर रहा हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अंग आगमों के विच्छेद की चर्चा श्वेताम्बर परम्परा में भी चली है, किन्तु इसके बावजूद भी श्वेताम्बर परम्परा ने अंग साहित्य को, चाहे आंशिक रूप से ही क्यों न हो, सुरक्षित रखने का प्रयास किया है।

प्रथम तो प्रश्न यह है कि क्या विच्छेद का अर्थ तत्-तत् ग्रन्थ का सम्पूर्ण रूप से विनाश है? मेरी दृष्टि में विच्छेद का अर्थ यह नहीं कि उस ग्रन्थ का सम्पूर्ण लोप हो गया। मेरी दृष्टि में विच्छेद का तात्पर्य उसके कुछ अंशों का विच्छेद ही मानना होगा। यदि हम निष्पक्ष दृष्टि से विचार करें तो ज्ञात होता है कि श्वेताम्बर परम्परा में भी जो अंग साहित्य आज अवशिष्ट हैं वे उस रूप में तो नहीं हैं जिस रूप से उनकी विषय-वस्तु का उल्लेख स्थानांग, समवायांग, नन्दीसूत्र आदि में हुआ है। यह सत्य है कि न केवल पूर्व साहित्य का अपितु अंग साहित्य का भी बहुत कुछ अंश विच्छिन्न हुआ है। आज आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का सातवाँ महापरिज्ञा नामक अध्याय

अनुपलब्ध है। भगवतीसुत्र, ज्ञाताधर्मकथा, अन्तकृद्दशा, अनुतरौपपातिक, प्रश्नव्याकरण, विपाकदशा आदि ग्रन्थों की भी बहुत कुछ सामग्री विच्छिन्न हुई है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। क्योंकि स्थानांग में दस दशाओं की जो विषय-वस्तु वर्णित है, वह उनकी वर्तमान विषय-वस्तु से मेल नहीं खाती है। उनमें जहाँ कुछ प्राचीन अध्ययन विलुप्त हुए हैं, वहीं कुछ नवीन सामग्री समाविष्ट भी हुई है। अन्तिम वाचनाकार देवर्दिगाणि ने स्वयं भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि मुझे जो भी त्रुटित सामग्री मिली है, उसको ही मैंने संकलित किया है। अतः आगम ग्रन्थों के विच्छेद की जो चर्चा है, उसका अर्थ यही लेना चाहिये कि यह श्रुत-संपदा यथावत् रूप में सुरक्षित नहीं रह सकी। वह आंशिक रूप से विस्मृति के गर्भ में चली गई। क्योंकि भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् लगभग एक हजार वर्ष तक यह साहित्य मौखिक रहा और मौखिक परम्परा में विस्मृति स्वाभाविक है। विच्छेद का क्रम तभी रूका जब आगमों को लिखित रूप दे दिया गया।

दिगम्बर परम्परा में श्रुत-विच्छेद सम्बन्धी यह जो चर्चा है उसके सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि उसमें श्रुतधरों के अर्थात् श्रुत के ज्ञाता आचार्यों के विच्छेद की चर्चा हुई है न कि श्रुत ग्रन्थों के विच्छेद चर्चा हुई है। दूसरे यह कि पूर्व और अंग के इस विच्छेद की चर्चा में भी पूर्व और अंगों के एकदेश ज्ञाता आचार्यों का अस्तित्व तो स्वीकार किया ही गया है। धरसेन के सम्बन्ध में भी मात्र यह कहा गया है कि वे अंग और पूर्वों के एकदेश ज्ञाता थे। इनके बाद अंग एवं पूर्व के एकदेश ज्ञाता आचार्यों की परम्परा भी समाप्त हो गयी हो, ऐसा उल्लेख हमें किसी भी दिगम्बर ग्रन्थ में नहीं मिला। यही कारण है कि पं. दलसुखभाई मालवणिया (वही, पृ. 62) आदि कुछ विद्वान इन उल्लेखों को श्रुतधरों के विच्छेद का उल्लेख मानते हैं न कि श्रुत के विच्छेद का पुनः इस चर्चा में मात्र पूर्व और अंग साहित्य के विच्छेद की ही चर्चा हुई है। कालिक और उत्कालिक सूत्रों के अथवा छेदसूत्रों के विच्छेद की कहीं कोई चर्चा दिगम्बर परम्परा में नहीं उठी है। दुर्भाग्य यह है कि दिगम्बर विद्वानों ने श्रुतधरों के विच्छेद को ही श्रुत का विच्छेद मान लिया और कालिक, उत्कालिक आदि आगमों के विच्छेद की कोई चर्चा न होने पर भी उनका विच्छेद स्वीकार कर लिया। यह सत्य है कि जब श्रुत के अध्ययन की परम्परा मौखिक हो तो श्रुतधर के विच्छेद से श्रुत का विच्छेद मानना होगा किन्तु जब श्रुत लिखित रूप में भी हो, तो श्रुतधर के विच्छेद से श्रुत का विच्छेद नहीं माना जा सकता। दूसरे मौखिक परम्परा से चले आ रहे श्रुत में विस्मृति आदि के कारण किसी अंश-विशेष के विच्छेद को पूर्ण विच्छेद मानना भी समीचीन नहीं है। विच्छेद की इस चर्चा का तात्पर्य मात्र यही है कि महावीर की यह श्रुत-सम्पदा अक्षुण्ण नहीं रह सकी और उसके कुछ अंश विलुप्त हो गये। अतः आंशिक रूप में जिनवाणी आज भी है, इसे स्वीकार करने में किसी को कोई विप्रतिपत्ति नहीं होना चाहिये।

अर्धभागधी आगमों की विषय-वस्तु सरल है

अर्धभागधी आगम साहित्य की विषय-वस्तु मुख्यतः उपदेशपरक, आचारपरक एवं कथापरक है। भगवती के कुछ अंश, प्रज्ञापना, अनुयोगद्वार, जो कि अपेक्षाकृत परवर्ती है, को छोड़कर उनमें प्रायः गहन दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक चर्चाओं का अभाव है। विषय-प्रतिपादन सरल, सहज और सामान्य व्यक्ति के लिए भी बोधगम्य है। वह मुख्यतः विवरणात्मक एवं उपदेशात्मक है। इसके विपरीत शौरसेनी आगमों में आराधना और मूलाचार को छोड़कर लगभग सभी ग्रन्थ दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक चर्चा से युक्त है। वे परिपक्व दार्शनिक विचारों के परिचायक हैं। गुणस्थान और कर्मसिद्धान्त की वे गहराईयें, जो शौरसेनी आगमों में उपलब्ध हैं, अर्धभागधी आगमों में उनका प्रायः अभाव ही है। कुन्दकुन्द के समयसार के समान उनमें सैद्धान्तिक दृष्टि से अध्यात्मवाद के प्रतिस्थापन का

भी कोई प्रयास परिलक्षित नहीं होता। यद्यपि ये सब उनकी कमी भी कही जा सकती है, किन्तु चिन्तन के विकास क्रम की दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट रूप से यह फलित होता है कि अर्धमागधी आगम साहित्य प्राथमिक स्तर का होने से प्राचीन भी है और साथ ही विकसित शौरसेनी आगमों के लिए आधार भूत भी। समवायांग में जीवस्थानों के नाम से 14 गुणस्थानों का मात्र निर्देश है, जबकि षट्खण्डागम जैसा प्राचीन शौरसेनी आगम भी उनकी गम्भीरता से चर्चा करता है। मूलाचार, भगवतीआराधना, कुन्दकुन्द के ग्रन्थ और गोम्मटसार आदि सभी में गुणस्थानों की विस्तृत चर्चा है। चूंकि तत्त्वार्थ में गुणस्थानों की चर्चा का एवं स्याद्बद्ध-सप्तभंगी का अभाव है, अतः ये सभी रचनाएँ तत्त्वार्थ के बाद की कृतियाँ मानी जा सकती हैं। इसी प्रकार कषायपाहुड, षट्खण्डागम, गोम्मटसार आदि शौरसेनी आगम ग्रन्थों में कर्मसिद्धान्त की जो गहन चर्चा है, वह भी अर्धमागधी आगम साहित्य में अनुपलब्ध है। अतः शौरसेनी आगमों की अपेक्षा अर्धमागधी आगमों की सरल, बोधगम्य एवं प्राथमिक स्तर की विवरणात्मक शैली उनकी प्राचीनता की सूचक है।

तथ्यों का सहज संकलन

अर्धमागधी आगमों में तथ्यों का सहज संकलन किया गया है अतः अनेक स्थानों पर सैद्धान्तिक दृष्टि से उनमें भिन्नताएँ भी पायी जाती हैं। वस्तुतः ये ग्रन्थ अकृत्रिम भाव से रचे गये हैं और उन्हें उनके सम्पादन काल में भी संगतियुक्त बनाने का कोई प्रयास नहीं किया गया है। एक ओर उत्सर्ग की दृष्टि से उनमें अहिंसा के सूक्ष्मता के साथ पालन करने के निर्देश है तो दूसरी ओर अपवाद की अपेक्षा से ऐसे अनेक विवरण भी हैं जो इस सूक्ष्म अहिंसक जीवनशैली के अनुकूल नहीं हैं। इसी प्रकार एक ओर उनमें मुनि की अचेतता का प्रतिपादन समर्थन किया गया है, तो दूसरी ओर वस्त्र, पात्र के साथ-साथ मुनि के उपकरणों की लम्बी सूची भी मिल जाती है। एक ओर केशलोच का विधान है तो दूसरी क्षुर-मुण्डन की अनुज्ञा भी है। उत्तराध्ययन में वेदनीय के भेदों में क्रोध वेदनीय आदि का उल्लेख है, जो कि कर्मसिद्धान्त के ग्रन्थों में यहाँ तक कि स्वयं उत्तराध्ययन के कर्मप्रकृति नामक अध्ययन में भी अनुपलब्ध है, उक्त साक्ष्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि अर्धमागधी आगम साहित्य जैन संघ का, निष्पक्ष इतिहास प्रस्तुत करता है। तथ्यों का यथार्थ रूप में प्रस्तुतीकरण उसकी अपनी विशेषता है। वस्तुतः तथ्यात्मक विविधताओं एवं अन्तर्विरोधों के कारण अर्धमागधी आगम साहित्य के ग्रन्थों के काल क्रम का निर्धारण भी सहज हो जाता है।

अर्धमागधी आगमों में जैनसंघ के इतिहास का प्रामाणिक रूप

यदि हम अर्धमागधी आगमों का समीक्षात्मक दृष्टि से अध्ययन करें, तो हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन परम्परा के आचार एवं विचार में देशकालगत परिस्थितियों के कारण कालक्रम में क्या-क्या परिवर्तन हुए इसको जानने का आधार अर्धमागधी आगम ही है, क्योंकि इन परिवर्तनों को समझने के लिए उनमें उन तथ्यों के विकास क्रम को खोजा जा सकता है। उदाहरण के रूप में जैनधर्म में साम्प्रदायिक अभिनिवेश कैसे दृढ़-मूल होता गया, इसकी जानकारी ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन, सूत्रकृतांग और भगवती के पन्द्रहवें शतक के समीक्षात्मक अध्ययन से मिल जाती है। ऋषिभाषित में नारद, मंखलिंगोशाल, असितदेवल, तारायण, याज्ञवल्क्य, बाहुक आदि ऋषियों को अर्हत् ऋषि कहकर सम्मानित किया गया है। उत्तराध्ययन में भी कपिल, नमि, करकण्डु, नगति, गर्दभाली, संजय आदि का सम्मानपूर्वक स्मरण किया गया और सूत्रकृतांग में इनमें से कुछ को आचारभेद के बावजूद भी परम्परा-सम्मत माना गया। किन्तु ज्ञाताधर्मकथा में नारद की और भगवती के पन्द्रहवें शतक में मंखली गोशाल की समालोचना भी की गई है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि जैन परम्परा में अन्य परम्पराओं के प्रति

उदारता का भाव कैसे परिवर्तित होता गया और साम्प्रदायिक अभिनिवेश कैसे दृढ़मूल होते गये, इसका यथार्थ चित्रण उनमें उपलब्ध हो जाता है। इसी प्रकार आचाराग प्रथम ध्रुतस्कन्ध, आचारचूला, दशवैकालिक, निशीथ आदि छेदसूत्र तथा उनके भाष्य और चूर्णियों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि जैनाचार में कालक्रम में क्या-क्या परिवर्तन हुआ है। इसी प्रकार ऋषिभाषित उत्तराध्ययन, भगवती, ज्ञाताधर्मकथा आदि के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि पार्श्वार्थियों का महावीर के संघ पर क्या प्रभाव पड़ा और दोनों के बीच सम्बन्धों में कैसे परिवर्तन होता गया। इसी प्रकार के अनेक प्रश्न, जिनके कारण आजका जैन समाज साम्प्रदायिक कठघरों में बन्द है, अर्धमागधी आगमों के निष्पक्ष अध्ययन के माध्यम से सुलझाये जा सकते हैं। शौरसेनी आगमों में मात्र मूलाचार और भगवतीआराधना को, जो अपनी विषय-वस्तु के लिये अर्धमागधी आगम साहित्य के ऋणी हैं, इस कोटि में रखा जा सकता है, किन्तु शेष आगमतुल्य शौरसेनी ग्रन्थ जैनधर्म को सीमित घेरों में आबद्ध ही करते हैं।

अर्धमागधी-आगम शौरसेनी-आगम और परवर्ती महाराष्ट्री व्याख्या साहित्य के आधार

अर्धमागधी-आगम शौरसेनी आगम और महाराष्ट्री आगमिक व्याख्या साहित्य के आधार रहे हैं। अर्धमागधी आगमों की व्याख्या के रूप में क्रमशः निर्युक्ति, भाष्य, चूर्ण, वृत्ति, टब्बा आदि लिखे गये हैं, ये सभी जैनधर्म एवं दर्शन के प्राचीनतम स्रोत हैं। यद्यपि शौरसेनी आगम और व्याख्या साहित्य में चिन्तन के विकास के साथ-साथ देश, काल और सहगामी परम्पराओं के प्रभाव से बहुत कुछ ऐसी सामग्री भी है, जो उनकी अपनी मौलिक कह जा सकती है फिर भी अर्धमागधी आगमों को उनके अनेक ग्रन्थों के मूलस्रोत के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। मात्र मूलाचार में ही तीन सौ से अधिक गाथाएँ उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यकनिर्युक्ति, जीवसमास, आतुरप्रत्याख्यान, चन्द्रवेद्यक (चन्द्रावेज्जय) आदि में उपलब्ध होती हैं। इसी प्रकार भगवतीआराधना में भी अनेक गाथाएँ अर्धमागधी आगम और विशेष रूप से प्रकीर्णकों (पहन्ना) से मिलती हैं। षट्खण्डागम और प्रज्ञापना में भी जो समानताएँ परिलक्षित होती हैं, उनकी विस्तृत चर्चा पण्डित दलसुखभाई मालवणिया ने (प्रो. ए.एन. उपाध्ये व्याख्यानमाला में) की है। नियमसार की कुछ गाथाएँ अनुयोगद्वार एवं इतर आगमों में भी पाई जाती हैं, जबकि समयसार आदि कुछ ऐसे शौरसेनी आगम ग्रन्थ भी हैं, जिनकी मौलिक रचना का श्रेय उनके कर्ताओं को ही है। तिलोयपन्नति का प्राथमिक रूप विशेष रूप से आवश्यकनिर्युक्ति तथा कुछ प्रकीर्णकों के आधार पर तैयार हुआ था, यद्यपि बाद में उसमें पर्याप्त रूप से परिवर्तन और परिवर्धन किया गया है। इस प्रकार शौरसेनी आगमों के निष्पक्ष अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनका मूल आधार अर्धमागधी आगम साहित्य ही रहा है तथापि उनमें जो सैद्धान्तिक गहराईयें और विकास परिलक्षित होते हैं, वे उनके रचनाकारों की मौलिक देन है।

अर्धमागधी आगमों का कर्तृत्व अज्ञात

अर्धमागधी आगमों में प्रज्ञापना, दशवैकालिक और छेदसूत्रों के कर्तृत्व छोड़कर शेष के रचनाकारों के सम्बन्ध में हमें कोई स्पष्ट जानकारी प्राप्त नहीं होती है। यद्यपि दशवैकालिक आर्य शयम्भवसुरि की, तीन छेदसूत्र आर्यभद्रबाहु की और प्रज्ञापना श्यामाचार्य की कृति मानी जाती है, महानिशीथ का उसकी दीमकों से भक्षित प्रति के आधार पर आचार्य हरिभद्र ने समुद्धार किया था, यह स्वयं उसी में उल्लेखित है, तथापि अन्य आगमों के कर्ताओं के बारे में हम अन्धकार में ही हैं। सम्भवतः उसका मूल कारण यह रहा होगा कि सामान्यजन में इस बात का पूर्ण विश्वास बना रहे कि अर्धमागधी आगम गणधरों अथवा पूर्वधरों की कृति है, इसलिये कर्ताओं ने अपने नाम का उल्लेख नहीं किया। यह वैसी ही स्थिति है जैसी हिन्दू पुराणों के कर्ता के रूप में केवल वेद व्यास को जाना जाता है। यद्यपि वे अनेक आचार्यों की और पर्याप्त परवर्तीकाल की रचनाएँ हैं।

इसके विपरीत शौरसेनी आगमों की मुख्य विशेषता यह है कि उनमें सभी ग्रन्थों का कर्तृत्व सुनिश्चित है। यद्यपि उनमें भी कुछ परिवर्तन और प्रक्षेप परवर्ती आचार्यों ने किये हैं। फिर भी इस सम्बन्ध में उनकी स्थिति अर्धमागधी आगम की अपेक्षा काफी स्पष्ट है। अर्धमागधी आगमों में तो यहाँ तक भी हुआ है कि कुछ विलुप्त कृतियों के स्थान पर पर्याप्त परवर्ती काल में दूसरी कृति ही रख दी गई। इस सम्बन्ध में प्रश्नव्याकरण की सम्पूर्ण विषय-वस्तु के परिवर्तन की चर्चा पूर्व में ही की जा चुकी है। अभी-अभी अंगचूलिया और बंगचूलिया नामक दो विलुप्त आगमों का पता चला, ये भोगीलाल लेहरचन्द भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर में उपलब्ध है, जब इनका अध्ययन किया गया तो पता चला कि वे लोकाशाह के पश्चात् अर्थात् सोलहवीं या सत्रहवीं शताब्दी में किसी अज्ञात आचार्य ने बनाकर रख दिये हैं। यद्यपि इससे यह निष्कर्ष भी नहीं निकाल लेना चाहिए कि यह स्थिति सभी अर्धमागधी आगमों की है। सत्य तो यह है कि उनके प्रक्षेपों और परिवर्तनों को आसानी से पहचाना जा सकता है, जबकि शौरसेनी आगमों में हुए प्रक्षेपों को जानना जटिल है।

आगमों की विषय-वस्तु के सम्बन्ध में जिस अतिशयता की चर्चा परवर्ती आचार्यों ने की है, वह उनके कथन की विश्वसनीयता पर प्रश्न चिह्न उपस्थित करती है। हमारी श्रद्धा और विश्वास चाहे कुछ भी हो किन्तु तर्क, बुद्धि और गवेषणात्मक दृष्टि से तो ऐसा प्रतीत होता है कि आगम साहित्य की विषय-वस्तु को बढ़ा-चढ़ाकर बताया गया। यह कहना कि आचारांग के आगे प्रत्येक अंग ग्रन्थ की श्लोक संख्या एक दूसरे से क्रमशः द्विगुणित रही थी अथवा 14वें पूर्व की विषय-वस्तु इतनी थी कि उसे चौदह हाथियों के बराबर स्याही से लिखा जा सकता था, विश्वास की वस्तु हो सकती है, किन्तु बुद्धिगम्य नहीं है।

अन्त में विद्वानों से मेरी यह अपेक्षा है कि वे आगमों और विशेष रूप से अर्धमागधी आगमों का अध्ययन श्वेताम्बर, दिगम्बर, मूर्तिपूजक, स्थानकवासी या तेरापंथी दृष्टि से न करें अपितु इन साम्प्रदायिक अभिनिवेशों से ऊपर उठकर करें, तभी हम उनके माध्यम से जैनधर्म के प्राचीन स्वरूप का यथार्थ दर्शन कर सकेंगे और प्रामाणिक रूप से यह भी समझ सकेंगे कि कालक्रम में उनमें कैसे और क्या परिवर्तन हुए हैं। आज आवश्यकता है पं. बेधरदासजी जैसी निष्पक्ष एवं तटस्थ बुद्धि से उनके अध्ययन की। अन्यथा दिगम्बर को उसमें वस्त्रसम्बन्धी उल्लेख प्रक्षेप लगेगे, तो श्वेताम्बर सारे वस्त्रपात्र के उल्लेखों को महावीरकालीन मानने लगेगा और दोनों ही यह नहीं समझ सकेंगे कि वस्त्र-पात्र का क्रमिक विकास किन परिस्थितियों और कैसे हुआ है ? इस सम्बन्ध में निर्युक्ति भाष्य, चूर्णि और टीका का अध्ययन आवश्यक है क्योंकि ये इनके अध्ययन की कुंजिया हैं। शौरसेनी और अर्धमागधी आगमों का तुलनात्मक अध्ययन भी उनमें निहित सत्य को यथार्थ रूप से आलोकित कर सकेगा। आशा है युवा-विद्वान् मेरी इस प्रार्थना पर ध्यान देंगे।

* निदेशक, पार्वनाथ शोधपीठ

जैन आगम और आगमिक व्याख्या साहित्य : एक अध्ययन

- डॉ. सुदर्शनलाल जैन *

भगवान् महावीर (ई.पू. छठी शताब्दी) की अर्थरूप वाणी से उपदिष्ट सिद्धान्तों के प्रतिपादक प्रामाणिक प्राचीन ग्रन्थों को जैनगम के नाम से जाना जाता है। सिद्धान्तविषयक सन्देह होने पर सन्देह-निवारणार्थ इन्हें आगम प्रभाव माना जाता है। गणधर या श्रुतज्ञ ऋषियों के द्वारा प्रणीत होने से "आर्षग्रन्थ" तथा श्रुत परम्परा से प्राप्त होने के कारण "श्रुतग्रन्थ" के रूप में भी ये जाने जाते हैं।¹ इन्हें प्रमुख रूप से दो भागों में विभक्त किया जाता है -- 1. अंग प्रविष्ट (अंग) और 2. अंग बाह्य।

अंग ग्रन्थ वे हैं जो भगवान् महावीर के साक्षात् शिष्यों (गणधरों) के द्वारा रचित हैं तथा अंगबाह्य ग्रन्थ वे हैं जो उत्तरवर्ती श्रुतज्ञ आचार्यों के द्वारा रचित हैं। भगवान् महावीर के साक्षात् शिष्यों के द्वारा रचित होने से अंग ग्रन्थ सर्वप्रधान हैं। इन्हें बौद्धों के "त्रिपिटक" की तरह "गणपिटक"² तथा ब्राह्मणों के वेदों की तरह "वेद"³ भी कहा गया है। इनकी संख्या बारह नियत होने से इन्हें "द्वदशांग"⁴ के नाम से भी जाना जाता है। इस तरह अंग और अंगबाह्य सभी ग्रन्थ अर्थरूप से महावीर प्रणीत हैं तथा शब्दरूप से गणधर प्रणीत या तदुत्तरवर्ती श्रुतज्ञ आचार्यों के द्वारा प्रणीत हैं।⁵

दिगम्बर परम्परा के अनुसार वीरनिर्वाण सं 683 तक श्रुत परम्परा चली जो क्रमशः क्षीण होती गई। आगमों को लिपिबद्ध करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया, जिससे सभी (12 अंग तथा 14 अंगबाह्य) आगम ग्रन्थ लुप्त हो गये। इतना विशेष है कि वे मूल आगमों के नष्ट हो जाने पर भी दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग ग्रन्थान्तर्गत पूर्वों के अंशांश ज्ञाताओं द्वारा (वीरनिर्वाण १०वीं शताब्दी में) रचित षट्खण्डागम⁶ और कषायपाहुड⁷ को तथा वीरनिर्वाण की 14वीं शताब्दी में रचित इनकी क्रमशः ध्वला और जयध्वला टीकाओं को आगम के रूप में मानते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रन्थों को भी आगम के रूप में स्वीकार करते हैं।

श्वेताम्बर परम्परानुसार देवद्विगणिक्रमाश्रमण की अन्तिम वलभीवाचना (वीरनिर्वाणसं. 980 के करीब) के समय स्मृति-परम्परा से प्राप्त आगम ग्रन्थों को संकलित करके लिपिबद्ध किया गया। दृष्टिवाद नामक 12वाँ अंग ग्रन्थ उस समय किसी को याद नहीं था जिससे उसका संकलन नहीं किया जा सका। फलतः उसका लोप स्वीकार कर लिया गया। इस तरह अंगों की संख्या घटकर 11 रह गई।

अंगबाह्य आगम कितने हैं ? इस विषय में मतभेद है --

1. दिगम्बर परम्परा -- 14 अंगबाह्य ग्रन्थ हैं। जैसे -- 1. सामायिक, 2. चतुर्विंशतिस्तव, 3. वन्दना, 4. प्रतिक्रमण, 5. वैनयिक, 6. कृतिकर्म, 7. दशवैकालिक, 8. उत्तराध्ययन, 9. कल्पव्यवहार, 10. कल्पाकल्प, 11. महाकल्प, 12. पुण्डरीक, 13. महापुण्डरीक और 14. निषिद्धिका। श्वेताम्बर परम्परानुसार इन 14 अंगबाह्य के भेदों में प्रथम 6 भेद छह आवश्यक रूप हैं, दशवैकालिक और उत्तराध्ययन का मूलसूत्रों में समावेश है, शेष 6 भेदों का अन्तर्भाव कल्प, व्यवहार और निशीथ नामक छेदसूत्रों में है।

2. स्थानकवासी श्वेताम्बर परम्परा -- 21 अंगबाह्य ग्रन्थ हैं। जैसे -- 12 उपांग, 4 मूलसूत्र (उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, नन्दी, अनुयोगद्वार), 4 छेदसूत्र (दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, व्यवहार और निशीथ) तथा 1 आवश्यक।

3. मूर्तिपूजक श्वेताम्बर परम्परा -- 34 अंगबाह्य ग्रन्थ हैं। जैसे -- 12 उपांग, 5 छेदसूत्र (पंचकल्प को

छोड़कर), 5 मूलसूत्र (उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यकनन्दि और अनुयोगद्वार), 8 अन्य ग्रन्थ (कल्प, जीतकल्प, यतिजीतकल्प, श्राद्धजीतकल्प, पाक्षिक, श्रामणा, वंदि और ऋषिभाषित), 30 प्रकीर्णक, 12 निर्युक्तियाँ और विशेषावश्यक महाभाष्य।

इस तरह श्वेताम्बर परम्परा में 11 अंगों को जोड़कर स्थानकवासी 32, मूर्तिपूजक 45 तथा अन्य मूर्तिपूजक 84 आगमों की मान्यता है। इनकी रचना अर्धमागधी प्राकृत भाषा में की गई है जबकि दिगम्बरों के आगम ग्रन्थ जैन शौरसेनी प्राकृत भाषा में लिखे गये हैं।

आगम-विभाजन के प्रकार

अंग, उपांग आदि के रूप में आगमों का स्पष्ट विभाजन सर्वप्रथम भावप्रभसूरि (18वीं शताब्दी) द्वारा विरचित जैनधर्मवरस्तोत्र (श्लोक 30) की स्वोपज्ञ टीका में मिलता है। प्राचीन परम्परा में आगमों को प्रथमतः आवश्यक और आवश्यकव्यतिरिक्त के रूप में विभक्त किया गया है। इसके पश्चात् आवश्यकव्यतिरिक्त के कालिक और उत्कालिक ये दो भेद किये गये हैं। जिनका अध्ययन किसी निश्चित समय (दिन एवं रात्रि के प्रथम और अन्तिम प्रहर) में किया जाता है उन्हें कालिक और जिनका अध्ययन तदतिरिक्त काल में किया जाता है उन्हें उत्कालिक कहते हैं। उत्तराध्ययन आदि कालिक श्रुत हैं, तथा दशवैकालिक आदि उत्कालिक। कालिक और उत्कालिक का यह भेद केवल अंगबाह्य ग्रन्थों में था परन्तु परवर्तीकाल में श्वेताम्बरों ने दृष्टिवाद को छोड़कर शेष 11 अङ्ग को कालिक में गिनाया है। दृष्टिवाद को लुप्त मान लेने से उसको न तो कालिक बतलाया है और न उत्कालिक। आवश्यक में पहले सामायिक आदि छः ग्रन्थ थे, जिनका आज एक आवश्यकसूत्र में समावेश है।

आगम ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय

अंग ग्रन्थ

1. आचारांग -- इसमें विशेष रूप से साधुओं के आचार का प्रतिपादन किया गया है। इसके दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध का नाम ब्रह्मचर्य है जिसका अर्थ है "संयम" यह श्रुतस्कन्ध द्वितीय श्रुतस्कन्ध से प्राचीन है। इसमें शस्त्रपरिज्ञा आदि 9 अध्ययन हैं। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में चार चूलायें हैं जिनका 16 अध्ययनों में विभाजन है। इसकी पंचम चूला "निशीथ" आज आचारांग से पृथक् ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध है। प्रथम श्रुतस्कन्ध के "महापरिज्ञा" नामक समग्र अध्ययन का लोप हो गया है, परन्तु उस पर लिखी गई निर्युक्ति उपलब्ध है।

2. सूत्रकृतांग -- इसमें धार्मिक उपदेशों के साथ जैनेतर मतावलम्बियों के सिद्धान्तों का खण्डन है। इसके भी दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में 16 और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में 7 अध्याय हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध प्राचीन है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध प्रथम श्रुतस्कन्ध के परिशिष्ट के समान है। भारत के धार्मिक सम्प्रदायों का ज्ञान कराने की दृष्टि से दोनों श्रुतस्कन्ध महत्त्वपूर्ण हैं।

3. स्थानांग -- इसमें एक स्थानिक, द्वि-स्थानिक आदि क्रम से 10 स्थानिक या अध्ययन हैं जिनमें एक से लेकर 10 तक की संख्या के अर्थों का कथन है। इसमें वस्तुओं का निरूपण संख्या की दृष्टि से किया जाने से यह संग्रह प्रधान कोश शैली का ग्रन्थ है।

4. समवायांग -- यह ग्रन्थ भी स्थानांग की शैली में लिखा गया कोश ग्रन्थ है। इसमें 1 से वृद्धि करते हुए 100 समवायों का वर्णन है। एक प्रकीर्ण समवाय है, जिसमें 100 से आगे की संख्याओं का समवाय बतलाया गया है। अन्त में 12 अंग ग्रन्थों का परिचय भी है। दिगम्बरों के ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि स्थानांग और समवायांग की शैली में कुछ अन्तर था।

5. व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) -- व्याख्यात्मक कथन होने से इसे व्याख्याप्रज्ञप्ति कहते हैं। पूज्य और विशाल होने से इसे श्वेताम्बर "भगवती" भी कहते हैं। यह कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। प्रारम्भ के 20 शतक प्राचीन है।

6. ज्ञाताधर्मकथा -- इसके दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में 19 अध्यायन है और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में धर्मकथाओं के 10 वर्ग हैं। इस कथा ग्रन्थ की मुख्य और अवान्तर कथाओं में आई हुई अनेक घटनाओं से तथा विविध प्रकार के वर्णनों से तत्कालीन इतिहास और संस्कृति की जानकारी मिलती है।

7. उपासकदशा -- इसमें आनन्द आदि 10 उपासकों की कथायें हैं। प्रायः सभी कथायें एक जैसी हैं।

8. अन्तकृद्दशा -- "अन्तकृत" शब्द का अर्थ है -- संसार का अन्त करने वाले। इसमें ऐसे ही अन्तकृतों की कथायें हैं। इसमें 8 वर्ग हैं जिनमें प्रथम 5 वर्ग कृष्ण और वासुदेव से सम्बन्धित हैं, षष्ठ और सप्तम वर्ग भगवान महावीर के शिष्यों से सम्बन्धित है तथा अष्टम वर्ग राजा श्रेणिक की काली आदि 10 भार्याओं की कथा से सम्बन्धित है।

9. अनुत्तरौपपातिकदशा -- (विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि के वैमानिक देव अनुत्तर अर्थात् श्रेष्ठ कहलाते हैं) जो उपपाद जन्म से अनुत्तरों में उत्पन्न होते हैं, उन्हें अनुत्तरौपपातिक कहते हैं। ऐसे व्यक्तियों का इसमें वर्णन है। इसमें तीन वर्ग हैं जिनमें 33 अध्यायन हैं।

10. प्रश्नव्याकरण -- इसमें प्रश्नों के उत्तर (व्याकरण) नहीं है अपितु पाँच आसवद्वार (हिंसादि) और पाँच संवरद्वार (अहिंसादि) रूप 10 अध्यायन हैं।

11. विपाकसूत्र -- विपाक का अर्थ है -- "कर्मफल"। पापरूप और पुण्यरूप कर्मों के फलों का कथन है। दो श्रुतस्कन्ध है जिनमें 10+10 अध्यायन है।

12. दृष्टिवाद -- यह ग्रन्थ लुप्त हो गया है। इसमें स्वसमय और परसमय की सभी प्ररूपणायें थीं। यह 5 भागों में विभक्त था -- परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चुल्लिका। यह विशालकाय ग्रन्थ रहा है। पूर्वी के कारण इसका अधिक महत्त्व था। दिग्म्बर आगम ग्रन्थों (षट्खण्डागम और कषायपाहुड) का उद्गम स्रोत यही ग्रन्थ माना गया है। 11 अडअंग से पृथक् इसका उल्लेख दोनों सम्प्रदायों में मिलता है।

अंगबाह्य -- इन्हें पहले प्रकीर्णक कहा जाता था। निरयावलिया में इन्हें उपांग भी कहा गया है परन्तु अब ये दोनों नाम दूसरे अर्थ में रूढ़ हो गये हैं।

उपांग ग्रन्थ -- इनकी रचना स्थविरों ने की है। इनका अडअंग के साथ सम्बन्ध नहीं है। ये स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। उपांग शब्द का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में नहीं है।

1. औपपातिक -- इसमें 43 सूत्र है। चम्पानगरी के वर्णन से ग्रन्थ का प्रारम्भ होता है। इसका सांस्कृतिक, सामाजिक और साहित्यिक दृष्टि से महत्त्व है। इसमें मनुष्यों के भव सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर देते हुए भगवान महावीर ने अनेक विषयों का प्रतिपादन किया है।

2. राजप्रश्नीय -- इसमें 217 सूत्र है और दो भागों में विभक्त है। इसका प्रारम्भ आमलकल्या नगरी के वर्णन से होता है। इसमें राजा परासी (प्रदेशी) द्वारा किये गये प्रश्नों का समाधान केशि मुनि के द्वारा किया गया है।

3. जीवाजीवाभिगम (जीवाभिगम) -- इसमें 9 प्रतिपत्ति (प्रकरण) और 272 सूत्र है जिनमें जीव और अजीव के भेद-प्रभेदों का वर्णन है।

4. प्रज्ञापना -- इसमें 349 सूत्र हैं जिनमें प्रज्ञापना, स्थान आदि 36 पदों का वर्णन है। जैसे अङ्ग में भगवतीसूत्र बड़ा है वैसे ही उपांगों में यह बड़ा है।
 5. सूर्यप्रज्ञप्ति -- इसमें सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों की मुनियों का 108 सूत्रों में (20 पाहुडों में) विस्तार से वर्णन है।
 6. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति -- इसमें 7 वक्षस्कार (परिच्छेद) हैं जिनमें 176 सूत्र हैं। तीसरे वक्षस्कार में भारतवर्ष और राजा भरत का वर्णन है। जम्बूद्वीप की जानकारी के लिए महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।
 7. चन्द्रप्रज्ञप्ति -- इसकी विषयवस्तु सूर्यप्रज्ञप्ति के समान है। इसमें 20 प्राभृत हैं।
 8. निरयावलिया -- इसमें 5 उपांग समाविष्ट हैं -- 1. निरयावलिया अथवा कल्पिका, 2. कल्प्यावतंसिका, 3. पुष्पिका, 4. पुष्पचूलिका और 5. वृष्णिदशा। निरयावलिया (कल्पिका) में 10 अध्ययन हैं जिनमें राजा कृष्णिक आदि की कथाएँ हैं। मगध का इतिहास जानने के लिए यह बहुत उपयोगी है।
 9. कल्प्यावतंसिका -- इसमें 10 अध्ययन हैं जिनमें राजा श्रेणिक के 10 पौत्रों के सत्कर्म की कथाएँ हैं।
 10. पुष्पिका -- इसमें 10 अध्ययन हैं जिनमें चन्द्र, सूर्य और शुक के वर्णन के साथ अन्य कथाएँ हैं।
 11. पुष्पचूलिका -- इसके 10 अध्ययनों में श्री, ह्री आदि की कथाएँ हैं।
 12. वृष्णिदशा -- इसमें 12 अध्ययन हैं जिनमें द्बारका के राजा कृष्ण वसुदेव के वर्णन के साथ वृष्णवंशीय 12 राजकुमारों की कथाएँ हैं।
- मूलसूत्र -- साधु जीवन के मूलभूत नियमों का उपदेश होने से ये मूलसूत्र कहलाते हैं। "मूलसूत्र" नाम का भी उल्लेख प्राचीन आगमों में नहीं मिलता। मूलसूत्र नामकरण के विषय में, इनकी संख्या के विषय में तथा मूलसूत्रान्तर्गत आगम नामों के विषय में मतभेद है। उत्तराध्ययन और दशवैकालिक को सभी एक स्वर से मूलसूत्र मानते हैं। अन्य नामों में आवश्यक, नन्दि और अनुयोगद्वार प्रमुख हैं। पिण्डनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति और पाक्षिकसूत्र को भी कुछ लोग मूलसूत्रों में गिनते हैं। ऐसा इन ग्रन्थों के महत्त्व के कारण है।
1. उत्तराध्ययन -- यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण और प्राचीन ग्रन्थ है। इसमें 36 अध्ययन हैं जिनमें कुछ आख्यानप्रधान हैं, कुछ उपदेशात्मक हैं और कुछ दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादक हैं।
 2. दशवैकालिक -- यह भी उत्तराध्ययन की तरह प्राचीन और महत्त्वपूर्ण है। इसमें 10 अध्ययन हैं तथा विकाल (सन्ध्याकाल) में अध्ययन किया जाने के कारण इसका नाम दशवैकालिक है। मुनि का आचार प्रतिपादित करना इसका मुख्य विषय है। इसके रचयिता स्वयम्भव हैं।
 3. आवश्यक -- इसमें सामायिक आदि 6 नित्यकर्म प्रतिपादक ग्रन्थ सम्मिलित हैं।
- (4 - 6.) नन्दी और अनुयोगद्वार -- ये दोनों आगमों के परिशिष्ट जैसे हैं। नन्दी दूष्यगणि के शिष्य देववाचक की और अनुयोगद्वार आर्यरक्षित की रचना है।
- (7) ओघनिर्युक्ति -- ओघ का अर्थ है सामान्य। इसमें साधु के सामान्य आचार-विचार का दृष्टान्त शैली में वर्णन है। यह भी भद्रबाहु की रचना है।
- (8) पाक्षिकसूत्र -- यह आवश्यक का अंग है क्योंकि इसमें साधु के पाक्षिक प्रतिक्रमण का वर्णन है।

छेदसूत्र -- इनमें साधु एवं साध्विनियों के प्रायश्चित्त विधि का वर्णन है। आगमों के प्राचीनतम अंश होने से महत्त्वपूर्ण है। ये संक्षिप्त शैली में लिखे गये हैं। बौद्धों के विनयपिटक से इनकी तुलना की जा सकती है। इनकी संख्या के विषय में मतभेद है। ये संख्या में अधिक से अधिक छः माने गये हैं और कम से कम चार। छेदसूत्र जैन आचार की कुंजी है तथा जैन संस्कृति की अद्वितीय निधि है।

1. दशाश्रुतस्कन्ध (आचारदशा) -- इसमें 10 अध्ययन है। मुख्यतया यह गद्य में है। इसके रचयिता आचार्य भद्रबाहु हैं।

2. बृहत्कल्प (कल्पसूत्र) -- इसमें 6 उद्देशक हैं जो गद्य में लिखे गये हैं।

3. व्यवहार -- इसमें 20 उद्देशक हैं जिसमें करीब 1500 सूत्र हैं। छेदसूत्रों में इसका सबसे अधिक महत्त्व है।

5. महानिशीथ -- इसमें 6 अध्ययन एवं दो चूलायें हैं। भाषा और विषय की दृष्टि से यह प्राचीन नहीं लगता है। वस्तुतः महानिशीथ नष्ट हो गया है। उपलब्ध महानिशीथ (जो निशीथ से छोटा है) हरिभद्रसूरि का उद्धार है।

6. जीतकल्प -- इसके रचयिता भाष्यकार जिनभद्रगणिकमाश्रमण हैं। इसमें 103 गाथायें हैं। कुछ विद्वान इसके स्थान पर पंचकल्प नाम देते हैं।

प्रकीर्णक -- प्रकीर्णक का अर्थ है विविध। इनकी संख्या हजारों में है, परन्तु क्लृप्तीवाचना में 10 प्रकीर्णकों को मान्यता दी गई थी। वर्तमान में मुख्य रूप से 10 प्रकीर्णक माने जाते हैं। यद्यपि इनके नामों में एकरूपता नहीं है फिर भी निम्न 10 प्रकीर्णक प्रमुख हैं जो मूर्तिपूजकों को विशेष रूप से मान्य है --

1. चतुःशरण (कुशलानुबंधि अययन) -- इसमें 63 गाथायें हैं। इसमें अरहंत, सिद्ध साधु और केवलिकथित धर्म को शरण माना गया है। अतः इसे चतुःशरण कहते हैं।

2. आतुरप्रत्याख्यान (अन्तकाल प्रकीर्णक) -- इसमें 70 गाथायें तथा कुछ गद्य भाग है। इसमें बालमरण और पण्डितमरण का विवेचन है।

3. महाप्रत्याख्यान -- इसमें 142 गाथाओं द्वारा प्रत्याख्यान (त्याग) का वर्णन किया गया है।

4. भक्तपरिज्ञा -- इसमें 172 गाथाओं द्वारा भक्तपरिज्ञा नामक मरण का वर्णन किया गया है।

5. तन्दुलवैचारिक -- इसमें 139 गाथायें तथा कुछ सूत्र हैं। इसमें नारी जाति के विषय में तथा गर्भ के विषय में वर्णन है। 100 वर्ष की आयु वाला मनुष्य कितना तन्दुल (चावल) खाता है, इसका विचार होने से इसका नाम तन्दुलवैचारिक पड़ गया है।

6. संस्तारक -- इसमें 123 गाथायें हैं जिनमें मृत्यु के समय अपनाने योग्य संस्तारक (तृण आदि की शय्या) का महत्त्व वर्णित है।

7. गच्छाघार -- इसमें 137 गाथायें हैं जिनमें गच्छ (समूह) में रहने वाले साधु-साध्वियों के आचार का वर्णन है। यह महानिशीथ, कल्प (बृहत्कल्प) तथा व्यवहारसूत्र के आधार पर लिखा गया है।

8. गणिविद्या -- इसमें 82 गाथायें हैं जिनमें ज्योतिष, विद्या का वर्णन है।

9. देवेन्द्रस्तव -- इसमें 307 गाथाओं द्वारा 32 देवेन्द्रों का वर्णन किया गया है।

10. मरणसमाधि (मरणविभक्ति) -- इसमें 663 गाथायें हैं। इसमें समाधिमरण का 14 द्वारों में विवेचन किया गया है।

नोट :-- श्वेताम्बर मूर्तिपूजक गच्छाचार और मरणसमाधि के स्थान पर निम्न दो प्रकीर्णक मानते हैं--

11. चन्द्रवेद्यक -- इसमें 175 गाथायें हैं। चन्द्रवेद्यक का अर्थ है -- राधावेद। इसमें "मृत्यु के समय थोड़ा भी प्रमाद नहीं करना चाहिए" इसका वर्णन है।

12. वीरस्तव -- इसमें 43 गाथाओं में भगवान महावीर की स्तुति है। कुछ अन्य प्रकीर्णकों के नाम हैं -- तीर्थोद्गालिक, अजीवकल्प, आराधनापताका, द्वैपसागरप्रज्ञप्ति, ज्योतिष्करणडक, अंग विद्या, पिण्डविशुद्धि, तिथिप्रकीर्णक, सारावलि, पर्यन्तआराधना, जीवविभक्ति, कवचप्रकरण, योनिप्राभृत आदि।

आगमिक व्याख्या साहित्य

मूल आगम ग्रन्थों के रहस्य का उद्घाटन करने के लिए व्याख्यात्मक साहित्य लिखा गया। इनमें ग्रन्थकार ग्रन्थ के गूढार्थ को प्रकाशित करने के साथ-साथ अपनी मान्यता की भी प्रतिस्थापना करते हैं। कई व्याख्या ग्रन्थ तो इतने प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण हो गये कि उन्हें मूल आगम ग्रन्थों में मिला लिया गया। इससे व्याख्या साहित्य का महत्त्व प्रकट होता है। भारतीय संस्कृति, कला, पुरातत्त्व, दर्शन, इतिहास, साहित्य आदि कई दृष्टियों से इनका महत्त्वपूर्ण योगदान है। इस व्याख्या साहित्य को 5 भागों में विभक्त किया जाता है --

1. निर्युक्ति (निज्जुति) -- प्राकृत भाषा में पद्यबद्ध व्याख्या।
2. भाष्य (भास) -- प्राकृत भाषा में पद्यबद्ध व्याख्या।
3. चूर्णि (चुण्णि) -- संस्कृत-प्राकृत मिश्रित गद्यात्मक व्याख्या।
4. संस्कृत टीकायें।
5. लोकभाषा में रचित टीकायें।

इनके अतिरिक्त आगमों के विषयों का संक्षेप में परिचय देने वाली संग्रहणियाँ भी बहुत प्राचीन हैं। पंचकल्पमहाभाष्य के उल्लेखानुसार संग्रहणियों की रचना आर्य कालक ने की है। पाक्षिकसूत्र में भी संग्रहणी का उल्लेख मिलता है।

निर्युक्तियाँ

इनमें प्रत्येक पद का व्याख्यान न करके विशेष रूप से पारिभाषिक शब्दों का व्याख्यान है। इनकी व्याख्यान शैली निक्षेप पद्धति के रूप में प्रसिद्ध है। इस शैली में किसी एक पद के कई सम्भावित अर्थ करने के बाद उनमें से अप्रस्तुत अर्थ का निषेध करके प्रस्तुत (प्रासंगिक) अर्थ का ग्रहण किया जाता है। अतः शब्दार्थ निर्णय (निश्चय) का नाम निर्युक्ति है। आवश्यकनिर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु (गाथा 88) ने स्पष्ट लिखा है कि एक शब्द के कई अर्थ होते हैं, उनमें से कौन सा अर्थ किस प्रसंग के लिए उपयुक्त है, भगवान महावीर के उपदेशकाल में किस शब्द से कौन सा अर्थ सम्बद्ध रहा है, आदि बातों को दृष्टि में रखकर सम्यक् अर्थ निर्णय तथा मूलसूत्र के शब्दों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना निर्युक्ति का उद्देश्य है। इस तरह पारिभाषिक शब्दों की सुस्पष्ट व्याख्या करना निर्युक्तियों का प्रयोजन है। इतिहास, दर्शन, संस्कृति, भूगोल, भाषाविज्ञान आदि दृष्टियों से इनका अध्ययन कई महत्त्वपूर्ण सूचनाओं को देने वाला है। ये पद्यात्मक हैं तथा प्राकृत भाषा में लिखी गई हैं। इनका रचनाकाल वि.सं. 500-600 के मध्य माना जाता है। इनके प्रसिद्ध रचयिता हैं -- आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय)। इन्होंने निम्न दशनिर्युक्तियों को लिखा है--

1. आवश्यकनिर्युक्ति -- यह आचार्य भद्रबाहु की प्रथम कृति है। आवश्यकसूत्र की यह निर्युक्ति अन्य निर्युक्तियों की अपेक्षा अति महत्त्वपूर्ण है। इसका प्रारम्भिक उपोद्घात सबसे महत्त्वपूर्ण अंश है। इस निर्युक्ति पर जिनभद्र,

जिनदासगणि आदि ने विविध टीकायें लिखीं हैं। भिन्न-भिन्न व्याख्याओं में इसकी गाथा संख्या भिन्न-भिन्न है। माणिक्यशेखर की दीपिकाटीका में इस निर्युक्ति की 1615 गाथायें हैं। कहीं-कहीं जिनभद्रकृत विशेषावश्यकभाष्य की गाथायें भी निर्युक्ति गाथाओं में मिली हुई हैं।

2. दशवैकालिकनिर्युक्ति -- इसमें पुष्प, धान्य, रत्न, चतुष्पद आदि पदों के व्याख्यान से विविध विषयों की सम्यक् जानकारी मिलती है।

3. उत्तराध्ययननिर्युक्ति -- इसमें विविध पदों की निर्युक्ति के प्रसंग में अंग की व्याख्या करते हुए गंधाग, औषधांग, मद्यांग, शरीरांग, युद्धांग आदि के भेद-प्रभेदों का वर्णन है। सत्रह प्रकार के मरण की भी व्याख्या है।

4. आचारांगनिर्युक्ति -- इसके प्रारम्भ में आचारांग का अङ्ग में प्रथम स्थान माने जाने का हेतु बतलाया गया है। अन्त में "आचारांग की पंचम चूला निशीथ की निर्युक्ति बाद में करूँगा" कहकर उसे छोड़ दिया है।

5. सूत्रकृतांगनिर्युक्ति -- इसमें सूत्रकृतांग शब्द का विवेचन करते हुए गाथा, पुरुष, समाधि, आहार आदि विविध पदों की व्याख्या की गई है।

6. दशाधृतस्कन्धनिर्युक्ति -- इसमें समाधि, स्थान, चित्त, पर्युषणा, मोह आदि पदों की निर्युक्तियाँ हैं।

7. बृहत्कल्पनिर्युक्ति -- इसमें भाष्य गाथायें मिश्रित हो गई हैं। इसमें ताल, नगर, राजधानी, उपाश्रय, चर्म, मैथुन आदि की महत्त्वपूर्ण निर्युक्तियाँ हैं। बीच-बीच में दृष्टान्तरूप कथानक भी हैं।

8. व्यवहारनिर्युक्ति -- इसमें भी भाष्य गाथायें मिश्रित हो गई हैं। यह बृहत्कल्प की पूरक रूप निर्युक्ति है। इसमें साधुओं के आचार-विचार से सम्बन्धित पदों की संक्षिप्त विवेचना है।

9. सूर्यप्रज्ञप्तिनिर्युक्ति -- अनुपलब्ध है।

10. ऋषिभाषितनिर्युक्ति -- अनुपलब्ध है।

ओघनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति, पंचकल्पनिर्युक्ति और निशीथनिर्युक्ति क्रमशः दशवैकालिकनिर्युक्ति, बृहत्कल्पनिर्युक्ति और आचारांगनिर्युक्ति की पूरक हैं। संसक्तनिर्युक्ति परवर्ती किसी अन्य आचार्य की रचना है। गोविन्दाचार्य की गोविन्दनिर्युक्ति अनुपलब्ध है। ओघनिर्युक्ति और पिण्डनिर्युक्ति को मूलसूत्रों में भी गिनाया जाता है।

भाष्य -- निर्युक्तियों के संक्षिप्त तथा गूढ़ होने से उनका विस्तार से विचार करने हेतु तथा गूढ़ार्थ के रहस्य को प्रकट करने के लिए भाष्य लिखे गए। जिस तरह प्रत्येक आगम ग्रन्थ पर निर्युक्ति नहीं लिखी जा सकी, उसी प्रकार प्रत्येक निर्युक्ति पर भाष्य भी नहीं लिखे जा सके। कुछ भाष्य तो निर्युक्तियों पर हैं परन्तु कुछ भाष्य मूलसूत्रों पर भी हैं। इस भाष्य साहित्य का कई दृष्टियों से अति महत्त्वपूर्ण स्थान है। कुछ भाष्य बहुत विस्तृत हैं तथा कुछ भाष्य बहुत संक्षिप्त हैं। ये भाष्य भी निर्युक्तियों की तरह पद्यात्मक शैली में प्राकृत भाषा में लिखे गए हैं जिससे कहीं-कहीं भाष्य गाथायें निर्युक्ति गाथाओं में मिल गई हैं। भाष्यकार के रूप में जिनभद्रगणि और संघदासगणि प्रसिद्ध हैं। विशेषावश्यकभाष्य और जीतकल्पभाष्य संघदासगणि की रचनायें हैं। सम्भवतः संघदासगणि आ. जिनभद्र के पूर्ववर्ती हैं। अन्य भाष्यकारों की स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती है। प्रमुख 10 आगम ग्रन्थों के भाष्य निम्न हैं--

1. आवश्यकभाष्य -- आवश्यकसूत्र पर तीन भाष्य लिखे गए हैं -- मूलभाष्य, भाष्य और विशेषावश्यकभाष्य। प्रथम दो भाष्य अत्यन्त संक्षिप्त हैं और उनकी गाथायें विशेषावश्यकभाष्य में मिल गई हैं। यह विशेषावश्यकभाष्य

पूरे आवश्यकसूत्र पर न होकर केवल प्रथम सामायिक आवश्यक पर है। इसमें 3603 गाथायें हैं। जैनागम के प्रायः सभी विषयों की चर्चा इस भाष्य में है। इसमें जैन सिद्धान्तों का विवेचन दार्शनिक पद्धति से किया गया है जिससे जैनैतर दार्शनिकों की भी मान्यताओं का ज्ञान इससे होता है। दिगम्बरों की केवलदर्शन और केवलज्ञान के युगपद् उपयोग की मान्यता का इसमें खण्डन किया गया है।

2. दशवैकालिकभाष्य -- इसमें 63 गाथायें हैं।

3. उत्तराध्ययनभाष्य -- इसमें 45 गाथायें हैं।

4. बृहत्कल्पभाष्य -- बृहत्कल्प पर दो भाष्य है -- लघु और बृहत्। लघुभाष्य में 6400 गाथायें हैं। प्राचीन भारतीय संस्कृति की दृष्टि से इस लघुभाष्य का अतिमहत्त्व है। जैनश्रमणों के आचार का सूक्ष्म और तर्कसंगत विवेचन इसकी विशेषता है। बृहत्-भाष्य पूर्ण उपलब्ध नहीं है।

5. पंचकल्पमहाभाष्य -- इसमें 2574 गाथायें हैं। यह पाँच कल्पों में विभक्त पंचकल्पनिर्णयित का व्याख्यान रूप है। प्रवज्या के योग्य और अयोग्य व्यक्तियों का, साधुओं के विचरण के योग्य आर्य क्षेत्र का भी इसमें वर्णन है।

6. व्यवहारभाष्य -- इसमें 4629 गाथायें हैं जिनमें साधु-साध्वियों के आचार का वर्णन है।

7. निशीथभाष्य -- इसमें लगभग 6500 गाथायें हैं।

8. जीतकल्पभाष्य -- इसमें 2606 गाथायें हैं। इसमें बृहत्कल्प, लघुभाष्य आदि की कई गाथायें अक्षरशः उद्धृत हैं। इसमें प्रायश्चित्त के विधि-विधानों का प्रमुख रूप से विवेचन है।

9. ओघनिर्णयितभाष्य -- इस पर दो भाष्य है -- लघु एवं बृहत्। दोनों में क्रमशः 322 और 2517 गाथायें हैं। दोनों में ओघ, पिण्ड, व्रतादि का विचार है।

10. पिण्डनिर्णयितभाष्य -- इसमें पिण्ड, आधाकर्म आदि का 46 गाथाओं में वर्णन है।

चूर्णियाँ

जैनागमों पर प्राकृत अथवा संस्कृत मिश्रित प्राकृत में गद्यात्मक शैली में जो व्याख्यायें लिखी गईं उन्हें चूर्णियाँ कहते हैं। इस तरह की चूर्णियाँ आगमैतर साहित्य पर भी लिखी गई हैं। चूर्णिकार जिनदासगाणिमहत्तर (वि. सं. 650-750) परम्परा से निशीथविशेषचूर्ण, नन्दीचूर्ण, अनुयोगद्वारचूर्ण, आवश्यकचूर्ण, दशवैकालिकचूर्ण, उत्तराध्ययनचूर्ण तथा सूत्रकृतांगचूर्ण के कर्ता माने जाते हैं। इनके जीवन से सम्बन्धित विशेष जानकारी नहीं मिलती है। जैनागमों पर लिखी गई प्रमुख चूर्णियाँ निम्न हैं -- 1. आचारांगचूर्ण (निर्युक्त्यनुसारी), 2. सूत्रकृतांगचूर्ण (निर्युक्त्यनुसारी संस्कृत प्रयोग) अपेक्षाकृत अधिक है, 3. व्याख्याप्रज्ञप्ति या भगवतीचूर्ण, 4. जीवाभिगमचूर्ण, 5. निशीथचूर्ण (इस पर दो चूर्णियाँ हैं परन्तु उपलब्ध एक ही है, निशीथविशेषचूर्ण कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है), 6. महानिशीथचूर्ण, 7. व्यवहारचूर्ण, 8. दशाश्रुतस्कन्धचूर्ण, 9. बृहत्कल्पचूर्ण (दो चूर्णियाँ हैं), 10. पंचकल्पचूर्ण, 11. ओघनिर्णयितचूर्ण, 12. जीतकल्पचूर्ण (इस पर दो चूर्णियाँ हैं परन्तु उपलब्ध एक ही है। उपलब्ध चूर्ण के कर्ता सिद्धसेनसूरि हैं। यह सम्पूर्ण प्राकृत में है), 13. उत्तराध्ययनचूर्ण, 14. आवश्यकचूर्ण (इसमें ऐतिहासिक व्यक्तियों के कथानकों का संग्रह है), 15. दशवैकालिकचूर्ण (इस पर दो चूर्णियाँ हैं। एक अगस्त्यसिंह की है और दूसरी जिनदासकृत है), 17. नन्दीचूर्ण (यह संक्षिप्त और प्राकृत भाषा प्रधान है। मुख्यरूप से ज्ञान-स्वरूप की चर्चा है), 18. अनुयोगद्वारचूर्ण (इस पर दो चूर्णियाँ हैं। एक के कर्ता भाष्यकार जिनभद्राणि हैं और दूसरे के चूर्णिकार जिनदासगाणि), 19. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिचूर्ण आदि।

संस्कृत टीकायें

संस्कृत के प्रभाव को देखते हुए जैनाचार्यों ने जैनागमों पर कई नामों से संस्कृत व्याख्यायें लिखीं हैं। इनका भी आगमिक व्याख्या साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। संस्कृत व्याख्याकारों ने निर्युक्तियों, भाष्यों और चूर्णियों का उपयोग करते हुए नये-नये तर्कों के द्वारा सिद्धान्त पक्ष की पुष्टि की है। जैनागम पर सबसे प्राचीन संस्कृत टीका आचार्य जिन्मद्भगणिक्षमाश्रमण कृत विशेषावश्यकभाष्य की स्वोपज्ञवृत्ति है। टीकाकारों में हरिभद्रसूरि, शीलाकसूरि, वादिवेतालशान्तिसूरि, अभयदेवसूरि, मलयगिरि, मलधारी हेमचन्द्र आदि प्रसिद्ध हैं। कुछ अज्ञात टीकाकार भी हैं। ज्ञातनामा टीकाकार भी बहुत हैं।

लोकभाषारचित टीकायें -- हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी आदि लोक-भाषाओं में भी विपुल टीकायें लिखी गई हैं। समीक्षात्मक शोध-प्रबन्धों के द्वारा भी आगमों के रहस्य को इन लोक भाषाओं द्वारा उद्घाटित किया गया है। इनका भी कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण स्थान है।

इस तरह जैनागम और उसका व्याख्या साहित्य न केवल जैनों की अमूल्य निधि है अपितु भारतीय सभ्यता, संस्कृति, इतिहास, दर्शन आदि की भी अमूल्य निधि है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी इनका बड़ा महत्त्व है। यदि आज यह साहित्य हमारे पास उपलब्ध न होता तो हम अन्धकार में पड़े रहते।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 1, पृ. 31.
2. समवायाङ्गसूत्र, भाग 1, पृ. 136.
3. प्राकृत साहित्य बृहद् इतिहास, भाग 1, पृ. 44.
4. वही,
5. नन्दीसूत्र 43; तत्त्वार्थवार्तिक 1,20,13; आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 92.
6. षट्खण्डागम -- यह 16 भागों में प्रकाशित है। इसके जीवट्ठाण, खुद्दाबंध, बंधसामित्तविधय, वेदना, वगणा और महाबन्ध ये 6 खण्ड हैं, अतः इसे षट्खण्डागम कहते हैं। इसका उद्गम स्रोत दृष्टिवाद के द्वितीय पूर्व आग्रायणीय के घयनलब्धि नामक 5वें अधिकार के चौथे पाहुड कर्मप्रकृति को माना जाता है। लेखक हैं आचार्य धरसेन। इस पर आचार्य वीरसेन ने धवलाटीका लिखी है। महाबन्ध नामक छठा खण्ड अपनी विशालता के कारण पृथक् ग्रन्थ के रूप में माना जाता है।
7. कसायपाहुड -- यह 16 भागों में प्रकाशित है। इसमें राग (पेज्ज) और द्वेष का निरूपण है। रचनाकार हैं आचार्य गुणधर जो दृष्टिवाद के 5वें ज्ञानप्रवाद पूर्व के 10वें वस्तु के 3सरे कसायप्राभृत के पारगाभी थे। यही अंश इसका उद्गम स्रोत है। इस पर जयधवलाटीका आचार्य वीरसेन और जिनसेन ने लिखी है। आचार्य यतिवृषभ ने चूर्णि लिखी है।

* रीडर, संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

निर्युक्तिसाहित्य : एक परिचय

- डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय*

आगम साहित्य के गुरु गंभीर रहस्यों के उद्घाटन के लिये निर्मित व्याख्या साहित्य में निर्युक्तियों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन आगम साहित्य पर सर्वप्रथम प्राकृत भाषा में जो पद्यबद्ध टीकाएँ लिखी गईं वे ही निर्युक्तियों के नाम से विश्रुत हैं। निर्युक्तियों में मूलग्रन्थ के पद पर व्याख्या न करके, मुख्य रूप से पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या की गई है। निर्युक्तियों की व्याख्या-शैली, निक्षेप-पद्धति की है। निक्षेप पद्धति में किसी एक पद के सम्भावित अनेक अर्थ करने के पश्चात् उनमें से अप्रस्तुत अर्थों का निषेध कर प्रस्तुत अर्थ का ग्रहण किया जाता है। यह पद्धति जैन न्यायशास्त्र में अत्यधिक प्रिय रही है। इस शैली का प्रथम दर्शन हमें अनुयोगद्वार¹ में होता है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने निर्युक्ति के लिये यही पद्धति प्रशस्त मानी है। निर्युक्ति का प्रयोजन स्पष्ट करते हुये उन्होंने लिखा है -- "एक ही शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, कौन सा अर्थ किस प्रसंग के लिये उपयुक्त है, भ्रमण महावीर के उपदेश के समय कौन सा अर्थ किस शब्द से सम्बद्ध रहा है, प्रभृति बातों को लक्ष्य में रखकर अर्थ का सम्यक् रूप से निर्णय करना और उस अर्थ का मूलसूत्र के शब्दों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना निर्युक्ति का कार्य है।² दूसरे शब्दों में कहा जाय तो सूत्र और अर्थ का निश्चित सम्बन्ध बताने वाली व्याख्या निर्युक्ति है -- "सूत्रार्थयोः परस्परं निर्योजनं सम्बन्धनं निर्युक्तिः"³ अथवा निश्चय से अर्थ का प्रतिपादन करने वाली युक्ति को निर्युक्ति कहते हैं।⁴

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान शार्पेन्टियर ने निर्युक्ति की व्याख्या करते हुये लिखा है "निर्युक्तियाँ अपने प्रधान भाग के केवल इंडेक्स का कार्य करती हैं-- वे सभी विस्तार युक्त घटनावलियों का संक्षेप में उल्लेख करती हैं।"⁵

अनुयोगद्वारसूत्र में निर्युक्तियों के तीन प्रकार बताये गये हैं --

1. निक्षेपनिर्युक्ति, 2. उपोद्घातनिर्युक्ति, 3. सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्ति। ये तीनों भेद विषय की व्याख्या पर आधारित हैं। डॉ. घाटो⁶ ने निर्युक्तियों को निम्न तीन भागों में विभक्त किया है --

1. मूलनिर्युक्ति अर्थात् जिसमें काल के प्रभाव से कुछ भी मिश्रण न हुआ हो। जैसे -- आचारांग और सूत्रकृतांग की निर्युक्तियाँ।
2. वे निर्युक्तियाँ जिनमें मूलभाष्यों का सम्मिश्रण हो गया है, तथापि वे व्यवच्छेद हैं। जैसे -- दशवैकालिक व आवश्यकनिर्युक्तियाँ।
3. वे निर्युक्तियाँ जो आजकल भाष्य या बृहदभाष्य में समाविष्ट हैं इनके मूल और भाष्य में इतना सम्मिश्रण हो गया है कि उन दोनों को पृथक् करना दुष्कर है। जैसे -- निशीथ आदि की निर्युक्तियाँ।

यह विभाजन वर्तमान में प्राप्त निर्युक्ति साहित्य के आधार पर किया गया है।

रचनाकाल -- निर्युक्तियों के काल निर्णय के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है, फिर भी इनका रचनाकाल विक्रम संवत् 300 से 600 के मध्य माना जाता है।

निर्युक्तिकार -- जिस प्रकार महर्षि यास्क ने वैदिक पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करने के लिये निघण्टुभाष्य रूप निरुक्त लिखा, उसी प्रकार जैनागमों के पारिभाषिक शब्दों के व्याख्यार्थ आचार्यभद्रबाहु द्वितीय ने निर्युक्तियों की रचना की। ध्यातव्य है कि निर्युक्तिकार आचार्यभद्रबाहु, चतुर्दशपूर्वधर, छेदसूत्रकार, भद्रबाहु से पृथक हैं,

क्योंकि निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने अनेक स्थलों पर छेदसूत्रकार श्रुतकेवली भद्रबाहु को नमस्कार किया है।⁷ यदि छेदसूत्रकार और निर्युक्तिकार एक ही भद्रबाहु होते तो नमस्कार का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि कोई भी समझदार ग्रन्थकार अपने आपको नमस्कार नहीं करता है। इस संशय का एक कारण यह भी है कि भद्रबाहु नाम के एक से अधिक आचार्य हुये हैं। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार चतुर्दशपूर्वधर आचार्यभद्रबाहु नेपाल में योगसाधना के लिये गये थे, जबकि दिगम्बर मान्यता के अनुसार यही भद्रबाहु नेपाल में न जाकर दक्षिण में गये थे। इन दोनों घटनाओं से यह अनुमान हो सकता है कि ये दोनों भद्रबाहु भी भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे परन्तु निर्युक्तिकार भद्रबाहु इन दोनों से भिन्न तीसरे व्यक्ति थे। ये चतुर्दशपूर्वधर भद्रबाहु न होकर विक्रम की छठीं शताब्दी में विद्यमान एक अन्य ही भद्रबाहु हैं जो प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् वाराहमिहिर के भाई माने जाते हैं। निर्युक्तियों में इतिहास की दृष्टि से भी अनेक ऐसी बातें आयीं हैं जो श्रुतकेवली भद्रबाहु के बहुत काल बाद घटित हुईं। अतः निर्युक्तिकार भद्रबाहु द्वितीय हैं जो छेदसूत्रकार श्रुतकेवलीभद्रबाहु से भिन्न हैं। इनका समय विक्रम सं. 562 के लगभग है। ये अष्टांगनिमित्त मंत्रविद्या के पारगाभी अर्थात् नैमित्तिक के रूप में भी प्रसिद्ध हैं, इन्होंने अपने भाई के साथ धार्मिक स्पर्धाभाव रखते हुये "भद्रबाहु संहिता" एवं "उपसर्गहरस्तोत्र" की रचना की। इन दो ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने निम्न दस निर्युक्तियों की रचना की--

- | | | | |
|--------------------------|-----------------------------|--------------------------------|------------------------|
| 1. आवश्यकनिर्युक्ति | 4. आचारांगनिर्युक्ति | 7. कल्प(बृहत्कल्प)निर्युक्ति | 10. ऋषिभाषितनिर्युक्ति |
| 2. दशवैकालिकनिर्युक्ति | 5. सूत्रकृतांगनिर्युक्ति | 8. व्यवहारनिर्युक्ति | |
| 3. उत्तराध्ययननिर्युक्ति | 6. दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति | 9. सूर्यप्रज्ञप्तिनिर्युक्ति | |

आचार्यभद्रबाहु की इन दस निर्युक्तियों का रचनाक्रम वही है जिस क्रम में उन्होंने आवश्यकनिर्युक्ति में निर्युक्तिरचनाप्रतिज्ञा की है।⁸ निर्युक्तियों में जो नाम, विषय आदि आये हैं, वे भी इस तथ्य को प्रकट करते हैं।⁹

इन दस निर्युक्तियों में से सूर्यप्रज्ञप्ति और ऋषिभाषित की निर्युक्तियाँ अनुपलब्ध हैं। ओघनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति, पंचकल्पनिर्युक्ति और निशीथनिर्युक्ति क्रमशः आवश्यकनिर्युक्ति, दशवैकालिकनिर्युक्ति, बृहत्कल्पनिर्युक्ति और आचारांगनिर्युक्ति की पूरक हैं। संसक्तनिर्युक्ति क्रमशः आवश्यक, दशवैकालिक, बृहत्कल्प और आचारांगनिर्युक्ति की पूरक हैं। संसक्तनिर्युक्ति बाद के किसी आचार्य की रचना है। गोविन्दाचार्य प्रणीत गोविन्दानिर्युक्ति भी वर्तमान में अनुपलब्ध है।

आवश्यकनिर्युक्ति

आचार्यभद्रबाहु प्रणीत दस निर्युक्तियों में आवश्यकनिर्युक्ति की रचना सर्वप्रथम हुई है। यही कारण है कि यह निर्युक्ति कथ्य, शैली आदि सभी दृष्टियों से अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस निर्युक्ति में अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों की विशद एवं व्यवस्थित व्याख्या की गई है। इसके बाद की निर्युक्तियों में उन विषयों की संक्षिप्त चर्चा करते हुये विस्तृत व्याख्या के लिये आवश्यकनिर्युक्ति की ओर संकेत कर दिया गया है। इस दृष्टि से अन्य निर्युक्तियों को समझने के लिये आवश्यकनिर्युक्ति का ज्ञान आवश्यक है। जैन आगमिक साहित्य में आवश्यकसूत्र का विशेष स्थान है। इसमें छः अध्ययन हैं। प्रथम अध्ययन का नाम सामायिक है। शेष पाँचों अध्ययन के नाम चतुर्विंशतिरस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान हैं। आवश्यकनिर्युक्ति इसी सूत्र की आचार्यभद्रबाहुकृत पद्यात्मक प्राकृत व्याख्या है। इसी व्याख्या के प्रथम अंश अर्थात् सामायिक अध्ययन से सम्बन्धित निर्युक्ति की विस्तृत व्याख्या आचार्यजिनभद्र ने विशेषावश्यकभाष्य नाम से की है। इस भाष्य की भी अनेक व्याख्यायें हुई हैं, जिनमें मलधारी हेमचन्द्रकृत व्याख्या विशेष प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त आवश्यकनिर्युक्ति पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं जो प्रकाशित भी हैं। उनमें से मलयगिरिकृतवृत्ति, हरिभद्रकृतवृत्ति, मलधारी हेमचन्द्रकृत प्रदेशव्याख्या तथा

चन्द्रसूरिकृत प्रदेशव्याख्याटिप्पण, माणिक्यशेखरकृत आवश्यकनिर्युक्तिदीपिका, जिनदासगणि महत्तरकृतचूर्णि एवं विशेषावश्यक की जिनभद्र की स्वोपज्ञवृत्ति प्रमुख हैं।

उपोद्घात् -- आवश्यकनिर्युक्ति के प्रारम्भ में उपोद्घात है, इसे इस ग्रन्थ की भूमिका कहा जा सकता है। इसमें 880 गाथाएँ हैं। उपोद्घात में आभिनिबोधक, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन पाँच प्रकार के ज्ञान, इनके अवान्तर भेद, प्रत्येक का काल-प्रमाण, आभिनिबोधक ज्ञान की निमित्तभूत पाँच इन्द्रियाँ, आभिनिबोधक ज्ञान के समानार्थक शब्द, अक्षर, सञ्जी, सम्यक्, सादिक, सपर्यवसित, गमिक, अंगप्रविष्ट, अनक्षर, असञ्जी, मिथ्या, अनादिक, अपर्यवसित, अगमिक और अंगबाह्य¹⁰ इन चौदह प्रकार के निक्षेपों के आधार पर श्रुतज्ञान, उसके स्वरूप व भेद एवं अवधि तथा मनःपर्ययज्ञान के स्वरूप व प्रकृतियों की विशद विवेचना की गई है। इसे ज्ञानाधिकार भी कहते हैं। इसके बाद षडावश्यकों में से सामायिक को सम्पूर्णश्रुत के आदि में रखते हैं। इसका कारण यह है कि श्रमण के लिये सामायिक का अध्ययन सर्वप्रथम अनिवार्य है। सामायिक के अध्ययन के पश्चात् ही अन्य आगम साहित्य के पढ़ने का विधान है।¹¹ चारित्र का प्रारम्भ ही सामायिक से होता है, इसलिये चारित्र की पाँच भूमिकाओं में प्रथम भूमिका सामायिक चारित्र की है।

ज्ञान और चारित्र के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा करते हुये, आचार्य ने यही सिद्ध किया है कि मुक्ति के लिये ज्ञान और चारित्र दोनों अनिवार्य हैं। चारित्रविहीन ज्ञान और ज्ञानविहीन चारित्र एक-दूसरे से दूर आग से घिरे हुए अन्धे और लंगड़े के समान हैं, जो एक-दूसरे के अभाव में अपने मन्तव्य पर नहीं पहुँच सकते।¹² अतः ज्ञान व चारित्र के संतुलित समन्वय से ही मोक्ष प्राप्ति होती है। इसके बाद आचार्य सामायिक के अधिकारी की पात्रता, उसका क्रमशः विकासक्रम, कर्मों के क्षयोपशम एवं मोक्ष प्राप्ति कैसे होती है? आदि प्रश्नों, एवं तज्जनित शंकाओं के समाधान के साथ उपशम एवं क्षपक श्रेणी का विस्तृत वर्णन किया है। इसके पश्चात् आचार्य शिष्य की योग्यता के मापदण्ड का व्याख्यान विधि से निरूपण करते हुए अपने मुख्य विषय सामायिक का व्याख्यान प्रारम्भ किया है, जिसे उन्होंने उद्देश्य, निर्देश, निर्गम, क्षेत्र, काल, पुरुष, कारण, प्रत्यय आदि छब्बीस निक्षेपों के आधार पर व्याख्यायित किया है। इस क्रम में निर्गम की चर्चा करते हुये भगवान महावीर के मिथ्यात्वादि से निर्गमन, उनके पूर्व भव, ऋषभदेव से पूर्व होने वाले कुलकर, ऋषभदेव के पूर्वभव, उनकी जीवनी एवं चारित्र का वर्णन करते हुये निर्युक्तिकार ने भगवान महावीर के जन्म एवं उनके जन्म से सम्बन्ध रखने वाली तरह घटनाओं -- स्वप्न, गर्भापहार, अभिग्रह, जन्म, अभिषेक, वृद्धि, जातिस्मरणज्ञान, भयोत्पादन, अपत्य, दान, सम्बोध और महाभिनिष्क्रमण¹² तथा उनके इन्द्रभूति आदि ग्यारह गणधरों¹⁴ का भी उल्लेख किया है।

इसके पश्चात् आचार्य ने सामायिकसूत्र के प्रारम्भ में आने वाले नमस्कार मंत्र की उत्पत्ति, निक्षेप, पद, पदार्थ, प्ररूपणा, वस्तु, आक्षेप, प्रसिद्धि, क्रम प्रयोजन और फल¹⁵ इन ग्यारह धारों से व्याख्या की है। पंचनमस्कार के बाद सामायिक किस प्रकार करनी चाहिए?¹⁶ सामायिक का लाभ कैसे होता है?¹⁷ सामायिक का उद्देश्य क्या है?¹⁸ आदि प्रश्नों का विशद विवेचन आचार्य ने किया है।

चतुर्विंशतिस्तव -- आवश्यकसूत्र का दूसरा अध्ययन चतुर्विंशतिस्तव है। चतुर्विंशति शब्द की नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन छः निक्षेपों एवं स्तव शब्द की चार प्रकार के निक्षेपों से व्याख्या की गई है। चतुर्विंशतिस्तव के लिये आवश्यकसूत्र में "लोगस्सुज्जोयारे" का पाठ है। इसकी निर्युक्ति करते हुये आचार्य भद्रबाहु ने लोक शब्द की नाम, स्थापना, काल, भाव, द्रव्य, क्षेत्र, भव और पर्याय¹⁹ -- इन आठ प्रकार के निक्षेपों से व्याख्या की है। इसके अतिरिक्त दो प्रकार के उद्योत²⁰, श्रमणधर्म, धर्म के भेद एवं अवान्तर भेद, तीर्थ, जिन, अरिहन्त आदि शब्दों की व्याख्या करते हुये, अन्त में निर्युक्तिकार ने चौबीस तीर्थकरों की निक्षेप पद्धति से व्याख्या कर उनके गुणों पर भी प्रकाश डाला है।²¹

वन्दना -- तृतीय अध्ययन का नाम वन्दना है। इस अध्ययन की नियुक्ति करते हुये सर्वप्रथम आचार्य ने वन्दना के वन्दनाकर्म, चितिकर्म, कृतिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म इन पाँच पर्यायों का उल्लेख किया है। इस अध्ययन में वन्दना का नौ द्वारों से विचार किया गया है -- 1. वन्दना किसे करनी चाहिए ? 2. किसके द्वारा होनी चाहिए ? 3. कब होनी चाहिए ? 4. कितनी बार होना चाहिए ? 5. वन्दना करते समय कितनी बार झुकना चाहिए ? 6. कितनी बार सिर झुकाना चाहिए ? 7. कितने आवश्यकों से शुद्ध होना चाहिए ? 8. कितने दोषों से मुक्त होना चाहिए ? एवं 9. वन्दना किसलिये करनी चाहिए ?²² इन द्वारों का निर्देश करने के बाद वन्द्यावन्द्य का भी सविस्तार विवेचन किया गया है। जो द्रव्य व भाव से सुश्रमण है वही वन्द्य है।²³ इस क्रम में ज्ञान, दर्शन और चारित्र के विभिन्न अंगों का विचार करने के बाद आचार्य इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय आदि में हमेशा लगे रहते हैं, वही वन्दनीय है और उन्हीं से जिनप्रवचन का यश फैलता है।²⁴ वन्दना करने वाला पंचमहाव्रती, आलस्यरहित, मानपरिवर्जितमति, संविग्न और निर्जरायी होता है।²⁵ वन्दना के मूलपाठ "इच्छामिख्यमासमणो" की सूत्रस्पर्शी व्याख्या करते हुये नियुक्तिकार ने (1) इच्छा, (2) अनुज्ञापना, (3) अव्याबाध, (4) यात्रा, (5) यापना और (6) अपराधक्षमणा इन छः स्थानों की नियुक्ति²⁶ निक्षेपों के आधार पर करके वन्दनाध्ययन की नियुक्ति को यहीं विश्राम दे दिया है।

प्रतिक्रमण

प्रतिक्रमण नामक यह चतुर्थ अध्ययन है। प्रतिक्रमण की व्याख्या करते हुये आचार्य ने स्पष्ट किया है कि-- प्रमाद के कारण आत्मभाव से जो आत्मा मिथ्यात्व आदि पर-स्थान में चला जाता है, उसका पुनः अपने स्थान में आना प्रतिक्रमण है।²⁷ प्रतिघरणा, परिहरणा, वारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा, शुद्धि²⁸ -- ये प्रतिक्रमण के पर्याय हैं। प्रतिक्रमण पर तीन दृष्टियों से विचार किया गया है-- (1) प्रतिक्रमणरूप क्रिया, (2) प्रतिक्रमण का कर्त्ता अर्थात् प्रतिक्रामक और (3) प्रतिक्रमितव्य अशुभयोग रूप कर्म। जीव पापकर्मयोगों का प्रतिक्रामक है। इसलिये जो ध्यान आदि प्रशस्त योग है, उनका साधु को प्रतिक्रमण नहीं करना चाहिए। प्रतिक्रमण, दैवसिक, रात्रिक, इत्वरिक, यावत्काथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सावत्सरिक, उत्तमार्थक आदि अनेक प्रकार का होता है। पंचमहाव्रत, रात्रिभुक्तिविरति, भक्तपरिज्ञा आदि ऐसे प्रतिक्रमण हैं, जो यावत्काथिक या जीवन भर के लिये हैं। सामान्यतः उच्चार-मूत्र, कफ, नसिकामल, आभोग, अनाभोग, सहसाकार आदि क्रियाओं के उपरान्त प्रतिक्रमण आवश्यक है।²⁹ इसके अतिरिक्त इस अध्ययन में आचार्य ने प्रतिपिद्ध विषयों का आचरण करने, विहित विषयों का आचरण न करने, जिनोक्त वचनों में श्रद्धा न रखने तथा विपरीत प्ररूपणा करने पर प्रतिक्रमण करने का निर्देश³⁰ देते हुए आलोचना निरपलाप आदि बत्तीस योगों की चर्चा की है।³¹ तदनन्तर अस्वाध्यायिक की नियुक्ति, अस्वाध्याय के भेद-प्रभेद एवं तज्जनित परिणामों की चर्चा की गई है।

कायोत्सर्ग -- यह आवश्यकसूत्र का पाँचवाँ अध्ययन है। कायोत्सर्ग की नियुक्ति करने के पूर्व आचार्य ने प्रायश्चित्त के आलोचना, प्रतिक्रमण, मिश्र, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, अनवस्थाप्य और पारार्थिक इन दस भेदों का निरूपण किया है। कायोत्सर्ग एवं व्युत्सर्ग एकार्थक हैं। यहाँ कायोत्सर्ग का अर्थ व्रणचिकित्सा है जो कायोत्थ और परोत्थ दो प्रकार की होती है। जैसा व्रण होता है, वैसी ही उसकी चिकित्सा होती है। कायोत्सर्ग में दो पद हैं -- काय और उत्सर्ग। काय का निक्षेप बारह प्रकार से किया गया है। ये हैं -- (1) नाम, (2) स्थापना, (3) शरीर, (4) गति, (5) निकाय, (6) आस्तिकाय, (7) द्रव्य, (8) मातृका, (9) संग्रह, (10) पर्याय, (11) भार एवं (12) भाव। उत्सर्ग का निक्षेप-- (1) नाम, (2) स्थापना, (3) द्रव्य, (4) क्षेत्र, (5) काल और (6) भाव रूप से छः प्रकार का है। कायोत्सर्ग के चेष्टाकायोत्सर्ग एवं अभिभवकायोत्सर्ग नामक दो विधान हैं। भिक्षाचर्या आदि में होने वाला चेष्टाकायोत्सर्ग एवं उपसर्ग आदि में होने वाला अभिभवकायोत्सर्ग

है।³² अभिभव कायोत्सर्ग की काल मर्यादा अधिकतम एक वर्ष एवं न्यूनतम अन्तर्मुहूर्त है।³³ इसके अतिरिक्त इस अध्ययन में निर्युक्तिकार ने कायोत्सर्ग के भेद परिमाण³⁴, गुण, ध्यान का स्वरूप एवं भेद³⁵, कायोत्सर्ग के विविध-अतिचार शुद्धि-उपाय, शठ एवं अशठ द्वार³⁶, कायोत्सर्ग की विधि³⁷, घोटकलत आदि उन्नीस दोष³⁸, कायोत्सर्ग के अधिकारी एवं कायोत्सर्ग के परिणाम³⁹ की विस्तृत विवेचना की है।

प्रत्याख्यान -- आवश्यकसूत्र का षष्ठ अध्ययन प्रत्याख्यान के रूप में है। आचार्यभद्रबाहु ने प्रत्याख्यान का निरूपण छः दृष्टियों से किया है। (1) प्रत्याख्यान, (2) प्रत्याख्याता, (3) प्रत्याख्येय, (4) पर्यद, (5) कथनविधि एवं (6) फल।⁴⁰ प्रत्याख्यान के छः भेद हैं-- (1) नामप्रत्याख्यान, (2) स्थापनाप्रत्याख्यान, (3) द्रव्यप्रत्याख्यान, (4) आदित्साप्रत्याख्यान, (5) प्रतिषेधप्रत्याख्यान एवं (6) भावप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान से आस्रव का निरुन्धन एवं समता की सरिता में अक्गाहन होता है। प्रत्याख्यातव्य, द्रव्य व भाव रूप से दो प्रकार का होता है। अशनादि का प्रत्याख्यान प्रथम द्रव्यप्रत्याख्याण्य है एवं अज्ञानादि का प्रत्याख्यान भावप्रत्याख्यातव्य है। प्रत्याख्यान के अधिकारी को बताते हुए आचार्य ने कहा है कि प्रत्याख्यान का वही अधिकारी है जो विनीत एवं अव्यक्षिप्त रूप हो। अन्त में प्रत्याख्यान के फल की विवेचना की गई है।

आवश्यकनिर्युक्ति के इस विस्तृत विवेचन से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि जैननिर्युक्ति ग्रन्थों में आवश्यकनिर्युक्ति का कितना महत्त्व है। श्रमण जीवन की सफल साधना के लिये अनिवार्य सभी प्रकार के विधि-विधानों का संक्षिप्त, सुव्यवस्थित एवं मर्मस्पर्शी निरूपण आवश्यकनिर्युक्ति की एक बहुत बड़ी विशेषता है।

2. दशवैकालिकनिर्युक्ति

इस निर्युक्ति के आरम्भ में आचार्य ने सर्वसिद्धों को नमस्कार करके इसकी रचना करने की प्रतिज्ञा की है।⁴¹ "दश" और "काल" इन दो पदों से सम्बन्ध रखने वाले दशवैकालिक की निक्षेप पद्धति से व्याख्या करते हुये आचार्य ने बताया है कि "दश" का प्रयोग इसलिये किया गया है क्योंकि इसमें "दस" अध्ययन है एवं "काल" का प्रयोग इसलिए है कि इस सूत्र की रचना उस समय हुई जबकि पौरुषी व्यतीत हो चुकी थी अथवा जो दस अध्ययन पूर्ण से उद्घृत किये गये, उनका सुव्यवस्थित निरूपण विकाल अर्थात् अपराहन में किया गया। इसीलिए इस सूत्र का नाम दशवैकालिक रखा गया। इस सूत्र की रचना मनक नामक शिष्य के हेतु आचार्यशयम्भव ने की।⁴² दशवैकालिक में दुमपुष्पिका आदि दस अध्ययन हैं।

प्रथम अध्ययन में धर्म की प्रशंसा करते हुये उसके लौकिक और लोकोत्तर ये दो भेद एवं उनके अवान्तर भेदों को बताया गया है।⁴³ द्वितीय अध्ययन⁴⁴ में धृति की स्थापना की गई है। तृतीय अध्ययन⁴⁵ में क्षुल्लकाचार अर्थात् लघु-आचार कथा का अधिकार है। चौथे अध्ययन⁴⁶ में आत्मसंयम के लिये षड्जीवरक्षा का उपदेश दिया गया है। पिण्डैषणा नामक पंचम अध्ययन⁴⁷ की निर्युक्ति में आचार्य ने "पिण्ड" और "एषणा" इन दो पदों की निक्षेपरूप से व्याख्या करते हुये भिक्षाविशुद्धि के विषय में विशद विवेचना की है। छठे अध्ययन⁴⁸ में बृहद आचार कथा का प्रतिपादन है। सप्तम अध्ययन⁴⁹ वचन विभक्ति का अधिकार है। अष्टम अध्ययन⁵⁰ प्राणिधान अर्थात् विशिष्ट चित्तधर्म सम्बन्धी है। नवम्⁵¹ अध्ययन में विनय का एवं दसवें⁵² अध्ययन में भिक्षु का अधिकार है। इन अध्ययनों के अतिरिक्त इस सूत्र में दो चूलिकाएँ हैं -- प्रथम चूलिका में संयम में स्थिरीकरण का और दूसरी में विविवत्तचर्या का वर्णन है। दशवैकालिकनिर्युक्ति पर अनेक टीकाएँ एवं चूर्ण लिखीं गई हैं, जिनमें जिनदासगणिमहत्तर की चूर्ण अधिक प्रसिद्ध है।

3. उत्तराध्ययननिर्युक्ति

दशवैकालिक की भाँति इस निर्युक्ति में भी अनेक पारिभाषिक शब्दों की निक्षेप दृष्टि से व्याख्या की गई है।

इसमें 607 गाथाएँ हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में भगवान जिनेन्द्र के उपदेश 36 अध्ययनों में संग्रहीत हैं। उत्तराध्ययन के "उत्तर" पद का अर्थ क्रमोत्तर बत अध्ययन पद का अर्थ बताते हुये कहा गया है कि जिससे जीवादि पदार्थों का अधिगम अर्थात् परिच्छेद होता है या जिससे शीघ्र ही अभीष्ट अर्थ की सिद्धि होती है, वही अध्ययन⁵³ है। चूँकि अध्ययन से अनेक भवों से आते हुये कर्मरज का क्षय होता है, इसलिए उसे भावाध्ययन कहते हैं। इसके पश्चात् आचार्य ने श्रुतस्कन्ध⁵⁴ का निक्षेप करते हुए विनयश्रुत, परिषह, चतुरंगीय, असंस्कृत आदि छत्तीस अध्ययनों की विवेचना की है। इस निर्युक्ति में शिक्षाप्रद कथानकों की बहुलता है। जैसे -- गंधार, श्रावक, तोसलिपुत्र, स्थूलभद्र, कालक, स्कन्दपुत्र, पराशरऋषि, करकण्डु आदि प्रत्येकबुद्ध एवं हरिकेश मृगापुत्र आदि की कथाओं का संकेत है। इसके अतिरिक्त निहनव, भद्रबाहु के चार शिष्यों एवं राजगृह के वैमार पर्वत की गुफा में शीतपरीषहों से एवं मच्छरों के घोर उपसर्ग से कालगत होने का भी वर्णन है। इसमें अनेक उक्तियाँ सुक्तों के रूप में हैं। जैसे -- "भावाम्मि उ पव्वज्जा आरम्भपरिगहच्छाओ⁵⁵ अर्थात् हिंसा व परिग्रह का त्याग ही भावप्रव्रज्या है। काव्यात्मक एवं मनोहारी स्थलों का भी अभाव इस निर्युक्ति में नहीं है। जैसे --

अधिरुग्गयए सुरिए

घइयथूम गय वायसे

भित्ती गमए व आपने

सहि सुहिओ हु जणो न वुज्झई⁵⁶

अर्थात् सूर्य का उदय हो चुका है, चैत्यस्तम्भ पर बैठ-बैठ कर काग बोल रहे हैं, सूर्य का प्रकाश दीवारों पर चढ़ गया है किन्तु फिर भी हे सखि ! यह अभी सो ही रहे हैं।

4. आचारांगनिर्युक्ति

उत्तराध्ययननिर्युक्ति के पश्चात् एवं सूत्रकृतांगनिर्युक्ति के पूर्व रचित यह निर्युक्ति आचारांगसूत्र के दोनों श्रुतस्कन्धों पर है। इसमें 347 गाथाएँ हैं। आचारांगनिर्युक्ति के प्रारम्भ में मंगलगाथा है, जिसमें सर्वसिद्धों को नमस्कार कर इसकी रचना करने की प्रतिज्ञा की गई है।⁵⁷ तत्पश्चात् आचार, अंग श्रुत, स्कन्ध, ब्रह्म, चरण, शस्त्र-परिज्ञा, संज्ञा और दिशा का निक्षेप किया गया है।

आचारांग का प्रवर्तन सभी तीर्थकरों ने तीर्थ प्रवर्तन के आदि में किया एवं शेष ग्यारह अंगों का आनुपूर्वी से निर्माण हुआ⁵⁸, ऐसा आचार्य का मत है। आचारांग द्वादशांगी में प्रथम क्यों है, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा गया है कि इसमें मोक्ष के उपाय का प्रतिपादन किया गया है, जो कि सम्पूर्ण प्रवचन का सार है।⁵⁹ अंगों का सार आचारांग है, आचारांग का सार अनुयोगार्थ, अनुयोगार्थ का सार प्ररूपणा, प्ररूपणा का सार चरण, चरण का सार निर्वाण एवं निर्वाण का सार अट्याबाध है, जो साधक का अन्तिम ध्येय है।⁶⁰ आचारांग में नौ ब्रह्मचर्याभिधायी अध्ययन, अठारह हजार पद एवं पाँच चूड़ाएँ हैं।⁶¹

नौ अध्ययनों में प्रथम का अधिकार जीव संयम है, द्वितीय का कर्मविजय, तृतीय का सुख-दुःख तितिक्षा, चतुर्थ का सम्यकत्व की दृढ़ता, पंचम का लोकसाररत्नत्रयाराधना, षष्ठ का निःसंगता, सप्तम का मोहसमत्य परीषहोपसर्ग सहनता, अष्टम का निर्वाण अर्थात् अन्तक्रिया एवं नवम् का जिनप्रतिपादित अर्थश्रद्धान है।

द्वितीय उद्देशक में पृथ्वी आदि का निक्षेप पद्धति से विचार करते हुये उनके विविध भेद-प्रभेदों की चर्चाएँ की गई हैं। इसमें वध को कृत, कारित एवं अनुमोदित तीन प्रकार का बताते हुए अपकाय, तेजस्काय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय और वायुकाय जीवों की हिंसा के सम्बन्ध में चर्चा की गयी है।

द्वितीय अध्ययन लोक विजय है, जिसमें कषाय विजय को ही लोकविजय कहा गया है।⁶²

तृतीय अध्ययन शीतोष्णीय है, जिसमें शीत व उष्ण पदों का निक्षेप विधि से व्याख्यान करते हुए स्त्री परीषह एवं सत्कार परीषह को शीत एवं शेष बीस को उष्णपरीषह बताया गया है।⁶³

सम्यक्त्व नामक चतुर्थ अध्ययन के चारों उद्देशकों में क्रमशः सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-तप एवं सम्यक्-चारित्र्य का विश्लेषण किया गया है।⁶⁴

पंचम अध्ययन लोकसार के छः उद्देशकों में यह बताया गया है कि सम्पूर्ण लोक का सार धर्म, धर्म का सार ज्ञान, ज्ञान का सार संयम और संयम का सार निर्वाण है।⁶⁵

धूत नामक षष्ठ अध्ययन के पाँच उद्देशक हैं जिसमें वस्त्रादि के प्रक्षालन को द्रव्य धूत एवं आठ प्रकार के कर्मों के क्षय को भावधूत⁶⁶ बताया गया है। सप्तम अध्ययन व्यवच्छिन्न है। अष्टम अध्ययन विमोक्ष के आठ उद्देशक हैं। विमोक्ष का नामादि छः प्रकार का निक्षेप करते हुए भावविमोक्ष के देशविमोक्ष व सर्वविमोक्ष दो प्रकार बताये गये हैं। साधु देशविमुक्त एवं सिद्ध सर्वविमुक्त है।⁶⁷

नवम अध्ययन उपधानश्रुत में निर्युक्तिकार ने बताया है कि तीर्थंकर जिस समय उत्पन्न होता है वह उस समय अपने तीर्थ में उपधानश्रुताध्ययन में तपः कर्म का वर्णन करता है।⁶⁸ उपधान के द्रव्योपधान एवं भावोपधान दो भेद किये गये हैं।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध -- प्रथम श्रुतस्कन्ध में जिन विषयों पर चिन्तन किया गया है, उन विषयों के सम्बन्ध में जो कुछ अवशेष रह गया था या जिनके समस्त विवक्षित अर्थ का अभिधान न किया जा सका, उसका वर्णन द्वितीय श्रुतस्कन्ध में है। इसे अग्रश्रुतस्कन्ध भी कहते हैं।

चूलिकाओं का परिमाण इस प्रकार है -- "पिण्डैषणा" से लेकर "अवग्रह प्रतिमा" अध्ययन पर्यन्त सात अध्ययनों की प्रथम चूलिका, सप्तसप्ततिका नामक द्वितीय चूलिका, भावना नामक तृतीय, विमुक्ति नामक चतुर्थ एवं निशीथ नामक पंच चूलिका है।⁶⁹

5. सूत्रकृतांगनिर्युक्ति

इस निर्युक्ति में 205 गाथाएँ हैं। प्रारम्भ में सूत्रकृतांग⁷⁰ शब्द की व्याख्या के पश्चात् अम्ब, अम्बरीष, श्याम, शबल, रुद्र, अवरुद्र, काल, महाकाल, असिपल, धनु, कुम्भ, बालुक, वैतरणी, खरस्वर और महाघोष नामक पन्द्रह परमाधार्मिकों के नाम गिनाये गये हैं। गाथा 119 में आचार्य ने 363 मतान्तरों का निर्देश किया है, जिसमें 180 क्रियावादी, 84 अक्रियावादी, 67 अज्ञानवादी और 32 वैतथिक हैं। इसके अतिरिक्त शिष्य और शिक्षक के भेद-प्रभेदों की भी विवेचना की गई है।⁷¹

6. दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति

यह निर्युक्ति दशाश्रुतस्कन्ध नामक छेदसूत्र पर है। प्रारम्भ में निर्युक्तिकार ने दशा, कल्प और व्यवहार श्रुत के कर्त्ता सकलश्रुतज्ञानी श्रुतकेवली आचार्यभद्रबाहु को नमस्कार किया है।⁷² तदनन्तर दस अध्ययनों के अधिकारों का वर्णन किया है। प्रथम अध्ययन असमाधिस्थान की निर्युक्ति में द्रव्य व भाव समाधि की विवेचना की गई है। द्वितीय अध्ययन शबल की निर्युक्ति में चार निक्षेपों के आधार पर शबल की व्याख्या करते हुये आचार्य से भिन्न अर्थात् अंशतः गिरे व्यक्ति को भावशबल कहा गया है।

तृतीय अध्ययन आशातना की निर्युक्ति में मिथ्या प्रतिपादन सम्बन्धी एवं लाभ सम्बन्धी दो आशातना की चर्चा की गई है।

गणिसंपदा नामक चतुर्थ अध्ययन में गणि एवं संपदा पदों की व्याख्या करते हुए "गणि" व "गुणी" को एकार्थक बताया गया है। आचार को प्रथम गणिस्थान दिया गया है क्योंकि इसके अध्ययन से श्रमण धर्म का ज्ञान होता है। संपदा के द्रव्य व भाव दो भेद करते हुए आचार्य ने शरीर संपदा को द्रव्यसंपदा एवं आचारसंपदा को भावसंपदा का नाम दिया है।⁷³

चित्तसमाधिस्थान नामक पंचम् अध्ययन की निर्युक्ति में उपासक एवं प्रतिमा का निक्षेपपूर्वक विवेचन किया गया है। चित्त व समाधि की चार निक्षेपों के आधार पर व्याख्या करते हुए राग-द्वेषरहित चित्त के विशुद्ध धर्म-ध्यान में लीन होने की अवस्था को भावसमाधि कहा गया है।

उपासकप्रतिमा नामक षष्ठ अध्ययन में "उपासक" और "प्रतिमा" का निक्षेपपूर्वक चिन्तन करते हुए उपासक के द्रव्योपासक, तदर्थोपासक, मोहोपासक एवं भावोपासक रूप चार भेदों एवं श्रमणोपासक की ग्यारह प्रतिमाओं का निरूपण किया गया है।

सप्तम् अध्ययन भिक्षुप्रतिमा का है इसमें भाव भिक्षु की समाधिप्रतिमा, उपधानप्रतिमा, विवेकप्रतिमा, प्रतिसंलीनप्रतिमा एवं एक बिहारप्रतिमा का उल्लेख है।

अष्टम् अध्ययन की निर्युक्ति में पर्यषणाकल्प का व्याख्यान किया गया है। परिवसना, पर्यषणा, वर्षावास, प्रथमसमवरण आदि को एकार्थक कहा गया है।

नवम् अध्ययन मोहनीय स्थान का है, जिसमें मोहनामादि भेद से चार प्रकार का है। पाप, वैर, वर्ज्य, पंक, असाह, संग आदि मोह के पर्यायवाची हैं, ऐसा उल्लेख किया गया है।

अजाति स्थान नामक दशम् अध्ययन में अजाति अर्थात् जन्म-मरण से विमुक्ति-मोक्ष कैसे प्राप्त होता है, का विशद विवेचन किया गया है।

7. बृहत्कल्पनिर्युक्ति

यह निर्युक्तिभाष्यमिश्रित अवस्था में मिलती है। सर्वप्रथम तीर्थकरों को नमस्कार किया गया है।⁷⁴ तदुपरान्त ज्ञान और मंगल में कथंचित भेद-अभेद करते हुए ज्ञान के विविध भेदों का निर्देश किया गया है। मंगल के नाममंगल, स्थापनामंगल, द्रव्यमंगल एवं भावमंगल⁷⁵ की निक्षेप पद्धति से व्याख्या करते हुए अनुयोग, उपक्रम, अनुगम और नय इन चार अनुयोग द्वारा की चर्चा की गई है। इसके अतिरिक्त निर्युक्तिकार ने सपरिग्रह-अपरिग्रह, जिनकाल्पिक एवं स्थविरकाल्पिक के आहार-विहार की चर्चा करते हुए आर्यक्षेत्र के बाहर विचरण करने से लगने वाले दोषों का स्कन्दकाचार्य के दृष्टान्त के साथ दिग्दर्शन कराया है। साथ ही ज्ञान, दर्शन और चारित्र की रक्षा और वृद्धि के लिये आर्य क्षेत्र के बाहर विचरण की आज्ञा एवं संप्रतिराज के दृष्टान्त से उसके समर्थन⁷⁶ का भी उल्लेख मिलता है। यह निर्युक्ति स्वतन्त्र न रहकर बृहत्कल्पभाष्य में मिश्रित हो गई है।

8. व्यवहारनिर्युक्ति

बृहत्कल्प में श्रमण जीवन की साधना का जो शब्द-चित्र प्रस्तुत किया गया एवं उत्सर्ग व अपवाद का जो विवेचन किया गया, उन्हीं विषयों पर व्यवहार में भी चिन्तन किया गया है। यही कारण है कि व्यवहारनिर्युक्ति में अधिकतर उन्हीं अथवा उसी प्रकार के विषयों का विवेचन है जो बृहत्कल्पनिर्युक्ति में उपलब्ध हैं। अतः ये दोनों निर्युक्तियाँ एक-दूसरे की पूरक हैं।

9. सूर्यप्रज्ञप्तिनिर्युक्ति एवं 10. ऋषिभाषितनिर्युक्ति अनुपलब्ध है, जिसकी अन्य निर्युक्तियों के साथ संक्षिप्त परिचयात्मक चर्चा करेंगे।

अन्य निर्युक्तियाँ -- उपलब्ध इन आठ निर्युक्तियों के अतिरिक्त कुछ और निर्युक्तियाँ भी हैं, जो निम्न हैं --

संस्कृतनिर्युक्ति -- यह निर्युक्ति किस आगम पर लिखी गई है, इस सम्बन्ध में कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता। कितने ही विद्वान इसे भद्रबाहु की रचना मानते हैं, कितने उनके बाद के किसी आचार्य की रचना मानते हैं। चौरासी आगमों में इसका भी उल्लेख है।

निशीथनिर्युक्ति -- यह निर्युक्ति एक प्रकार से आचारांगनिर्युक्ति का एक अंग है, क्योंकि आचारांगनिर्युक्ति के अन्त में स्वयं निर्युक्तिकार ने लिखा है कि पंचमचूलिकानिशीथ की निर्युक्ति मैं बाद में करूँगा।⁷⁷ यह निर्युक्ति निशीथभाष्य में इस प्रकार से समाविष्ट हो गई है कि इसे अलग नहीं किया जा सकता, इसमें मुख्य रूप से श्रमणाचार का उल्लेख है।

गोविन्दनिर्युक्ति -- इस निर्युक्ति में दर्शन सम्बन्धी मन्तव्यों पर प्रकाश डाला गया है। आचार्य गोविन्द ने एकेन्द्रिय जीवों की संसिद्धि के लिये इसका निर्माण किया था। यह किसी एक आगम पर न होकर स्वतन्त्र रचना है। बृहत्कल्पभाष्य, आवश्यकचूर्णि एवं निशीथचूर्णि में इसका उल्लेख मिलता है। यह वर्तमान में यह उपलब्ध नहीं है।

आराधनानिर्युक्ति -- यह भी वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। चौरासी आगमों में "आराधनापताका" नामक एक आगम है, सम्भव है यह निर्युक्ति उसी पर हो। मूलाचार में वट्टकेरस्वामी ने इसका उल्लेख किया है।

ऋषिभाषितनिर्युक्ति -- चौरासी आगमों में ऋषिभाषित का भी नाम है। प्रत्येक बुद्धों द्वारा भाषित होने से यह ऋषिभाषित के नाम से विश्रुत है। इस पर भी भद्रबाहु ने निर्युक्ति लिखी थीं पर वर्तमान में अनुपलब्ध हैं।

सूर्यरश्मिनिर्युक्ति -- यह भी वर्तमान में उपलब्ध नहीं है परन्तु आचार्य मलयगिरि की वृत्ति में इसका नाम निर्देश हुआ है। इसमें सूर्य की गति आदि तथा ज्योतिषशास्त्र सम्बन्धी तथ्यों का सुन्दर निरूपण हुआ है।

इनके अतिरिक्त पिण्डनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति एवं पंचकल्पनिर्युक्ति स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर क्रमशः दशवैकालिक, आवश्यक और बृहत्कल्पनिर्युक्ति की ही संपूरक हैं।

इस प्रकार जैन परम्परा के महत्त्वपूर्ण विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों की स्पष्ट व्याख्या जो निर्युक्ति साहित्य में हुई है वह अपूर्व है। इन्हीं व्याख्याओं के आधार पर बाद में भाष्यकार, चूर्णिकार एवं वृत्तिकारों ने अपने अभीष्ट ग्रन्थों का सृजन किया है। निर्युक्तियों की रचना करके भद्रबाहु ने जैन साहित्य की जो विशिष्ट सेवा की है, वह जैन आगमिक क्षेत्र में सर्वथा अविस्मरणीय है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. अनुयोगद्वार, पृ. 18 और आगे
2. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 88
3. वही, गाथा 83
4. निश्चयेन अर्थप्रतिपादिका युक्तिनिर्युक्ति : आचारांगनिर्युक्ति, 1/2/1
5. उत्तराध्ययन की भूमिका, पृ. 50-51
6. Dr. Ghatge, Indian Historical Quarterly, Vol. 12, p. 270
7. वंदामि भद्रबाहुं पाईणं चरिमसगलसुयनाणि ।
सुत्तस्स कारगमिसि दसासु कप्पे य ववहारे ।।
- दशाश्रुतस्कंधनिर्युक्ति, 1
8. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 79-86
9. गणधरवाद प्रस्तावना, पृ. 15-16
10. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 17-19
11. सामाज्यमाइयाइं एक्कारस्स अहिज्जइ । -- अन्तःकृतदशांग प्रथमवर्ग ।
12. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 94-103
13. वही, गाथा 459
14. वही, गाथा 594
15. वही, गाथा 881
16. वही, गाथा 1023-1034
17. वही, गाथा 1035
18. वही, गाथा 1059
19. वही, गाथा 1064
20. वही, गाथा 1066-68
21. वही, गाथा 1087-89
22. वही, गाथा 110-11
23. वही, गाथा 1145-47
24. वही, गाथा 1167-1200
25. वही, गाथा 1204
26. वही, गाथा 1223
27. स्वस्थानात्यत्परस्थानं प्रमादस्य वशाद्गहः । तत्रैव क्रमणं भूयः प्रतिक्रमणमुच्यते ।
- आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 1236
28. वही, गाथा 1238
29. वही, गाथा 1244-46
30. वही, गाथा 1268
31. वही, गाथा 1269-1273
32. वही, गाथा 1447
33. वही, गाथा 1453

34. वही, गाथा 1454-55
35. वही, गाथा 1458
36. वही, गाथा 1536-38
37. वही, गाथा 1539-40
38. वही, गाथा 1541-42
39. वही, गाथा 1545
40. वही, गाथा 1550
41. (क) दशवैकालिकनिर्युक्ति, हरिभद्रीय विवरण सहित : प्रकाशक देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, 1918
(ख) निर्युक्ति व मूल : सम्पादक E. Leumann ZDMG भाग 46, पृ. 589-663
42. दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा 12-15
43. वही, गाथा 26-148
44. वही, गाथा 152-177
45. वही, गाथा 178-215
46. वही, गाथा 216-231
47. वही, गाथा 232-244
48. वही, गाथा 245-262
49. वही, गाथा 269-286
50. वही, गाथा 287-294
51. वही, गाथा 309-322
52. वही, गाथा 328-347
53. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा 5-7
54. वही, गाथा 12-26
55. शास्त्री, विजयमुनि आगम और व्याख्या साहित्य एक परिशीलन, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा 1964, पृ. 60
56. वही, पृ. 61
57. आचारांगनिर्युक्ति, गाथा 1
58. वही, गाथा 8
59. वही, गाथा 9
60. वही, गाथा 16-17
61. वही, गाथा 11
62. वही, गाथा 175
63. वही, गाथा 197-213
64. वही, गाथा 214-215
65. वही, गाथा 244
66. वही, गाथा 249-250
67. वही, गाथा 257-259
68. वही, गाथा 275
69. वही, गाथा 297

70. सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, गाथा 18-20
71. वही, गाथा 127-131
72. दशाश्रुतनिर्युक्ति, 1
73. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 3, पृ. 121
74. बृहत्कल्पनिर्युक्ति, गाथा 1
75. वही, गाथा 3-5
76. वही, गाथा 3271, 3289
77. पंचमचूलनिस्सीहं तस्स य उवरिं भणीहामि । आचारांगनिर्युक्ति, गाथा 347

* प्रवक्ता - पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी

मूलाचार में वर्णित आचार-नियम : श्वेताम्बर आगम साहित्य के परिप्रेक्ष्य में

- डॉ. अस्मिताप सिंह *

जैनधर्म में आचार पक्ष पर सर्वाधिक बल दिया गया है। इसके दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र, जिन्हें मोक्ष-मार्ग कहा गया है, की त्रिपुटी में सम्यक्-चारित्र का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। सम्यक्-चारित्र ही आचार है। ज्ञान एवं श्रद्धा जब तक व्यवहार जगत् की कसौटी पर खरे नहीं उतरते, अपूर्ण माने गये हैं।

मूलाचार जिसमें मुख्यतः आचार-नियम वर्णित हैं, दिगम्बर परम्परा का सर्वमान्य ग्रन्थ माना जाता है, यद्यपि यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण है कि यह मूलरूप से दिगम्बर परम्परा का ग्रन्थ न होकर यापनीय परम्परा का रहा होगा। यापनीय परम्परा एक ओर दिगम्बरों के समान मुनि की नग्नता पर बल देती थीं, तो दूसरी ओर श्वेताम्बरों के अनुरूप आगमों को एवं स्त्री-मुक्ति की अवधारणा को स्वीकार करती थीं। मूलाचार के कर्ता को भी स्त्री-मुक्ति की अवधारणा और साथ ही श्वेताम्बर आगम साहित्य में समान रूप से विश्वास था। यापनीय श्वेताम्बर आगम साहित्य से परिचित थे। अतः श्वेताम्बर आगमों का उनके साहित्य में प्रतिबिम्बित होना स्वाभाविक है। प्रस्तुत लेख में यह बताने का प्रयास किया गया है कि मूलाचार में श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों की सामग्री किस प्रकार समाहित है। साथ ही आचार-नियम के सन्दर्भ में श्वेताम्बर अवधारणाओं (concepts) से उनकी साम्यता एवं विषमता का भी अवलोकन किया गया है।

मूलाचार 12 अधिकारों (अध्यायों) में विभक्त है।

इसका प्रथम अधिकार मूलगुणाधिकार है। मूलगुणों का पालन करना प्रत्येक श्रमण का प्रथम कर्तव्य है। श्रमणजीवन का तात्पर्य मूलतः पापकर्मों से विरत रहना है -- इस सन्दर्भ में इन मूलगुणों का जो कि व्रतों से सम्बन्धित है, विशेष महत्त्व है। मूलाचार में श्रमण के 28 मूलगुण बताये गये हैं -- 5 महाव्रत, 5 समितियों का सम्यक्-पालन, 5 इन्द्रियों का संयम, षडावश्यक, केशशुद्धन, आचेलक्य, अस्नान, क्षितिशयन, अदन्तधावन और स्थिति भोजन।¹

मूलाचार के समान ही श्वेताम्बर ग्रन्थों में भी मूलगुणों की चर्चा है। यहाँ इनकी संख्या 27 है। समवायांग में जो सूची प्राप्त है, वह निम्न है -- पाँच महाव्रत, पाँच इन्द्रियों का संयम, चार कषायों का त्याग, क्षमा, विरागता, भावसत्य -- करणसत्य एवं योगसत्य, मन-वचन एवं काया का निरोध, ज्ञान-दर्शन एवं चारित्र से सम्पन्नता, कष्ट सहिष्णुता, मरणान्त कष्ट का सहन करना।²

हम देखते हैं कि दोनों परम्पराओं में मूलगुणों का भाव "संयम" ही है। यहाँ संख्या भेद का कोई महत्त्व नहीं है -- अन्तर केवल उनकी बाह्य एवं आन्तरिक शुद्धता को लेकर है। जहाँ मूलाचार आचरण के बाह्य नियमों पर बल देता है, वहीं श्वेताम्बर ग्रन्थ आचरण की आन्तरिक विशुद्धता पर। मूलगुणों के सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अन्तर नग्नता को लेकर है। श्वेताम्बर परम्परा को, जो वस्त्र को मोक्ष-मार्ग में बाधा नहीं मानती, अपने ग्रन्थों में नग्नता को मूलगुणों के अन्तर्गत रखने का कोई औचित्य ही नहीं था। मूलाचार उस परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है जहाँ निर्वस्त्रता मुनि के आचरण का एक प्रमुख पक्ष था परन्तु यहाँ द्रष्टव्य है कि मूलाचारकर्ता इस सम्बन्ध में अधिक कठोर रख नहीं अपनाता। मूलाचार अपरिग्रह महाव्रत के पालन में "सक्कच्चागो" (शक्त्या त्यागः) अर्थात् अपनी शक्ति के अनुसार नियम के पालन का उपदेश देता है।³ इसके विपरीत दिगम्बर परम्परा में नग्नता को अधिक महत्ता प्रदान की गई और यह कहा गया कि तीर्थंकर भी यदि वह वस्त्ररहित नहीं है, मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता।⁴ स्पष्टतः मूलाचार निर्वस्त्रता को उतनी अधिक महत्ता प्रदान नहीं करता जितनी कि दिगम्बर परम्परा के अन्य ग्रन्थ करते हैं।

बृहत्प्रत्याख्यानसंस्तरस्त्वाधिकार मूलाचार का द्वितीय अधिकार है। इस अधिकार में मुख्यतः संलेखना सम्बन्धी चर्चा है। इस अधिकार की अधिकांश गाथाएँ आउरपच्चकखाण (आतुरप्रत्याख्यान) एवं महापच्चकखाण (महाप्रत्याख्यानयक) नामक श्वेताम्बर प्रकीर्णकों से ली गई हैं। इन गाथाओं में भाषा एवं भाव दोनों दृष्टियों से अत्यधिक समानता है। इनमें जो शाब्दिक अन्तर परिलक्षित होता है, वह अधिकांश रूप से महाराष्ट्री और शौरसेनी प्राकृत के अन्तर के कारण है। हम यहाँ कुछ उदाहरणों द्वारा इस तथ्य को स्पष्ट करेंगे--

- (1) सव्वं पाणारंभं पच्चकखामि अलीयवयणं च ।
सव्वंभदत्तादाणं मेहूणं परिग्गहं वेव ॥
- मूलाचार, 2/41
- सव्वं पाणारंभं पच्चकखामी य अलियवयणं च ।
सव्वमदिन्नादाणं अब्बंभं परिग्गहं वेव ॥
- महाप्रत्याख्यान, गाथा 33, पृ. 167
- (2) खमामि सव्वजीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मिस्ती मे सव्वभूदेषु वेरं मज्झं ण केणवि ॥
- मूलाचार, 2/43
- खामेमि सव्वे जीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मिस्ती मे सव्वभूदेषु, वेरं मज्झं न केणइ ॥
- आतुरप्रत्याख्यान, गाथा 8, पृ. 160
- (3) एओ मे सस्सओ अप्पा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ।
- मूलाचार, 2/48
- एओ मे सासओ अप्पा, णाणदंसणसंजुओ ।
सेसा मे बाहिराभावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥
- आतुरप्रत्याख्यान, गाथा 29, पृ. 163
- (4) संजोगमूलं जीवेण पत्तं दुक्खपरंपरं ।
तम्हा संजोगसंबंधं सव्वं तिविहेण वोसरे ॥
- मूलाचार, 2/49
- संजोगमूला जीवेण पत्ता दुक्खपरंपरा ।
तम्हा संजोगसंबंधं सव्वं तिविहेण वोथिरे ॥
- आतुरप्रत्याख्यान, गाथा 30, पृ. 162

इस द्वितीय अधिकार का नमस्कार श्लोक भी महाप्रत्याख्यान से ही लिया गया है। दोनों की समानता दर्शनीय है--

सव्वदुक्खप्पहीणाणं सिद्धाणं अरहदो णमो
सद्दहे जिणपण्णतं पच्चकखामि य पाक्कयं
- मूलाचार, 2/37

सव्यदुक्खपहीणाणं सिद्धाणं अरहओ नमो ।
सद्दहे जिणपन्नतं पट्टकखामि य पावयं ॥

- महाप्रत्याख्यान, गाथा 2, पृ. 164

इस प्रकार इस अधिकार की और भी अनेक गाथाएँ इन श्वेताम्बर प्रकीर्णकों से तुलनीय हैं --

मूलाचार की 2/39 महाप्रत्याख्यान की गाथा 3 से
मूलाचार की 2/40 महाप्रत्याख्यान की गाथा 4 से
मूलाचार की 2/44 महाप्रत्याख्यान की गाथा 5 से
मूलाचार की 2/45 महाप्रत्याख्यान की गाथा 10 से
मूलाचार की 2/46 महाप्रत्याख्यान की गाथा 11 से
मूलाचार की 2/50 महाप्रत्याख्यान की गाथा 12 से
मूलाचार की 2/51 महाप्रत्याख्यान की गाथा 18 से
मूलाचार की 2/55 महाप्रत्याख्यान की गाथा 8 से
मूलाचार की 2/56 महाप्रत्याख्यान की गाथा 22 से
मूलाचार की 2/98 महाप्रत्याख्यान की गाथा 108 से

तृतीय अधिकार, जो संक्षेपप्रत्याख्यानसंस्तरस्त्वधिकार के नाम से जाना जाता है, की भी अधिकांश गाथाएँ महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक से ली गई हैं। इसका प्रारम्भिक श्लोक जो कि जिनवन्दना है, महाप्रत्याख्यान से तुलनीय है।

एस करेमि पणामं जिणवसहस्स वडुठमाणस्स
सेसाणं च जिणाणं सगणगणधारणं च सव्वेसिं

सव्वं पाणारंभं पट्टकखामि अलीयवयणं च
सव्वमदत्तादाणं मेहूणपरिगहं छेव

- मूलाचार, 3/108-109

एस करेमि पणामं तित्थयराणं अणुत्तरगईणं ।
सव्वेसिं च जिणाणं सिद्धाणं संजयाणं च ॥

सव्वं पाणारंभं पट्टकखामी य अलियवयणं च ।
सव्वमदिन्नादाणं अब्बंभ परिगहं छेव ॥

- महाप्रत्याख्यान, गाथा सं. क्रमशः 1,33

इसी प्रकार इस अधिकार की कुछ और गाथाएँ अन्य श्वेताम्बर प्रकीर्णकों से तुलनीय हैं --

णित्थ भयं मरणसमं जम्मणसमयं ण विज्जदे दुक्खं ।
जम्मणमरणादकं छिदि ममत्तिं सरीरादो ॥

- मूलाचार, 3/119

नत्थि भयं मरणसमं, जम्मणसारिसं न विज्जए दुक्खं ।
जम्मण मरणायकं छिदि ममत्तं सरीराओ ॥

- संधारण प्रकीर्णक, गाथा, 2448, पृ. 289

एगं पांडियमरणं छिदइ, जाईसयाणि बहुयाणि ।
तं मरणं मरिदव्वं, जेण मदं सुम्मदं होदि ।।

- मूलाचार, 3/117

एकं पांडियमरणं छिदइ, जाईसयाणि बहुयाणि ।
तं मरणं मरियव्वं जेण मओ मुक्कओ होइ ।।

- मरणविभक्ति प्रकीर्णक, गाथा, 994, पृ. 121

उपर्युक्त द्वितीय एवं तृतीय अधिकारों से उद्धृत कुछ थोड़े से उदाहरणों से स्पष्ट है कि किसी एक ने किसी दूसरे से ग्रहण किया है। सन्दर्भ यह स्पष्ट करते हैं कि मूलाचारकर्ता ने ही इन श्वेताम्बर प्रकीर्णकों से उपयोगी गाथाओं को लेकर अपने ग्रन्थ का निर्माण किया है। प्रथम तो यह है कि इन प्रकीर्णकों की भाषा मूलाचार से प्राचीन है। इसका स्पष्टीकरण हम तृतीय शताब्दी ईसा पूर्व के अशोक एवं द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व के खारवेल के लेखों से कर सकते हैं। दोनों में "ण" की जगह "न" का ही अधिक प्रचलन है⁵। मूलाचारकर्ता "ण" का ही अधिक प्रयोग करता है। दूसरे मूलाचार में स्पष्टतः इन प्रकीर्णकों का नामोल्लेख हुआ है। जिससे इनकी प्राचीनता स्वयं सिद्ध हो जाती है।

चतुर्थ अधिकार समाचार अधिकार है। इसमें मुख्यतः समाचारी का उल्लेख है। मूलाचार में निम्न 10 समाचारियों का उल्लेख है जिनकी समता उत्तराध्ययन से की जा सकती है--

मूलाचार ⁶	उत्तराध्ययनसूत्र ⁷
इच्छाकार	आवश्यक
मिथ्याकार	नैषेधिकी
तथाकार	आपृच्छना
आवश्यक	प्रतिपृच्छना
नैषेधिकी	ह्रन्दना
आपृच्छना	इच्छाकार
प्रतिपृच्छना	मिथ्याकार
ह्रन्दना	तथाकार
निमन्त्रणा	अभ्युत्थान
उपसम्पदा	उपसम्पदा

दोनों परम्पराओं में क्रम के अतिरिक्त इस सम्बन्ध में कोई मूलतः भेद नहीं है। इनका मूल-स्रोत एक ही प्रतीत होता है।

इस समाचारी अधिकार में साध्वियों के नियमों एवं कर्तव्यों का विस्तार से वर्णन किया गया है। इन नियमों से स्पष्ट है कि मूलाचार की परम्परा में साध्वी संघ एक महत्त्वपूर्ण घटक के रूप में विद्यमान था। जैसा कि हमने पूर्व में कहा था कि यापनीय परम्परा भिक्षु की निर्वस्त्रता पर बल देते हुए भी श्वेताम्बर परम्परा के समान स्त्री-मुक्ति की अवधारणा और साध्वियों को एक वस्त्र धारण करने की अनुमति देती थी। मूलाचार भी स्त्री-मुक्ति की अवधारणा का समर्थक है। इसका निम्न श्लोक द्रष्टव्य है--

एवं विधाणचारियं चरितं जे साधवो य अज्जाओ ।
ते जगपुज्जं कित्ति सुहं च लदधूण सिज्झांति ।।

- मूलाचार, 4/196

दिगम्बर परम्परा के विपरीत मूलाचार की यह स्पष्ट अवधारणा उसे यापनीय परम्परा के और निकट ला देती है।

पंचाचार मूलाचार का पंचम अधिकार है। इसमें क्रमशः दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार का वर्णन है। इस अधिकार की अधिकांश गाथाएँ उत्तराध्ययन से तुलनीय हैं।

दुविहा य ह्योति जीवा संसारत्या य णिव्वुदा चेव ।
इद्धा संसारत्या सिद्धगदा णिव्वुदा जीवा ।।

- मूलाचार, 5/7

संसारत्या य सिद्धा य दुविहा जीवा वियाहिया ।
सिद्धाऽणोवविहा वुत्ता, तं मे कित्तयओ सुण ।।

- उत्तराध्ययन, 36/48

पुट्टवी या बालुया सक्करा, य उवले सिला य लोणे य ।
अय तव तउय सीसय रुप्य सुवण्णे य वइरे य ।।

- मूलाचार, 5/9

पुट्टवी य सक्करा बालुया य उवले सिला य लोणूसे ।
अय तम्ब तउय सीसग रुप्य सुवण्णे य वइरे य ।।

- उत्तराध्ययन, 36/73

इस प्रकार मूलाचार की 5/10-12 तक की तीन गाथा उत्तराध्ययन की 36वें अध्याय की क्रमशः 74, 75 एवं 76वीं गाथा से शब्दशः तुलनीय हैं तथा मूलाचार की 5/13-17 तक की पाँच गाथाएँ जीव समास नामक श्वेताम्बर ग्रन्थ की क्रमशः 31वीं से 35वीं गाथा तक तुलनीय हैं।

इस अधिकार की 33वीं गाथा द्रष्टव्य है, जिसकी तुलना उत्तराध्ययन के 36वें अध्याय के चौथे एवं दशवें श्लोक के पूर्वार्द्ध से की जा सकती है।

अजीवा विय दुविहा न्वाऱ्वा य रुविणो च्चदुधा ।
खंधा य खंधदेसा खंधपदेशा अणू य तहा ।।

- मूलाचार, 5/33

रुविणो घेवऽरुवी य अजीवा दुविहा भवे ।।

- उत्तराध्ययन, 36/4

खंधा य खंधदेसा य तप्पएसा तहेव य ।।

- उत्तराध्ययन, 36/10

इसी प्रकार उदाहरण-स्वरूप मूलाचार की एक अन्य गाथा भी द्रष्टव्य है, जिसकी तुलना उत्तराध्ययन के दो श्लोकों के प्रारम्भिक पदों से की जा सकती है--

आसादे दुपदा क्खाया पुस्समासे च्चदुप्पदा ।
वइडदे हीयदे चावि मासे मासे दुअंगुला ।।

- मूलाचार, 5/75

आसाढे मासे दुपया पोसे मासे घउप्यया ।।

- उत्तराध्ययन, 26/13

वड्ढए हायए वावी मासेणं चउरं अंगुलं ।।

- उत्तराध्ययन, 26/14

इस अधिकार की 5/148, 149, एवं 150 गाथाएँ उत्तराध्ययन के क्रमशः 30/7, 8, एवं 9 से तुलनीय हैं। मात्रभाषा में थोड़ा सा अन्तर परिलक्षित होता है। कुछ और भी उदाहरण द्रष्टव्य हैं --

मूलाचार की 5/155 गाथा उत्तराध्ययन की गाथा 30/26 से
मूलाचार की 5/159 गाथा उत्तराध्ययन की गाथा 30/27 से
मूलाचार की 5/160 गाथा उत्तराध्ययन की गाथा 30/28 से
मूलाचार की 5/162-64 गाथा उत्तराध्ययन की गाथा 30/29-31 से
मूलाचार की 5/176 एवं 85 गाथा उत्तराध्ययन की गाथा 30/32 से
मूलाचार की 5/197 गाथा उत्तराध्ययन की गाथा 30/35 से

इन गाथाओं में भाषा एवं भाव दोनों दृष्टियों से समानता है।

छठा अधिकार पिण्डशुद्धिअधिकार है। इसमें विशेषरूप से आहार-शुद्धि का वर्णन है। आहार के प्रकार, आहार की शुद्धता एवं अशुद्धता की जाँच-श्वेताम्बर परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों के समान ही वर्णित है। उदाहरणस्वरूप इसमें भिक्षाचर्या की जो विधि बतायी गई है, उसमें भिक्षा के लिए किन क्रमों से गृहों में प्रवेश करना चाहिए इसका उल्लेख है। यह बात उत्तराध्ययन के तप नामक अध्याय में है।

सातवाँ षडावश्यक नामक अधिकार है। आश्चर्यजनक रूप से इस अधिकार के प्रारम्भ में ही मूलाचारकर्त्ता यह रहस्योद्घाटन करता है कि यह अधिकार आवश्यकनिर्युक्ति को देखकर यथाक्रम संक्षेप (जहाकमं समासेण) में लिखा गया है --

आवासयणिज्जुत्ती वोट्ठामि जहाकमं समासेण ।

आयरिपरम्पराए जहागदा आणुपुव्वीए ।।

- मूलाचार, 7/2

उपर्युक्त गाथा के पश्चात् हमें मूलाचार के संग्रह ग्रन्थ होने में सन्देह नहीं करना चाहिए। चयनकर्त्ता का यह स्पष्टीकरण हमें सारी शंकाओं से मुक्त कर देता है। अधिकार के अन्त में वह पुनः कहता है --

णिज्जुत्ती णिज्जुत्ती एसा कहिदा मए समासेण ।

अह वित्थार पसंगोऽणियोगदो होदि णादव्वो ।।

आवासयणिज्जुत्ती एवं कधिदा समासओ विहिणा ।

जो उवजुंजदि णिच्चं सो सिद्धिं जादि विसुद्धप्या ।।

- मूलाचार, 7/192-193

आठवाँ अधिकार द्व्यदशानुप्रेक्षाअधिकार है। इस अधिकार में 12 अनुप्रेक्षाओं की चर्चा है। इनके स्वरूप के सम्बन्ध में तो दोनों परम्पराओं में समानता है। जहाँ तक मेरी जानकारी है, मरणविभक्ति नामक प्राचीन श्वेताम्बर ग्रन्थ में अनुप्रेक्षाओं का क्रमबद्ध सुव्यवस्थित वर्णन है। इनमें भाव की दृष्टि से मुझे कोई विशेष भेद परिलक्षित नहीं होता। उत्तराध्ययन आदि में भी संसार की दुःखमयता, क्षणिकता, अशरण्या आदि का उल्लेख है।

अनगारभावना नामक 9वें अधिकार में मुनि जीवन के स्वरूप की चर्चा है। भाव की दृष्टि से इस अध्ययन की अधिकांश सामग्री प्राचीन श्वेताम्बर ग्रन्थों में देखी जा सकती है फिर भी, मैं इनके गाथा साम्य को अभी स्पष्ट रूप से खोज नहीं पाया हूँ।

दसवाँ अधिकार समयसारअधिकार के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें मुख्य रूप से मुनि आचार का वर्णन है। इस अधिकार में स्थान-स्थान पर अचेलकत्ता की प्रशंसा की गई है। केवल इसी रूप में यह श्वेताम्बर परम्परा से भिन्न है, अन्यथा, इस अधिकार की भी अधिकांश गाथाएँ श्वेताम्बर ग्रन्थों से ली गई प्रतीत होती हैं जो मूलाचार के संकलन ग्रन्थ होने के प्रमाण को पुष्ट करती हैं।

इस अधिकार में 10 श्रमणकल्पों की चर्चा है। कल्प (कप्प) आचार-विचार के नियम से सम्बन्धित हैं। मूलाचार में वर्णित 10 कल्प निम्न हैं-- आचेलक्य, औद्देशिक, शय्यातर, राजपिण्ड, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठ, प्रतिक्रमण, मास एवं पर्युषण⁹ श्वेताम्बर परम्परा में भी कुछ क्रम सम्बन्धी अन्तर के साथ कल्पों की यही अवधारणा स्वीकृत है। दिगम्बर परम्परा जहाँ आचेलक्य का अर्थ पूर्ण निर्वस्त्रता से लगाती है, श्वेताम्बर परम्परा उसका अर्थ अल्प वस्त्र से लगाती है अर्थात् मुनि को कम से कम वस्त्र ग्रहण करना चाहिए। पर्युषणकल्प की अवधारणा में भी मूलाचार के टीकाकार श्वेताम्बर परम्परा से दूर हटते प्रतीत होते हैं। टीकाकार ने पर्युषणकल्प से तात्पर्य पंच कल्याण स्थान से माना है।¹⁰ जबकि श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार चातुर्मासकाल में एक स्थान पर रहकर तप, संयम और ज्ञान की आराधना करना पर्युषणकल्प है। चातुर्मास काल में इस कल्प (आचरण) का विशेष महत्त्व है।

इस अधिकार में अब्रह्मचर्य के 10 कारणों का उल्लेख है। ये 10 कारण निम्न हैं -- विपुलाहार, कायशोधन, गन्धमाला का सेवन, गीत, उच्चशय्या, स्त्री-संस्र्ग, अर्थ-संग्रहण, पूर्वरति स्मरण, इन्द्रियों के विषयों का सेवन, प्रणीतरवसेवा।¹¹

इसकी तुलना उत्तराध्ययन के 16वें अध्याय ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान से की जा सकती है जिसमें अब्रह्मचर्य के कारणों का विस्तृत विश्लेषण किया गया है। इस अधिकार की कई गाथाएँ विशेषावश्यकभाष्य से भी मिलती हैं।

इस अधिकार में पापश्रमण¹² की कल्पना है। इसकी तुलना उत्तराध्ययन के 17वें अध्याय पापश्रमणीय नामक अध्ययन से की जा सकती है।

ग्यारहवाँ अधिकार शीलगुणाधिकार है। इसमें 10 श्रमणधर्मों का उल्लेख है। मूलरूप से इन श्रमणधर्मों का उल्लेख समवायाग में है।

बारहवाँ एवं अन्तिम अधिकार पर्याप्त्याधिकार है इसमें छः पर्याप्तियों की चर्चा की गई है। इस सम्बन्ध में सामान्य रूप से श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा में कोई भेद नहीं है। इस अधिकार में शलाकापुरुष (सलागपुरिसा) की चर्चा है। शलाकापुरुष की कल्पना बाद में विकसित हुई है, इस आधार पर भी मूलाचार की प्राचीनता में संदेह उत्पन्न होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मूलाचार में श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों से अनेक बातें ली गई हैं। यदि अचेलकत्त और शौरसेनी प्राकृत के अन्तर को नजर-अन्दाज कर दें तो यह एक श्वेताम्बर ग्रन्थ जैसा प्रतीत होता है फिर भी, हमें मूलाचार को यापनीय परम्परा का एक संकलन ग्रन्थ होने में सन्देह नहीं करना चाहिए क्योंकि जहाँ कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों का बिल्कुल प्रभाव या उल्लेख नहीं है, वहाँ इसमें यह प्रभाव स्पष्ट देखा जाता है।

इस सम्बन्ध में अन्य भी प्रमाण दिये जा सकते हैं-- 1. मूलाचार की कुछ गाथाएँ ग्रन्थ में दो-दो बार आयीं हैं और उनमें शाब्दिक रूप से कोई परिवर्तन नहीं है। जैसे --

पाँचवें अधिकार की 54वीं एवं 62वीं गाथा
द्वितीय अधिकार की 77वीं एवं तृतीय अधिकार की 117वीं गाथा
पाँचवें अधिकार की 212वीं एवं दसवें अधिकार की 117वीं गाथा
पाँचवें अधिकार की 167वीं एवं सातवें अधिकार की 87वीं गाथा

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न ग्रन्थों से छिटपुट गाथाएँ नहीं बल्कि गाथा सग्रह उठाकर एक स्थान पर रख दिया गया है। यह इसके संकलन ग्रन्थ होने का अकाट्य प्रमाण है। यदि यह किसी एक व्यक्ति की रचना होती तो गाथाओं की यह पुनरावृत्ति सम्भव नहीं थी।

2. मूलाचार में भिक्षुओं को कुछ ग्रन्थों को पढ़ने का निर्देश दिया गया है। इसमें "पत्तेयबुद्धिकाथिदं¹³" का उल्लेख है। इससे किस ग्रन्थ का तात्पर्य है टीकाकार आचार्य वसुनन्दि स्पष्ट नहीं कर सकें हैं। इस ग्रन्थ से तात्पर्य स्पष्ट एवं निस्संकोच रूप से उत्तराध्ययन और इसिभासिय (ऋषिभाषित) नामक श्वेताम्बर प्रकीर्णक से लिया जाना चाहिए। ये ग्रन्थ निश्चित रूप से आचारांग आदि की तरह प्राचीन है। Sa। ऋषिभाषित में 45 ऋषियों के उपदेश संकलित हैं और प्रत्येक ऋषि को प्रत्येकबुद्ध माना गया है। इसी प्रकार उत्तराध्ययन के अध्यायों को भी प्रत्येकबुद्ध भाषित माना गया है। जैसे-- नमिपव्वज्जा।

3. इसी प्रकार मूलाचार में अस्वाध्यायकाल में कुछ ग्रन्थों को पढ़ने का निर्देश दिया गया है। ये ग्रन्थ भी विचारणीय हैं। गाथा इस प्रकार है --

"आराहणाणिज्जुत्ती मरणाविभत्ती य संगहत्तुदियो।

पच्चक्खाणावासयधम्मकहाओ य एरिसओ।।

- मूलाचार, 5/82

टीकाकार ने इस गाथा का संदेहास्पद अर्थ निकाला है। टीकाकार ने आराहणाणिज्जुत्ती (आराधनानिर्युक्ति) को एक में कर दिया है, जो कि गलत है। प्रत्येक ग्रन्थ अलग-अलग हैं। मेरी समझ से आराधना से तात्पर्य भगवतीआराधना एवं निर्युक्ति से तात्पर्य आवश्यकनिर्युक्ति आदि से है, जिसका मूलाचार के संकलनकर्त्ता ने कई बार उल्लेख किया है। मरणाविभत्ती (मरणविभक्ति) एक प्राचीन श्वेताम्बर प्रकीर्णक है जिसमें संलेखना सम्बन्धी विवरण है। संगह (संग्रह) से आशय संग्रहणीसूत्र से हो सकता है। थुदियो (स्तुतयः) से तात्पर्य देविदत्थओ (देवेन्द्रस्तवः) नामक प्रकीर्णक से हो सकता है। पच्चक्खाण (प्रत्याख्यान) ग्रन्थों से दो श्वेताम्बर प्रत्याख्यान प्रकीर्णकों -- आतुरप्रत्याख्यान एवं महाप्रत्याख्यान से हो सकता है, जिनकी अनेक गाथाओं को बिना कुछ परिवर्तन किये मूलाचारकर्त्ता ने अपने ग्रन्थ में स्थान दिया है। आवसय (आवश्यक) से तात्पर्य आवश्यकसूत्र से हो सकता है। धम्मकहा (धर्मकथा) से तात्पर्य ज्ञाताधर्मकथा से है।

4. दूसरे अधिकार में मूलाचार चंदयवेज्झ¹⁴ का उल्लेख करता है कि इससे मनुष्य मोक्ष-मार्ग को प्राप्त होता है इसकी भी टीका संदेहास्पद है। मेरी समझ से चन्दयवेज्झ से तात्पर्य "चन्द्रकवेध्य¹⁵" नामक श्वेताम्बर प्रकीर्णक से है। इसमें मुख्यतः 7 बातें वर्णित हैं जिनका पालन करने पर मोक्ष प्राप्त होना बताया गया है। इन सात बातों में आध्यात्मिक गुरुओं के प्रति सम्मान, गुरु के गुण, शिष्य के गुण, ज्ञान, सुन्दर व्यवहार आदि की चर्चा है।

उपर्युक्त श्वेताम्बर ग्रन्थों का मूलाचार में उल्लिखित होना कुछ आश्चर्यजनक नहीं। श्वेताम्बर आगम चूँकि यापनीय परम्परा को मान्य थे, अतः उन्होंने उसका भरपूर उपयोग अपने ग्रन्थ के लिए किया। कालान्तर में टीकाकार वसुनन्दि ने इन सन्दर्भों की जो दिगम्बर परम्परा मान्य टीका करने का प्रयास किया, वह हास्यास्पद सी हो गई है।

5. मूलाचार की स्त्री-मुक्ति की अवधारणा उसे यापनीय परम्परा के होने का अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत करती है। सद्यः प्रकाशित शाकटायन व्याकरण (जो यापनीय परम्परा का एक प्रमुख ग्रन्थ है) नामक ग्रन्थ में भी स्त्री-मुक्ति की अवधारणा को स्वीकार किया गया है।¹⁶ मूलाचार के अनुसार भी स्त्री-मोक्ष को प्राप्त कर सकती है, परन्तु मूलाचार की इस अवधारणा के विपरीत दिगम्बर परम्परा यह मानती थी कि स्त्री-मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकती। उसे मुक्ति प्राप्त करने के लिए पुनः पुरुष के रूप में जन्म लेना अनिवार्य है। इसी आधार पर वह 19वें तीर्थंकर मल्लीनाथ को (जो श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार स्त्री हैं) पुरुष के रूप में स्वीकार करती है। यही कारण है कि प्रसिद्ध दिगम्बर ग्रन्थ सुत्तपाहुड़ में स्त्री की प्रव्रज्या का ही निषेध किया गया है-- "इत्थीसु णा पावया भणिया"। मूलाचार इसके विपरीत, न केवल स्त्री की प्रव्रज्या का ही विधान करता है, उसके लिए नियम बनाता है, बल्कि उसको मुक्ति प्राप्त करने के योग्य भी मानता है।

उपर्युक्त सन्दर्भों से यह स्पष्ट होता है कि मूलाचार उस परम्परा का ग्रन्थ नहीं है, जिसमें स्त्री की प्रव्रज्या का ही निषेध किया गया हो। मूलाचार की अवधारणाएँ दिगम्बर परम्परा की स्वीकृत अवधारणों से काफी भिन्न और बेमेल दिखायी देती हैं। इसके अतिरिक्त, मूलाचार में श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों का अधिक मात्रा में उल्लेख होना यह सिद्ध करता है कि मूलाचार का कर्त्ता इन ग्रन्थों से भिन्न था और उन्हें स्वीकार करने में उसे संकोच नहीं था। हम निस्संकोच रूप से कह सकते हैं कि मूलाचार उस परम्परा का ग्रन्थ है, जिसमें मुनि की अघेलकता की प्रशंसा की गई है, साथ ही जिसे स्त्री-मुक्ति की अवधारणा और श्वेताम्बर आगम ग्रन्थ भी मान्य हैं और ऐतिहासिक साक्ष्यों के आलोक में हम जानते हैं कि वह परम्परा यापनीय परम्परा थी।

✽ प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास विभाग, श्री बजरंग महाविद्यालय, दादरआश्रम, सिकन्दरपुर, बलिया (उ.प्र.)

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. मूलाचार (दो भागों में) प्रकाशन -- माणिकचन्द्र दिगम्बर जैनग्रन्थ माला समिति, हीराबाग, गिरगाँव, बम्बई।
पंचय महव्वयाइं समिदीओ पंच जिणवरुदिदट्ठा।
पंचोविदियरोहा छप्पि य आवासया लोचो।।
अच्छेलकमण्हाणं खिदिसयणमदंतधंसणं चेव
ठिदिभोजणयभत्तं मूलगुणा अट्टवीसा दु।।
- मूलाचार, 1/2-3
2. समवायांग, समवाय, 27सूत्र 178
3. जीवणिबद्धाबद्धा परिगहा जीवसंभवा चेव।
तेसिं सक्कच्यागो इयरम्हि य णिम्मओऽसंगो।।
- मूलाचार, 1/9
4. सुत्तापाहुइ, 23
5. पइण्णयसुत्ताइं,
महावीर विद्यालय, बम्बई
6. आराहणाणिज्जुत्ती मरणविभत्ती य संगहत्थुदिओ।
पच्चक्खाणावासयधम्मकाहाओ य एरिसओ।।
- मूलाचार, 5/82
7. वही, 4/125
8. उत्तराध्ययनसूत्र, 26/2-4
9. मूलाचार, 10/18
10. वही, भाग 2, पृ. 105
11. वही, 10/105
12. वही, 10/68-73
13. वही, 5/80
14. वही, 2/85
15. देखें-- प्रकीर्णक-चन्दयवेज्झ,
16. शाकटायनव्याकरणम्,
- भारतीय ज्ञानपीठ, प्रकाशन, परिशिष्ट, पृ. 121-127

हिन्दी (मरु-गुर्जर) जैन साहित्य का महत्त्व और मूल्य

- डॉ. शितिकण्ठ मिश्र **

विषय प्रवेश

मरु-गुर्जर जैन साहित्य अपभ्रंश और आधुनिक हिन्दी, राजस्थानी तथा गुजराती साहित्य की मध्यवर्ती कड़ी है। इन भाषाओं के साहित्य को भाषा, शैली, भाव, रस, छन्द, काव्य-रूप आदि की दृष्टि से मरु-गुर्जर जैन साहित्य से एक समृद्ध और सम्पन्न परम्परा विरासत में मिली है। अतः इन भाषाओं में लिखित साहित्य का प्रामाणिक अध्ययन करने के लिए मरु-गुर्जर जैन साहित्य का मनन करना अपरिहार्य है। ऐसा न करने पर विकास की बहुत सी कड़ियों का क्रम भंग हो जाता है और उनकी संगति बैठाने के लिए विद्वानों को बड़ा द्राविड़-प्राणायाम करना पड़ता है। दुःख के साथ स्वीकार करना पड़ता है कि इसके अध्ययन की तरफ जितना ध्यान अपेक्षित था, विद्वानों ने अब तक नहीं दिया है। जहाँ तक मेरी जानकारी है, हिन्दी में मरु-गुर्जर जैन साहित्य का सर्वांगीण एवं प्रामाणिक इतिहास सुलभ नहीं है। इसके अलग-अलग अंगों पर अनेक विद्वानों ने आलोचना, शोध और इतिहास ग्रन्थ लिखे हैं। मरु और गुर्जर के पंडितों ने अपनी-अपनी भाषा के साहित्य का अलग-अलग अध्ययन भी किया है, जिनमें श्री चन्द्रधरशर्मा "गुलेरी" कृत पुरानी हिन्दी, श्री कामताप्रसाद जैन कृत हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, श्री नाथूराम "प्रेमी" कृत हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, श्री मोतीलाल मेनारिया कृत राजस्थानी साहित्य की रूप-रेखा, श्री नरोत्तमस्वामी कृत राजस्थानी भाषा और साहित्य, श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई कृत जैनगुर्जर कवियों और गुर्जर साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, श्री अमरचन्दनाहटा कृत राजस्थानी जैन साहित्य आदि उल्लेखनीय हैं। पिछले दशक में प्राकृत भारती, जयपुर से राजस्थान का जैन साहित्य नामक एक और उत्तम पुस्तक प्रकाशित हुई है, किन्तु इन सबके बावजूद जैसा पहले निवेदन किया गया है, मरु-गुर्जर के विविधतामय विपुल साहित्य का समवेत, सर्वांगीण और वैज्ञानिक बृहत् इतिहास हिन्दी में लिखा जाना अभी शेष है। इस उदासीनता के कारणों पर विचार करने से पूर्व "मरु-गुर्जर" पद पर यहीं थोड़ा विचार कर लेना समीचीन होगा।

मरु-गुर्जर का अभिप्राय

मरु-गुर्जर एक सामासिक पद है जिसमें मरु और गुर्जर दो शब्द सम्मिलित हैं। इस पद के तीन आयाम हैं। यह शब्द मरु और गुर्जर नामक प्रदेश, उन प्रदेशों की भाषा और उस भाषा में लिखे गये जैन साहित्य का वाचक है। अतः इसका सही अभिप्राय समझने के लिए इन तीनों आयामों को ध्यान में रखना अपेक्षित है। सर्वप्रथम इसके भाषा सम्बन्धी पक्ष पर दृष्टिपात करना उचित है। अपभ्रंश के पश्चात् (वि. सं. 12वीं शताब्दी) और हिन्दी, राजस्थानी तथा गुजराती भाषाओं के विकास से पूर्व (वि. सं. 15वीं शताब्दी) की संक्रमणकालीन संयुक्त काव्य-भाषा का नाम मरु-गुर्जर है, इसमें लिखा गया जैन साहित्य ही मरु-गुर्जर जैन साहित्य है। श्रीचन्द्रधरशर्मा "गुलेरी", महापंडित राहुल्-सांस्कृत्यायन प्रभृति विद्वान् इस शब्द के स्थान पर पुरानी हिन्दी शब्द का प्रयोग करते थे। विद्वानों ने मरु-गुर्जर भाषा का विकास शौरसेनी अपभ्रंश की पश्चिमी शाखा - नागर अपभ्रंश से होना प्रामाणित किया है। यह भाषा 12वीं शताब्दी से प्रायः 16वीं शताब्दी तक मध्यप्रदेश, राजस्थान, गुजरात, मालवा आदि की काव्य-भाषा के रूप में व्यवहृत होती रही। राजपूतों का उत्थान और उनके राज-दरबारों में इसके कवियों का सम्मान राजस्थान, गुजरात, मालवा आदि प्रदेशों में जैनधर्म का व्यापक प्रचार-प्रसार और इस धर्म के साधुओं, श्रावकों, कवियों और आचार्यों द्वारा इसे काव्य का माध्यम स्वीकार करना, इसके व्यापक प्रचार एवं प्रतिष्ठा के कुछ प्रमुख कारण हैं।

इसके पूर्व इसी प्रकार कई शताब्दियों तक अपभ्रंश का काव्य-भाषा के रूप में व्यापक प्रचार एवं सम्मान था। प्रसिद्ध राजस्थानी विद्वान श्री गुलेरीजी का कथन है कि -- अपभ्रंश एक स्थान की भाषा नहीं थी, वह देश भर की भाषा थी, जो शिष्टभाषा रूपी नहरों के समानान्तर बहती जाती थी। इसी परिनिष्ठित अपभ्रंश से उत्पन्न इस संक्रमणकालीन भाषा को पुरानी हिन्दी, पुरानी राजस्थानी, जूनी गुजराती, मरु-सौरठ आदि कई नाम दिए गये हैं, किन्तु इस भाषा के लिए सर्वाधिक उपयुक्त नाम मरु-गुर्जर है, जिस पर यथा-स्थान विचार किया जायेगा।¹ ध्यान देने की विशेष यह बात है कि इन सभी शब्दों का प्रयोग विद्वानों ने पर्यायवाची अर्थ में ही किया है। विक्रम की 12वीं से 15वीं शताब्दी तक इन भाषाओं में मूलतः भाषाई-स्तर पर कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता है। इस कालावधि में पुरानी हिन्दी और मरु (राजस्थानी) तथा गुर्जर (गुजराती) भाषायें प्रायः एक ही थीं। मरु और गुर्जर की एकता के सम्बन्ध में प्रसिद्ध भाषाशास्त्री ग्रियर्सन ने लिखा है कि -- ये दोनों एक ही भाषा की दो बोलियाँ हैं, इनका अलगवाह हाल की बात है।¹ प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक डॉ. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या का भी कथन है कि-- इन दोनों का मूल-स्रोत एक ही है और दोनों एक समान हैं।² इसी प्रकार प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी और पुरानी हिन्दी का घनिष्ठ सम्बन्ध डॉ. एल.पी. तेस्सीतारी आदि विद्वान भी मानते हैं, क्योंकि वे इनका मूल-स्रोत शौरसेनी को ही मानते हैं। वे इसी से एक ओर हिन्दी की ब्रज, बागरु, खड़ी बोली आदि बोलियों का और दूसरी ओर गुजराती तथा राजस्थानी का विकास स्वीकार करते हैं। जिस तरह शौरसेनी और नागर अपभ्रंश शब्द का प्रायः पर्यायवाची अर्थ में कभी प्रयोग किया जाता था, उसी प्रकार आगे चलकर पुरानी हिन्दी और मरु-गुर्जर शब्दों का पर्यायवाची अर्थ में ही प्रयोग किया गया है। इनकी मूलभूत एकता को इंगित करते हुए प्रसिद्ध गुजराती विद्वान श्री मो. द. देसाई ने लिखा है कि-- "जूनी हिन्दी, जूनी गुजराती और जूनी राजस्थानी शब्द कृत्रिम और भेद-बुद्धि को बढ़ाने वाले हैं। कविता की भाषा इस समूचे क्षेत्र की प्रायः एक ही रही है। जिस तरह नानक से लेकर दक्षिण के हरिदास की भाषा कभी ब्रजभाषा कहलाती थी, उसी प्रकार अपभ्रंश के पश्चात् और ब्रजभाषा से पूर्व की साहित्य भाषा को पुरानी हिन्दी या जूनी गुजराती कहा गया। यदि छापेखानों का प्रचार, प्रान्तीयता का अतिरिक्त मोह और मुसलमानों द्वारा फारसी शब्दों को लादने का आग्रह न होता, तो हिन्दी अनायास समस्त देश की भाषा बन चुकी होती।"³ उदाहरणस्वरूप वे कहते हैं कि -- मीराबाई की काव्य-भाषा को गुजराती, मारवाड़ी और हिन्दी तीनों कहा जाता है। श्री गुलेरीजी ने आ. हेमचन्द्र के सिद्धहेमानुशासन से एक दोहा उद्धृत करके उसे पुरानी हिन्दी का नमूना बताया है। उसके प्रचलित राजस्थानी रूप से तुलना करने पर हम उसे आसानी से राजस्थानी दोहा कह सकते हैं। दोहा इस प्रकार है --

"वायसु उड्डावन्तिअं पियु दिट्ठउ सहसत्ति,
अद्वया बलय महिहिय, अद्वया फुट्ट तडत्ति।

इसका प्रचलित राजस्थानी रूप इस प्रकार है --

काग उडावण जांवती पिय दीठो सहसत्ति,
आधी चूडी कागगल आधी टूटि तडत्ति।

अर्थात् आकस्मात् प्रिय को आता देखते ही नायिका फूल कर ऐसी कुप्पा हो गई कि उसके रींकिया हाथों की चूड़ी टूटकर शकुन बोलने वाले कौवे के गले में चली गई। गुलेरीजी अपनी व्यंग्य-विनोदपूर्ण शैली में कहते हैं कि-- "आधी चूड़ी का गगल में जाने से अशुभ का भय भी खत्म हो गया और निशाना भी ठीक बैठ गया।"⁴ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी लिखा है कि-- उस समय की हिन्दी और राजस्थानी में इतना रूपभेद नहीं हो गया था, जितना आजकल है। यदि यह कहा जाय कि वे एक ही थीं, तो अत्युक्ति न होगी। राजस्थानी साहित्य का सम्बन्ध एक ओर हिन्दी से है, तो दूसरी ओर इसका घनिष्ठ सम्बन्ध गुजराती से भी है। इसीलिए

कभी-कभी एक ही रचना को एक विद्वान पुरानी हिन्दी, तो दूसरा पुरानी राजस्थानी और तीसरा पुरानी गुजराती की रचना बताता है। इस पुरानी राजस्थानी या जूनी गुजराती में दोनों ही प्रदेशों की भाषा के पूर्व रूप तो मिलते ही हैं, प्राकृत और अपभ्रंश के रूप भी इनमें मिले रहते हैं। इसी मिश्र-भाषा में जैनकवियों ने अपना पुष्कल साहित्य सृजित किया है। काफी पहले आ. रामचन्द्रशुक्ल ने भी कहा था कि-- आदिकाल में जो कुछ असंदिग्ध सामग्री प्राप्त है, उसकी भाषा अपभ्रंश अर्थात् प्राकृताभास हिन्दी है। इस प्राकृताभास हिन्दी का अभिप्राय यह है कि यह उस समय के कवियों की भाषा है। कवियों ने काव्य परम्परा के अनुसार साहित्यिक अपभ्रंश के पुराने शब्द तो लिए ही हैं, विभक्तियाँ, कारकचिन्ह, क्रियाओं के रूप आदि भी बहुत कुछ पुराने रखे गये हैं।

वस्तुतः काव्य-भाषा विस्तृत क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाली शिष्ट या परिनिष्ठित भाषा होती है, जिसमें अनेक भाषा-बोलियों के प्रयोग सम्मिलित होते हैं। वह एक स्थानीय बोली मात्र नहीं होती। उसमें कई क्षेत्रीय बोलियों के पूर्व रूप भी प्राप्त होते हैं, किन्तु उस काव्य-भाषा से भावी बोलियों का उद्भव और विकास नहीं सिद्ध होता। जिस प्रकार खड़ी बोली से आधुनिक हिन्दी का और लंदन की बोली से अंग्रेजी भाषा का विकास हुआ है, उसी प्रकार कई स्थानीय बोलियों के सहयोग से मरु-गुर्जर भाषा का विकास हुआ था। अतः मरु-गुर्जर में इन सभी देशी-भाषाओं की मूल प्रवृत्तियाँ मिलती हैं और इसके अध्ययन द्वारा हमें हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती भाषा का विकास क्रम समझने में आसानी होती है। मरु-गुर्जर का यही भाषा-वैज्ञानिक महत्त्व है।

वस्तुतः काव्य-भाषा का संयुक्त स्वरूप या षट्भाषा रूप प्राचीनकाल से प्रचलित रहा है। साहित्य की भाषा किसी प्रदेश विशेष के प्रयोगों तक ही परिमित नहीं रह सकती। अपभ्रंश इसी प्रकार की परिनिष्ठित काव्य-भाषा थी। आगे चलकर कबीर आदि निर्गुण संतों की सधुक्कड़ी भाषा भी इसी प्रकार की मिश्र-भाषा शैली थी। यही स्वरूप ब्रजभाषा का रहा, जिसके सम्बन्ध में काव्य निर्णायक श्री भिखारीदास ने लिखा है --

"ब्रजभाषा भाषा रुचिर कहैं सुमति सब कोइ।

मिलै संस्कृत पारस्यौ पै अति प्रगट जुहोइ।

वे इस षट्भाषा के प्रमाणस्वरूप तुलसी और गंग का उदाहरण देते हैं --

"तुलसी गंग दुवौ भये सुकविन के सरदार।"

इनके काव्य में मिली भाषा विविध प्रकार की है। इस "विविध प्रकार" की काव्य-भाषा का सही स्वरूप समझने के लिए मरु-गुर्जर या पुरानी हिन्दी का सही स्वरूप जानना आवश्यक है, अन्यथा आधुनिक देशी-भाषाओं के जन्म और विकास की मनागतन्त कहानियों के आधार पर प्रादेशिकता को अनावश्यक प्रश्रय दिया जाता रहेगा। सधुक्कड़ी का अर्थ आचार्य शुक्ल ने बताया है कि-- "राजस्थानी, पंजाबी मिली खड़ी बोली।" किन्तु कबीर की रमैनी और सबद की भाषा में ब्रज और पूरबी प्रयोगों का पुट भी पर्याप्त प्राप्त होता है अर्थात् उसमें कई बोली, भाषाओं का प्रयोग सम्मिलित है। इस सधुक्कड़ी का पूर्व रूप मरु-गुर्जर भाषा ही है। हिन्दी का आदिकालीन साहित्य जो अधिकतर राजस्थान में रचा गया, मरु-गुर्जर भाषा से प्रभावित है। डिंगल और पिंगल इसी की काव्य-शैलियाँ हैं। धर्मसूरिकृत जम्बूस्वामीरासा की भाषा को स्व. दलाल ने जूनी गुजराती और श्री प्रेमीजी ने पुरानी हिन्दी कहा है क्योंकि ये दो भाषायें नहीं थीं। सप्तम् हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर श्री प्रेमीजी ने जबलपुर में कहा था कि-- पुरानी हिन्दी और पश्चिमी या जूनी गुजराती तो प्रान्तभेद से एक ही भाषा के अलग-अलग पर्यायवाची नाम हैं। वि. सं. 15वीं-16वीं शताब्दी तक का जैन साहित्य इन तीनों प्रान्तों का एक ही है। श्री अमारचन्द्रनाहटा ने वि. सं. 13वीं शताब्दी की जैन रचनाओं की भाषा पर विचार करते हुए लिखा है, 'इनमें से कुछ की भाषा अपभ्रंश प्रभावित राजस्थानी है और कुछ बोलचाल की राजस्थानी है। इनमें से कुछ राजस्थान

और कुछ गुजरात में रची गई, परन्तु दोनों स्थानों में लिखी गई रचनाओं की भाषा में कुछ अन्तर नहीं है।⁵ सारांश यह है कि वे भी दोनों भाषाओं का अभेद अस्वीकारते हैं। वे मरु-गुर्जर शब्द को स्पष्ट करते हुए आगे लिखते हैं-- तत्कालीन राजस्थानी, मालवा, गुजरात तक प्रचलित थी। इसलिए उसे मरु-गुर्जर कहना अधिक उपयुक्त है। इसे ही पुरानी हिन्दी और मरु-गुर्जर कहना अधिक उचित है। राजस्थान, गुजरात और मध्यदेश में दूर-दूर तक प्रयुक्त होने वाली इस काव्य-भाषा का मरु-गुर्जर नाम ही सर्वाधिक उपयुक्त भी है क्योंकि पुरानी हिन्दी नाम में अतिव्याप्ति दोष प्रतीत होता है। श्री गुलेरी और श्री राहुल जैसे विद्वान् इन प्रदेशों में रचित दसवीं शताब्दी तक की समस्त रचनाओं को पुरानी हिन्दी में परिगणित करते हैं, किन्तु सभी विद्वान् इस मत से सहमत नहीं हो पाते। सच तो यह है कि थोड़ी सी जैनितर प्राप्त रचनाओं जैसे -- उक्तिव्यक्तिप्रकरण, प्राकृतपैङ्गालम्, कीर्तिलता आदि के आधार पर पुरानी हिन्दी नाम दिया गया था, किन्तु बाद में जैन भण्डारों से अपार जैन साहित्य प्राप्त हुआ, जो मरु-गुर्जर भाषा में रचित है। इस समस्त साहित्य का उपयुक्त नाम मरु-गुर्जर जैन साहित्य ही है।

इस भाषा की एकता का मुख्य कारण इन प्रदेशों की भौगोलिक, धार्मिक और सांस्कृतिक एकता है। यह तो पहले कहा जा चुका है कि इन प्रदेशों की बोलियों का मूल-स्रोत एक ही है। इसके अलावा वैवाहिक सम्बन्ध, व्यापार, तीर्थयात्रा आदि के द्वारा इन स्थानों की भाषा-बोली एक स्थान से दूसरे स्थान तक फैलती रही। वस्तुतः गुजराती, राजस्थानी श्रेष्ठिर्वा और जैन साधु समाज ने इस भाषा की एकता को सुदृढ़ किया। गुजरात और मारवाड़ की सीमायें मिली हुई हैं। जैनमुनि इन प्रदेशों में निरन्तर विहार करते थे। जैनधर्म के कुछ गच्छों का प्रभाव इन दोनों प्रान्तों में समान रूप से अब भी पाया जाता है। अतः इन गच्छों के लेखकों की भाषा में गुजराती और राजस्थानी का प्रयोग समान रूप से होता रहा है। जैन श्रावक भी आजीविका के लिए एक से दूसरे प्रदेश में प्रायः आते-जाते रहते थे और भाषाई एकता को मजबूत करते रहते थे। यही कारण है कि इन प्रदेशों में लिखे गये जैन काव्य की एक सामान्य भाषा-शैली का विकास और प्रसार दूर-दूर तक हो गया और तीन-चार शतकों तक यही भाषा अधिकांश जैन-काव्य का माध्यम रही।

मरु-गुर्जर भाषा का स्वरूप

वि.सं. 11वीं शताब्दी तक अपभ्रंश जनता के बोलचाल की भाषा रही। इसके कुछ समय बाद आ. हेमचन्द्र ने इसको व्याकरण के नियमों में बाँध दिया और यह परिनिष्ठित भाषा के रूप में मर्यादित हो गई। इसका एक साहित्यिक रूप रूढ़ हो गया। जिसमें कविजन आगे भी साहित्य सृष्टि करते रहे, परन्तु जनता की बोली निरन्तर परिवर्तित और विकसित होती रहती है। आ. हेमचन्द्र के कुछ ही दशकों बाद भारतीय राजनीति में बड़ा उथल-पुथल हो गया। मुसलमानी आक्रमण के फलस्वरूप राष्ट्रीय परिस्थिति में घोर परिवर्तन हुआ। विभिन्न प्रदेशों का पारस्परिक सम्बन्ध छिन्न-भिन्न हो गया। जनता का आपस में मिलना-जुलना, व्यापार-कारोबार करना बाधित हुआ, इसलिए अपने-अपने प्रदेशों की राजनीतिक सीमा के अन्तर्गत वहाँ की भाषाओं का एकान्तिक विकास होने लगा। लेकिन एक भाषा से दूसरी भाषा के विकास में शताब्दियाँ बीत जाती हैं। इस संक्रान्तिकाल में इसी मिली-जुली भाषा का साहित्य में व्यवहार होता रहा। अतः देशी-भाषाओं के विकास का सूत्र इसी में उपलब्ध हो सकता है।

आ. हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में तत्कालीन भाषा के पद्यों का नमूना दिया है, उनको पढ़कर हम तत्कालीन मरु-गुर्जर का स्वरूप समझ सकते हैं। जैसे --

"विट्टिए मइ भणिय तुहुं मां कुरु बंकी दिट्ठि ।
दुत्ति सकण्णी मल्लि जिव मारइ हियइ पइट्ठि ।

इसमें हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती के लक्षण आसानी से ढूँढे जा सकते हैं और कोई भी भाषा-भाषी इसे अपनी भाषा का पूर्वरूप घोषित कर सकता है। आधुनिक देशी-भाषाओं की विकास प्रक्रिया वि.सं. 15वीं-16वीं शताब्दी तक अपना चक्र पूरा कर लेती है और नई भाषाओं के रूप सामने आ जाते हैं, जैसे-- प्राचीन अड़, अउ के स्थान पर नवीन रूप ऐ, औ प्रतिष्ठित हो चले हैं।

जैन-काव्य की भाषा प्राचीनकाल से यथासम्भव जन-भाषा के करीब रही है। इनके लोकसाहित्य -- चर्चरी, फागु आदि में तत्कालीन लोकभाषा का वास्तविक स्वरूप सुरक्षित है। आधुनिक आर्यभाषा युग में भाषाये संयोगात्मक अवस्था पार कर वियोगात्मक हो गईं। जूनी गुजराती पुरानी हिन्दी या मरु-गुर्जर में यह प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित होती है। मुख-सुख के कारण प्राकृत से अपभ्रंश और अपभ्रंश से देशी-भाषाएँ लगातार समास से व्यासपरक होती गईं और यह इतना बड़ा अन्तर है कि अन्ततः अपभ्रंश और मरु-गुर्जर भिन्न-भिन्न भाषाये हो गईं। स्वयंभू और पुष्पदंत, अपभ्रंश के कवि हैं, किन्तु पुष्पदंत के प्रायः चालीस वर्ष पश्चात् रचित श्री चन्द्रकृत कथाकोष मरु-गुर्जर की रचना मानी जाती है। कुछ काल तक अपभ्रंश और मरु-गुर्जर में समानान्तर साहित्य सृजन होता रहा। जिनदत्तसूरि की चर्चरी में अपभ्रंश के बीच-बीच मरु-गुर्जर के प्रयोग भी यदाकदा मिल जाते हैं, उसी प्रकार जिनपद्मसूरि कृत स्थूलिभद्र फागु में मरु-गुर्जर भाषा के बीच कहीं-कहीं अपभ्रंश के प्रयोग झलक जाते हैं। जैसे --

*"सौयल कोमल सुरहिवाय, जिम जिम वायंते,
माड मडपफर माणणिय तिम तिम नाचंते।*

महापंडित राहुल ने स्वयंभू की रचनाओं में अनेक हिन्दी रूपों के आधार पर उनकी रचना को हिन्दी-भाषा की रचना सिद्ध की है, किन्तु थोड़ी समानता के आधार पर दोनों को एक भाषा नहीं सिद्ध किया जा सकता। इस मिश्र-भाषा शैली का समय इसलिये वि.सं. 15वीं शताब्दी तक समाप्त समझना चाहिये क्योंकि तब तक अपभ्रंश के कई प्रधान लक्षण इससे हट चुके थे। जैसे-- उकार बहुला प्रवृत्ति प्रायः समाप्त हो चुकी थी। इसीलिए वि.सं. 12वीं से 15वीं शताब्दी तक का समय मरु-गुर्जर का समय सर्वमान्य है।

मरु-गुर्जर साहित्य का महत्त्व

इस भाषा में विशाल जैन साहित्य का सम्पन्न भण्डार है, जो विविध काव्यरूपों में लिखा गया है। इसकी सम्पन्नता और विशेषता की महामना पं. मदनमोहन मालवीय, विश्व कवि रवि ठाकुर, डॉ. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या आदि मनीषियों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। ग्रियर्सन ने इसकी प्रशंसा करते हुए लिखा है कि-- "इसमें ऐतिहासिक महत्त्व का विपुल साहित्य भरा पड़ा है।"⁶ वि.सं. 12वीं शताब्दी में शैवमत का देश में व्यापक प्रचार था, किन्तु पूर्वी भारत में तन्त्र-मन्त्र वाले वज्रयानी सम्प्रदाय का और पश्चिमी भारत में संयम प्रधान जैनधर्म का प्रचुर प्रभाव था। इस धार्मिक विविधता में अद्भुत एकता थी। धर्म के नाम पर कोई उपद्रव नहीं होता था। सर्वधर्म समभाव यहाँ के संस्कृति की प्राचीन विशेषता रही है, किन्तु उसी समय धर्म के नाम पर मुसलमानी आक्रमण और अत्याचार होने लगे। इस अशान्ति के समय मध्यदेश का आदिकालीन साहित्य अरक्षित होने के कारण प्रायः नष्ट हो गया। उस समय कान्यकुब्ज प्रदेश पर गाहड़वालों का राज्य था। वे स्वयं बाहरी होने के कारण स्थानीय भाषा कवियों के बजाय संस्कृत को अधिक सम्मान देते थे, इसलिए वहाँ की भाषा में लिखे साहित्य को राज्याश्रय नहीं मिला और जो कुछ साहित्य जनाश्रय में लिखा गया, वह मुसलमानी आक्रमण के समय प्रायः नष्ट हो गया। आ. रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में हिन्दी के आदिकाल का विवरण जिन पुस्तकों के आधार पर दिया है, उनमें से अधिकतर बाद में अप्रामाणिक या जाली सिद्ध हो गए हैं। जो शेष प्रामाणिक ग्रन्थ हैं, वे प्रायः राजस्थान के विभिन्न राज-दरबारों में लिखे गये हैं, जिनकी भाषा मरु-गुर्जर की विविध शैलियाँ हैं। अतः

हिन्दी का विकास-क्रम एवं उसके साहित्य का वास्तविक इतिहास जानने का एक मात्र प्रामाणिक साधन मरु-गुर्जर जैन साहित्य ही है।

कोई भाषा और उसका साहित्य राज्याश्रय, धर्माश्रय या जनाश्रय में विकसित होता है और सुरक्षित रहता है। जैसा कहा गया है कि हिन्दी को केवल जनाश्रय पर निर्भर करना पड़ा, किन्तु मरु-गुर्जर की कहानी उससे भिन्न रही। इस भाषा-साहित्य को गुजरात, मालवा और राजस्थान में राष्ट्रकूट, परमार और सोलंकी शासकों का संरक्षण प्राप्त हुआ था। मान्यखेट के राष्ट्रकूट राजाओं के मंत्री भी प्रायः जैन हुआ करते थे, जिनके यहाँ जैन मुनियों और कवियों का सम्मान होता था। बरार में उन दिनों जैन वैश्यों का प्राधान्य था। उन्होंने भी मरु-गुर्जर साहित्य को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया। राष्ट्रकूटों के पतन के पश्चात् गुजरात के सोलंकी शासकों के समय जैनधर्म की मान्यता राजधर्म के रूप में हो गयी थी। इसलिए यदि स्वयंभू और पुष्पदंत राष्ट्रकूटों की छत्र-छाया में पनपे, तो हेमचन्द्र आदि परवर्ती आचार्यों को सोलंकी शासक सिद्धराज और कुमारपाल का राज्याश्रय प्राप्त था। जैन धर्माचार्यों ने मरु-गुर्जर के प्रचार एवं उसके साहित्य के सृजन एवं संरक्षण में अनुपम योगदान किया। जैनधर्म में दान के सप्त क्षेत्रों में तृतीय क्षेत्र-शास्त्रलेखन एवं संरक्षण का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके अनुसार प्रत्येक साधु एवं श्रावक के लिए शास्त्राध्ययन, लेखन और संरक्षण उसका आवश्यक कर्तव्य बताया गया है। अतः जैन मन्दिरों और शास्त्रभण्डारों में हस्तप्रतियों के लेखन तथा संरक्षण का बड़ा उत्तम प्रबन्ध किया गया। जैनसंघ द्वारा स्थापित संचालित ग्रन्थ-भण्डार इस क्षेत्र में अनेक हैं जिनमें जैसलमेर और बीकानेर के विशाल ज्ञानभण्डारों के अतिरिक्त अभयजैन ग्रन्थालय, अनुप पुस्तकालय, प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान आदि उल्लेखनीय हैं। इन भण्डारों में अधिकांश जैन साहित्य सुरक्षित है। जैन धर्मावलम्बी अपने उदार और सहिष्णु दृष्टिकोण के कारण कभी संघर्ष में नहीं पड़े। अधिकतर जैनसाधु संयमी और प्रभावशाली हुए। जैनश्रावक एवं श्रेष्ठी भी इतने सक्षम थे कि उनकी मुसलमानी दरबारों में अच्छी साख थी, जिसके कारण इन शास्त्रभण्डारों पर मुसलमानों की क्रूर दृष्टि शायद ही कभी पड़ी। इसलिए यह साहित्य राज्याश्रय और धर्माश्रय प्राप्त कर विकसित हुआ और सुरक्षित रहा।

इन हस्त-प्रतियों में समस्त उत्तरभारत के महत्त्वपूर्ण इतिहास की प्रामाणिक सामग्री के साथ ही भाषा-विकास एवं साहित्यिक प्रवृत्तियों की क्रमिक कड़ियाँ सुरक्षित हैं, जिनके आधार पर हम उत्तर-भारत के इतिहास, भाषा, साहित्य और संस्कृति का सही स्वरूप समझ सकते हैं। इनके सम्बन्ध में अप्रामाणिकता का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि ये धर्म बुद्धि से प्रेरित अत्यन्त श्रद्धापूर्वक लिखी गईं और सुरक्षित रखी गईं हैं, जबकि अन्य साहित्य की उतनी प्राचीन एवं प्रामाणिक प्रतियाँ उपलब्ध न होने के कारण मूल-ग्रन्थ का वास्तविक पाठ और उसकी भाषा का सही स्वरूप निर्धारित करना कठिन कार्य है। इसलिए मरु-गुर्जर जैन साहित्य की सर्वाधिक महत्ता है क्योंकि उसके आधार पर हम अपनी भाषा और साहित्य का क्रमिक इतिहास और विकास-क्रम दृढ़ सकते हैं। इस सम्बन्ध में एक बात यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है कि ये हस्तप्रतियाँ प्रत्येक शताब्दी के प्रत्येक चरण की सन्-संवत्वार उपलब्ध होने के कारण ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक अध्ययन का ठोस आधार प्रस्तुत करती हैं। यह खेद की बात है कि इस विशाल प्रामाणिक साहित्य के प्रति हिन्दी के इतिहासकार उदासीन रहे हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपभ्रंश में लिखित बौद्ध एवं जैन धार्मिक साहित्य पर विचार प्रकट करते हुए लिखा -- "सिद्धों और जोगियों की रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है। वे साम्प्रदायिक-शिक्षा मात्र हैं। अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आती। उन रचनाओं की परम्परा को हम काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं कह सकते। अतः धर्म सम्बन्धी रचनाओं की चर्चा छोड़ कर अब हम सामान्य साहित्य की जो कुछ सामग्री मिलती है उसका उल्लेख करेंगे।" इस उल्लेख के अन्तर्गत उन्होंने हेमचन्द्र, सोमप्रभसूरि, मेरुतुंग, विद्याधर और शाङ्गाधर का अतिसंक्षिप्त परिचय देकर इस विशाल साहित्य का खाता बन्द कर दिया। वस्तुतः इस साहित्य में जैनधर्म की कोरी उपदेशपरक रचनायें ही नहीं हैं बल्कि इसमें

विपुल सरस काव्य-साहित्य भी है, जो सहृदयों के सहानुभूति की प्रतीक्षा कर रहा है। आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने जोर देकर कहा है कि -- इस साहित्य को अनेक कारणों से इतिहास ग्रन्थों में सम्मिलित किया जाना चाहिये। कोरा धर्मोपदेश समझ कर छोड़ नहीं देना चाहिये। धर्म वहाँ केवल कवि को प्रेरणा दे रहा है। जिस साहित्य में केवल धार्मिक उपदेश हो उससे वह साहित्य निश्चित रूप में भिन्न है, जिसमें धर्म भावना प्रेरक शक्ति के रूप में काम कर रही हो और साथ ही जो हमारी सामान्य मनुष्यता को आन्दोलित, मथित और प्रभावित कर रही हो।

उनका विचार है कि धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश को हमेशा काव्यत्व का परिपंथी नहीं समझा जाना चाहिये अन्यथा हमारे साहित्य की विपुल सम्पदा चाहे वह स्वयंभू, पुष्पदंत या धनपाल की हो या जायसी, सूर, तुलसी की हो, साहित्य क्षेत्र से अलग कर दी जायेगी। इसलिए धार्मिक होने मात्र से कोई रचना साहित्य क्षेत्र से खारिज नहीं की जा सकती। लौकिक कहानियों को आश्रय करके धर्मोपदेश देना इस देश की प्रथा रही है। मध्ययुग के साहित्य की प्रधान प्रेरणा धर्म साधना ही रही है और धर्म बुद्धि के कारण ही आज तक प्राचीन साहित्य सुरक्षित रह सका है। जैन साहित्य के सम्बन्ध में आ. द्विवेदी का यह अभिमत शत-प्रतिशत सही है।

जैन-काव्य का लक्ष्य

जीवन और जगत् के प्रति जैनाचार्यों का एक विशेष दृष्टिकोण है। संसार की नश्वरता, समत्वदृष्टि, अहिंसा, जीवदया और नैतिक संयम-नियम पर उनका विशेष ध्यान रहता है। इसलिए उन्होंने साहित्य को केवल कला या साहित्य के लिए नहीं माना। मानव के चार पुरुषार्थों में परमपुरुषार्थ-मोक्ष को वे साहित्य का साध्य मानते हैं। इसीलिए उन्होंने साहित्य में श्रृंगार का रसराजत्व नहीं स्वीकार किया। रति या श्रृंगार मनुष्य को उत्तेजित करता है, भोग-विलास की ज्वाला उद्दीप्त करता है। इसकी ओर तो मनुष्य स्वतः आकर्षित होता है। इसके शिक्षा की आवश्यकता नहीं होती। यह मनुष्य को निरन्तर व्यग्र रखता है, जबकि मनुष्य स्वभावतः शान्तिप्रिय है, इसलिए जीवन में शान्ति या शम ही काम्य है। मनुष्य को वास्तविक शान्ति, सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से ऊपर उठकर प्राणिमात्र के प्रति समत्व धारण करने पर ही मिलती है। अतः मरु-गुर्जर जैन साहित्य का प्रधानस्वर शान्ति या शम का है, जिसकी आज संसार को सर्वाधिक आवश्यकता है। इसीलिए यह साहित्य आज भी उतना ही प्रासंगिक है, जितना शताब्दियों पूर्व था और उतना ही शताब्दी बाद तक रहेगा। यह मरु-गुर्जर जैन साहित्य का सार्वभौम महत्त्वपूर्ण पक्ष है और साहित्य जगत् को यह इसकी अनुठी भेंट है। इनका कथन है कि श्रृंगार और शम के स्वस्थ समन्वय से ही मानव को जीवन का चरमलक्ष्य प्राप्त हो सकता है। इसलिए जैन लेखक जीवन की मादकता, इन्द्रिय-लिप्सा और कामुक उद्वेगों का परिहार अन्ततः शम में करते हैं। इन काव्यों में नायक अपने यौवन में युद्ध, भोग आदि में अवश्य लिप्त होते हैं और कवि वीर, श्रृंगार आदि के विमर्श का अक्सर निकाल लेते हैं, किन्तु अन्त में घटना क्रम अपने चरम पर पहुँच कर शान्तरस में पर्यवसित हो जाता है। यह भाव बड़े-बड़े लोगों को कुसमय में सहारा देता है। पउम-चरित में लक्ष्मण के शक्ति लगने के अक्सर पर स्वयम् पद्म श्रीराम जब करुणासमुद्र में ऊभचूम कर रहे होते हैं, तभी उन्हें जीवन की नश्वरता और शरीर की क्षणभंगुरता का बोध होता है और वे तत्क्षण परमशान्ति प्राप्त कर लेते हैं। इसी प्रकार जैन मुनि स्थूलिभद्र घोर श्रृंगारी नायक थे किन्तु अन्त में कोशा-वेश्या के प्रसंगोपरान्त वे भी परमसंयमी, निष्काम तथा अनासक्त हो जाते हैं। इस प्रकार साहित्य द्वारा व्यष्टि एवं समष्टि के मुक्ति की साधना की गई है। इसलिए साम्प्रदायिक-साहित्य समझ कर इसे साहित्य की कोटि से खारिज करना अपने पैरों में ही कुल्हाड़ी मारना है।

भाव की दृष्टि से संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश अथवा मरु-गुर्जर में प्राप्त समस्त जैन साहित्य निश्चय ही एक श्रेणी का है। उसमें सर्वत्र एक विशिष्ट धार्मिक वातावरण मिलता है, किन्तु जैन कवियों ने सबसे महत्त्वपूर्ण यह कार्य किया है कि उन्होंने धर्म का साहित्य के साथ सफल समन्वय किया। जिस समय जैनकवि काव्यरस की

तरफ झुकता है, उस समय उसकी कृति सरस एवं श्रेष्ठ काव्य का रूप धारण कर लेती है। अपभ्रंश कवि स्वयंभू, पुष्पदंत, जोगिन्दु, रामसिंह और धनपाल के पश्चात् मरु-गुर्जर के शालिभद्रसूरि, विनयप्रभसूरि, अम्बदेवसूरि मेरुनन्दन, भट्टारक सकलभूषण, समयसुन्दर, हीरविजय, यशोविजय आदि अनेक उल्लेखनीय श्रेष्ठ कवि हैं। धर्मोपदेश का प्रसंग जब प्रधान बन जाता है, उस समय वह रचना अवश्य पद्यवद्ध उपदेशात्मक कृति बन जाती है। ऐसी भी तमाम रचनायें हैं, जिनमें श्रावकों के लिए आचार, नियम-व्रत आदि की व्याख्या पद्य में की गई है। जैसे-- देवसेनकृत सावयधम्म दोहा, जिनदत्तसूरि कृत उपदेशरसायन रास आदि, किन्तु समस्त जैन साहित्य निश्चय ही इसी कोटि का नहीं है। वह विपुल और बहु-आयामी है। उन्होंने धार्मिक एवं दार्शनिक विषयों पर प्रचुर सरस-काव्य, नाटक, रास आदि लिखे हैं। इसके साथ ही साहित्यशास्त्र, ज्योतिष, आयुर्वेद, कोष, व्याकरण, गणित, राजनीति, पुराण, शकुन, स्वप्न विचार इत्यादि नाना प्रकार के विषयों पर भी विपुल साहित्य विविध काव्यरूपों और नाना प्रकार के छंदों में प्रस्तुत किया गया है।

यह विशाल साहित्य बहुत समय तक शास्त्रभण्डारों में बन्द पड़ा रहा और बाहरी दुनियाँ के लिए अनजान था। इसकी जानकारी बृहत्तर पाठक समाज को देने का सर्वप्रथम श्रेय यूरोपीय विद्वानों को है। सन् 1845 में अंग्रेज विद्वान् ने वररुचि के प्राकृत-प्रकाश का सुसंपादित संस्करण प्रकाशित करके इसका श्रीगणेश किया। उसके बाद जर्मन पंडित पिशेल ने 1877 ई. में हेमचन्द्र के सिद्ध-हैम का सम्पादन प्रकाशन करके प्राकृत और अपभ्रंश के अध्ययन की नींव डाली। जर्मनी के ही अन्य विद्वान् जैकोबी ने समराइच्यकहा, पउमरचित आदि की विद्वत्पूर्ण भूमिकाओं के साथ उनका सम्पादन प्रकाशन करके इनके अनुपम काव्य-पक्ष की तरफ लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। भविष्यदत्त और सन्त्कुमार के संस्करणों के प्रकाशन ने उस क्षेत्र में अध्ययन की व्यापक संभावनाओं से लोगों को परिचित कराया। भारतीय विद्वानों में हरप्रसाद शास्त्री, पी.डी. गुणे, प्रो. हीरालाल जैन, राहुल सांस्कृत्यायन आदि के पश्चात् सर्वश्री बागची, भायाणी, देसाई, दलाल, मुनिजिनविजय, उपाध्ये, नाहटा आदि ने बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य इस क्षेत्र में किया है। अब तो इधर अनेक विद्वान् कार्यरत हो गये हैं और जैनभण्डारों में भी पुरानी रुढ़िवादिता तथा गोपन-वृत्ति नहीं रह गई है। अतः आशा है कि निरन्तर नये-नये ग्रन्थों की शोध, उनके सम्पादन और प्रकाशन से इसके अध्ययन का क्षितिज क्रमशः विस्तृत होता जायेगा।

मूल्यात्मकता

सामान्य मनुष्य की प्रतिष्ठा

अब हम इस साहित्य के मूल्य पर विचार करेंगे। इस साहित्य की कुछ बहुमूल्य विशेषतायें हैं, जिन्होंने इसे समग्र भारतीय साहित्य में विशिष्ट महत्त्व प्रदान किया है, इनमें सर्वप्रधान विशेषता है काव्य में सामान्य मनुष्य को सम्मान देना। संस्कृत साहित्य में सामान्य व्यक्ति को प्रायः काव्य का नायक नहीं बनाया जाता था। काव्य का साधारण व्यक्ति के साथ सर्वप्रथम सम्बन्ध जैन साहित्य में ही जोड़ा गया। नियम संयम का पालन करने वाला कोई भी आचारवान् श्रावक या श्रेष्ठि अथवा साधारण श्रमिक काव्य का चरितनायक बनाया जाने लगा। इस क्रान्तिकारी उदार दृष्टिकोण के कारण जैन साहित्य को सच्चे अर्थ में जन्ता का साहित्य माना जाना चाहिए। आज के जन्तवादी और प्रगतिशील साहित्य की नींव जैन साहित्य में सुरक्षित है। देशी-भाषाओं के आधुनिक साहित्य को मरु-गुर्जर जैन साहित्य से यह बहुत बड़ी विरासत प्राप्त हुई है।

धार्मिक सहिष्णुता

आमतौर पर जैन साहित्य में किसी शलाका पुरुष का चरित्र-चित्रण किया जाता है अथवा किसी व्रत-नियम आदि का माहात्म्य बताया जाता है लेकिन अपने मत का प्रतिपादन करते हुए भी अनेकान्तवादी जैनाचार्य

साम्प्रदायिक कट्टरता के वेग में कभी सहिष्णुता और उदारता को तिलांजलि नहीं दे देता है। यह उदारता इस साहित्य की महती विशेषता है, जिसके अनुपालन का संकेत-संदेश जैनकवि किसी भी धर्मोपदेशक को दे सकता है क्योंकि वह कोरा पर-उपदेश कुशल नहीं होता बल्कि स्वयं उसका आचरण निष्ठापूर्वक करता है। स्याद्वाद और कर्मवाद इन रचनाओं का मूलाधार है।

कर्मवाद की प्रतिष्ठा

कर्मवाद में अटूट आस्था के कारण जैन साहित्य इनके की चोट पर कहता है कि मनुष्य अपने कर्म का फल अवश्य पाता है। कर्म से ही वह बन्धन में पड़ता है और अपने कर्म से ही वह मुक्त हो सकता है। कोई दूसरा न उसे बाँधता है, न छोड़ता है। मनुष्य के पुरुषार्थ पर ऐसा दृढ़ विश्वास संसार के अन्य धर्माश्रित साहित्य में दुर्लभ है। वैष्णव-भक्ति के अन्तर्गत भी श्रीकृष्ण और श्रीराम, ब्रह्म से मनुष्य के रूप में अवतरित होते हैं, किन्तु जैन अरहन्त अपने कर्मों द्वारा मनुष्य से भगवान बनते हैं। वे भगवान को नीचे अवतरित कराने में विश्वास नहीं करते वरन् मनुष्य को ही अपने सत्कर्मों द्वारा मुक्त, शुद्ध चैतन्य भगवान बनाने में विश्वास करते हैं। मनुष्य के पुरुषार्थ और कर्म के महत्त्व की यह घोषणा संसार के अन्य धर्म और साहित्य के लिए मरु-गुर्जर जैन साहित्य से प्राप्त एक महत्त्वपूर्ण प्रेरणा है। "कर्म प्रधान विश्व करि राखा, जो जस करै सो तस फल चाखा" -- संत तुलसी की इन पंक्तियों में वहीं प्रेरणा मुखर हुई है।

भक्त से भगवान

इसीलिए जैनधर्म में भगवान और भक्ति का स्वरूप वैष्णवभक्ति साहित्य से कुछ भिन्न प्रकार का है। जैन भक्त वीतराग भगवान से अपनी भक्ति के बदले दया, अनुग्रह, प्रेम आदि की याचना नहीं करता। भक्त वीतराग पर रीझ कर उससे भक्ति या श्रद्धा करता है। कर्मों का कर्त्ता और उसके फल का भोक्ता स्वयं जीव है। इसलिए वह अपनी श्रद्धाभक्ति के बदले वीतराग से दया की याचना नहीं करता। भक्ति का स्वरूप समझाते हुए श्री देवचन्द्र जी कहते हैं कि--

अजकुल गत केशरी लहरे, निज पद सिंह निहाल । तिम प्रभु भक्ति भवी लहरे, आत्म शक्ति सम्भाल ।

जिस प्रकार अजकुल में पालित सिंह - शावक सिंह के दर्शन मात्र से अपने सुसुप्त सिंहत्व को प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार साधक तीर्थंकर के गुण, कीर्तन, स्तवन के द्वारा निज में जिनत्व का बोध कर लेता है। स्तुतिसाधक की अन्तश्चेतना को जाग्रत करती है और वह स्वयं उस आदर्श को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। वह उसके गुण का स्मरण करके अपने दुर्गुणों से मुक्ति के लिए सत् प्रयत्न में स्वयं लग जाता है। गीता की घोषणा "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।"

"अहंत्वाम् सर्वं पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः" में जैन भक्त विश्वास करके अपने कर्त्तव्यों और धर्मों की तिलांजलि नहीं दे देता बल्कि अपने कर्म पर भरोसा रख कर निरन्तर संयम, नियम और धर्माचरण द्वारा अपनी मुक्ति का मार्ग स्वयं प्रशस्त करता है।

भक्ति की पूर्व परम्परा

हिन्दी साहित्य में भक्ति का प्रवेश वैष्णव भक्ति आन्दोलन के साथ वि.सं. 14वीं-15वीं शताब्दी में हुआ, किन्तु मरु-गुर्जर जैन साहित्य में "जयतिहुअन" स्तोत्र और इसी प्रकार के अन्य अनेक स्तोत्र, स्तवन जैसी भक्तिपरक रचनायें काफी पहले से प्राप्त होती हैं। अतः हिन्दी भक्ति साहित्य की अनेक पूर्ववर्ती विशेषतायें इस में उपलब्ध होती हैं। जैनभक्ति काव्य को भी निष्काम सकामभक्ति धारा में उसी प्रकार विभक्त किया जाता है जैसे हिन्दी का निर्गुण और सगुण भक्ति काव्य है। वस्तुतः जैनधर्म साहित्य में ठीक उसी प्रकार निर्गुण और

से उनका पुनर्मिलन प्रायः समस्त सूफी और अन्य साहित्य में मिलता है। इसी प्रकार विमाता का रोष, देवी-देवताओं की कृपा, शाप आदि कथानक रूढ़ियों का पूर्वरूप भी हमें मरु-गुर्जर जैन साहित्य में प्रचुर रूप से प्राप्त होता है।

कथाशिल्प

इसी प्रकार हमें मरु-गुर्जर जैन साहित्य से कथाशिल्प, काव्यरूप और छन्द आदि का भी अवदान प्रभूत मात्रा में प्राप्त हुआ है। अधिकतर जैन काव्य संधियों में विभक्त है। प्रत्येक संधि अनेक कड़वकों से मिलकर बनती है। कड़वक की समाप्ति धत्ता से होती है। इस प्रकार की शैली सूफी प्रेमाख्यानों में खूब प्रचलित हुई। आ. शुकल ने लिखा है कि चरितकाव्य के लिए जैन काव्य में अधिकतर चौपाई और दोहों की पद्धति ग्रहण की गई है। पुष्पदन्त (वि.सं.1029) के आदि पुराण और उत्तर-पुराण से प्रेरणा लेकर यह परम्परा सूफियों के प्रेमाख्यान और तुल्सी के मानस तथा छत्रप्रकाश, ब्रजविलास आदि परवर्ती आख्यान ग्रन्थों में चलती रही। इसी प्रकार काव्य शिल्प के क्षेत्र में भी हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती पर जैन मरु-गुर्जर साहित्य का बड़ा ऋण है। देखते हैं कि रस, भाव, भाषा के अलावा साहित्य के अन्य अंगों जैसे -- छन्द, काव्यरूप आदि पर भी मरु-गुर्जर जैन साहित्य का व्यापक प्रभाव पड़ा है और इन भाषाओं का साहित्य इस ऋण को स्वीकार कर ही अपना अस्तित्व प्रमाणित कर सकता है।

छन्द-योजना

छन्दों के क्षेत्र में अपभ्रंश और मरु-गुर्जर जैन साहित्य की मौलिक देन है। मात्रिक छन्दों में तुक अथवा अन्त्यानुप्रास के द्वारा लय और संगीत का संचार पहली बार यहीं किया गया। अन्त्यानुप्रास का प्रयोग न तो संस्कृत काव्य में मिलता है और न प्राकृत में। अतः यह मरु-गुर्जर जैन साहित्य की परवर्ती भाषा साहित्य को महती देन है। जिस प्रकार श्लोक का सम्बन्ध संस्कृत से, गाथा या गाहा का प्राकृत से, उसी प्रकार दूहा या दोहा का सम्बन्ध अपभ्रंश से जाना जाता है। कहा जाता है कि दोहा, छन्द और अपभ्रंश भाषा आभीरों के साथ यहाँ आयी। अपभ्रंश से होकर दोहा, चौपाई, सोरठा, छप्पय आदि मान्त्रिक छन्द मरु-गुर्जर में आये। अतः मात्रिक छन्दों का हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं में अन्त्यानुप्रास के साथ प्रचुर प्रयोग मरु-गुर्जर का ही प्रभाव है।

काव्यरूप

काव्यरूपों की दृष्टि से जैन मरु-गुर्जर साहित्य बड़ा सम्पन्न एवं विविधतापूर्ण है। जैन कवियों ने लोक गीतों से देशी-धुनों और तर्जों को लेकर ढाले बनाई और उनके प्रयोग द्वारा उन्होंने काव्य को संगीत से समन्वित किया। मरु-गुर्जर जैन साहित्य में काव्य-रूपों की संख्या सैकड़ों हैं। इन्हें कई प्रकार से विभाजित किया जाता है। जैसे-- छन्दों के आधार पर रास, फागु, चउपड़, वेलि, चर्चरी, छप्पय, दोहा आदि; रागों की दृष्टि से बारहमासा, झूलणा, लावणी, बधावा, प्रभाती, गीत, पद आदि; नृत्य की दृष्टि से गरबा, डांडिया, धवल, मंगल आदि उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार कथा प्रबन्ध के आधार पर प्रबन्ध, खण्ड, पवाडो, चरित, आख्यान, कथा, संवाद, जन्मभिषेक आदि तथा संख्या के आधार पर अष्टक, बीसी, चौबीसी, बहोत्तरी, छत्तीसी, बावनी, सत्तरी, शतक आदि अनेक भेद मिलते हैं। उपासना के आधार पर भी नाना प्रकार के काव्यरूप मिलते हैं, जैसे -- विनती, नमस्कार, स्तुति, स्तवन, स्तोत्र आदि। इसी प्रकार ऐतिहासिकता के आधार पर पट्टावली, गुर्वावली, तलहरा आदि अनेक भेद उपलब्ध होते हैं। काव्यरूपों की ऐसी समृद्ध विविधता शायद ही किसी भाषा-साहित्य में उपलब्ध हो। यह सम्पूर्ण सम्पदा हिन्दी, गुजराती और राजस्थानी भाषा साहित्य को मरु-गुर्जर जैन साहित्य से अनायास प्राप्त हो गई है, जिसके लिए इनका साहित्य मरु-गुर्जर जैन साहित्य का सदैव आभारी रहेगा।

उपरोक्त दृष्टियों से विचार करने पर यह साहित्य अत्यन्त मूल्यवान और महत्त्वपूर्ण है, किन्तु इसका वास्तविक मूल्यांकन अभी तक नहीं हो सका है। जिसके कारण न केवल मरु-गुर्जर जैन साहित्य पूर्णतया प्रकाश में नहीं आ पाया, अपितु हिन्दी भाषा और साहित्य के अनेक महत्त्वपूर्ण पक्ष भी अंधेरे में रह गये हैं। उनके सम्बन्ध में जो अटकल-पट्टू अनुमान किए गये हैं, वे एक के बाद एक अप्रामाणिक सिद्ध होते जा रहे हैं। अतः आवश्यकता है कि हम अपनी भूल का परिमार्जन करें और लगन तथा ईमानदारी से इस विशाल एवं प्रामाणिक साहित्य के विविध पक्षों का विस्तृत एवं वैज्ञानिक अध्ययन करें।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. George Grierson, Linguistic Survey of India, Vol. I, p. 170
2. Dr. Suniti 'Chatterjee Origin and Development of Bengali Language', p. 9.
3. श्री मो. द. देसाई 'मरुगुर्जर कविओ', भाग 1, पृ. 14
4. आ. गुनेरी 'पुरानी हिन्दी', पृ. 76
5. अमरचन्द्र नाहटा, राजस्थानी साहित्य का आदिकाल (परम्परा विशेषांक), पृ. 167
6. There is enormous mass of Literature in various forms in Rajasthani of considerable historical importance. G.A. Grierson, Linguistic Survey of India, p.10.

* 3, महामनापुरी, आई.टी.आई. रोड, बी.एच.यू., वाराणसी

हिन्दी जैन पत्रकारिता का इतिहास एवं मूल्य

- डॉ. संजीव भानावत *

मनुष्य की जिज्ञासा और उत्सुकता की मूलभूत प्रवृत्ति की पत्रकारिता के जन्म और विकास का महत्त्वपूर्ण कारण है। अपने परिवेश के आस-पास घटित घटनाओं से परिचय प्राप्त करने की लालसा आज वृहत्तर सृष्टि तक जा पहुँची है। मनुष्य की इस जिज्ञासा प्रवृत्ति का ही यह परिणाम है कि सम्पूर्ण सृष्टि धीरे-धीरे एक मानव परिवार के रूप में परिणित होती जा रही है। समय के स्पन्दनों को महसूस करने की चाहत ने ही पत्रकारिता के फलक को जीवन्त और चेतनायुक्त बना दिया है।

"मस्तिष्क और आत्मा" की स्वाधीनता के नाम पर जेम्स हिव्की द्वारा 29 जून, 1780 को "बंगाल गजट" या कलकत्ता जनरल एडवर्टाईजर" नामक साप्ताहिक पत्र का प्रारम्भ किया गया। वस्तुतः इसी दिन से भारत में पत्रकारिता का विधिवत् प्रारम्भ माना जाता है। अल्पकाल तक जीवित इस पत्र ने दमन के विरुद्ध संघर्ष का जो साहस दिखाया, वह आने वाले काल में पत्रकारिता जगत के लिए आदर्श बन गया। इस पत्र के प्रकाशन के साथ भारत में पत्र-प्रकाशन की परम्परा शुरू हो गयी।

हिन्दी भाषा का पहला पत्र 30 मई, 1826 को कलकत्ता से प्रकाशित "उदन्त मार्तण्ड" था। इसके संपादक श्री युगल किशोर शुक्ल थे। इसके लगभग 54 वर्षों बाद सन् 1880 में प्रथम हिन्दी जैन पत्र का प्रकाशन हुआ था। जैन पत्रकारिता के प्रारम्भ होने से पूर्व देश के सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक जीवन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होने लगे थे। वर्षों की गुलामी से मुक्ति प्राप्त करने के लिए भारतीय जन मानस छटपटा रहा था।

पहला जैन पत्र

हिन्दी जैन पत्रों की विकास यात्रा का प्रारम्भ सन् 1880 में प्रयाग से प्रकाशित "जैन पत्रिका" से माना जाता है। श्री अमरचन्द्र नाहटा ने वैकटलाल ओझा द्वारा संपादित "हिन्दी समाचार पत्र सूची, भाग 1" के आधार पर इसे पहली जैन पत्रिका माना है।

अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ने "समाचार पत्रों का इतिहास" में भी सन् 1880 में प्रकाशित इस पत्रिका का उल्लेख किया है।² इसी भाँति डॉ. रामरतन भटनागर के शोध ग्रन्थ में दी गयी पत्रिकाओं की सूची से भी इस पत्रिका के प्रकाशन की सूचना मिलती है। अतः यह माना जा सकता है कि प्रयाग से सन् 1880 में प्रकाशित "जैन पत्रिका" हिन्दी भाषा की प्रथम जैन पत्रिका है।

काल-विभाजन

अध्ययन की सुविधा के लिए जैन पत्रकारिता के इतिहास को तीन खण्डों में विभाजित किया जा सकता है--

1. प्रथम युग - सन् 1880 से 1900
2. द्वितीय युग - सन् 1901 से 1947
3. तृतीय युग - सन् 1948 से आज तक

1. प्रथम युग (सन् 1880 से 1900)

जैन पत्रकारिता की इतिहास यात्रा के इन दो दशकों की पत्रकारिता में ऐसे तेवर देखने को नहीं मिलते, जिनसे प्रखर राष्ट्रीय भावना अथवा उत्कट सामाजिक सुधार की लालसा प्रकट होती हो। किन्तु जैन पत्रकारिता

का यह शैशवकाल भावी विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साबित हुआ। इन पत्रों का मुख्य उद्देश्य अपने धर्म व मतों का प्रचार-प्रसार तो था ही किन्तु सामाजिक जागरण की दिशा में भी ये पत्र सोचने लगे थे। "जैन गजट" तथा "जैन मित्र" जैसे पत्र जो आज भी प्रकाशित हो रहे हैं, इसी युग की देन हैं।

प्रथम जैन पत्र "जैन-पत्रिका" के बारे में विशेष विवरण उपलब्ध नहीं है। सन् 1884 में दो हिन्दी जैन पत्रों का प्रकाशन हुआ -- "जीयालाल प्रकाश" और "जैन"। "जीयालाल प्रकाश" का प्रकाशन फर्रुखनगर (हरियाणा) से हुआ। इन दोनों पत्रों का मुख्य उद्देश्य जैन मत का प्रचार-प्रसार करना था। जैनधर्म पर अन्य विचारधाराओं द्वारा किये जाने वाले प्रहार का विशेषकर स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा, इन पत्रों द्वारा विरोध किया गया।

इसी वर्ष शोलापुर से रावजी सखाराम दोशी, गोरालाल शास्त्री और पन्नालाल सोनी के सम्पादकत्व में हिन्दी, मराठी भाषा का पाक्षिक "जैन बोधक" प्रारम्भ हुआ। यह पत्र अखिल भारतीय दिगम्बर जैन शास्त्रीय परिषद् का पत्र था (सन् 1891 में अजमेर से "जैन प्रभाकर" का प्रकाशन हुआ, जिसका संपादन छोगालाल बिलाला करते थे)।

सन् 1892 में "जैन हितैषी" नामक मासिक पत्र मुरादाबाद से बाबू पन्नालाल ने निकाला।¹ पहले "देश हितैषी" सन् 1903 में पं. पन्नालाल बाकलीवाल ने प्रकाशित किया, जिसे सन् 1904 में "जैन हितैषी" के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। अतः "जैन हितैषी" का जन्म भी पं. पन्नालाल बाकलीवाल के ही सम्पादन एवं प्रबन्ध में हुआ। इसका प्रमुख उद्देश्य जैन संस्कृति एवं इतिहास विषयक अनुसंधान था। यह जैनों का पहला शोध मासिक था। इसने जगह-जगह पर प्राप्त जैनागम से सम्बद्ध प्राचीन हस्तलिखित अप्रकाशित पाण्डुलिपियों की सूची प्रकाशित की।²

बाबू पन्नालाल बाकलीवाल की "जैन हितैषी" पत्रिका हिन्दी और उर्दू लिपियों में निकलती थी। डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन के शब्दों में बाकलीवाल जैन जागरण के अग्रदूतों की प्रथम पंक्ति में थे। ... छापे के आन्दोलन को उन्होंने सफल बनाया, अनेक संस्थाओं की स्थापना की। "जैन हितैषी" का उन्होंने दस वर्ष तक सम्पादन किया।³ बाकलीवाल जी के बाद पं. नाथूराम प्रेमी इसके संपादक हुए। इनके कुशल सम्पादन में यह एक उत्कृष्ट साहित्यिक पत्र बन गया था। सामाजिक विषयों को भी इस पत्र में पर्याप्त स्थान दिया जाता रहा। यह पत्र वस्तुतः शोध एवं अनुसन्धानात्मक लेखों के प्रकाशन के कारण उस युग की "साहित्यिक प्रयोगशाला" का प्रथम एवं स्तरीय साहित्यिक पत्र बन गया था।

सन् 1891 में अजमेर से "जैन प्रभाकर" का प्रकाशन हुआ। इसके संपादक छोगालाल बिलाला थे। इसी समय बाबू ज्ञानचन्द्र जैनी ने "जैन पत्रिका" निकालनी शुरू की। बाबू ज्ञानचन्द्र बहुत ही साहसी और निर्भीक थे। जैन समाज में सबसे पहले शायद उन्होंने ही विधवा विवाह की चर्चा छेड़ी थी।⁴

इस समय साम्प्रदायिक और जातीय पत्रों के प्रकाशन का सिलसिला प्रारम्भ हो गया था। इसमें अनेक पत्रों का मूल स्वर सम्प्रदाय विशेष के विचारों का प्रसार करना ही रहा।

अजमेर से दिसम्बर 1895 में भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा ने साप्ताहिक "जैन गजट" का प्रकाशन प्रारम्भ किया। जैनधर्म व दर्शन से सम्बद्ध लेखों के प्रकाशन के साथ-साथ इसमें जैन समाज की गतिविधियों के समाचार भी प्रकाशित किये जाते थे। बाबू सूरजभान जैन के सम्पादन में प्रारम्भ हुए इस पत्र का मुख्य उद्देश्य दिगम्बर जैन महासभा की नीतियों का प्रचार-प्रसार करना था। इस पत्र ने भारत के जैन मतावलम्बियों को एक सूत्र में संगठित करने तथा उनको उन्नति के मार्ग पर अग्रसर करने की दिशा में भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया। श्री

घासीराम, बाबू देवकुमार, पं. वर्धमान शास्त्री एवं हरकचन्द सेठी इस पत्र के उल्लेखनीय संपादक रहे हैं। "जैन गजट" मुख्यतः परम्परावादी तथा स्थितिपालक नीति का पत्र है, जो हिन्दी के वर्तमान समाचार पत्रों में सबसे अधिक पुराना पत्र है। यह इस समय लखनऊ से प्रकाशित हो रहा है। इसके प्रधान संपादक पं. श्याम सुन्दरलाल शास्त्री हैं।

सन् 1897 में फर्रुखनगर से मासिक "जैन भास्कर" का प्रकाशन हुआ। जनवरी सन् 1900 में बम्बई से मासिक "जैन मित्र" का प्रकाशन हुआ। यह पत्र रायल अठपेजी साइज के सोलह पेजों पर निकलता था और डाक खर्च सहित सवा रुपया उसका वार्षिक मूल्य था। प्रारम्भ में यह पत्र दिगम्बर जैन सभा, बम्बई की ओर से निकलता था किन्तु एक वर्ष बाद यह प्रांतिक सभा का मुख पत्र बन गया।

"जैन मित्र" पं. गोपालदास बरैया के सम्पादन में प्रकाशित होता था। चौथे वर्ष से पं. नाथूराम प्रेमी भी इसके सहायक सम्पादक हो गये। सन् 1908 में इसके संपादन का भार शीतलप्रसाद जी पर आ गया। अठारहवें वर्ष से इस पत्र का प्रकाशन साप्ताहिक रूप से होने लगा। सन् 1917 में यह सूरत से छपने लगा।

"जैन मित्र" सदा सामाजिक बुराइयों का विरोधी रहा। साहित्य, दर्शन, शिक्षा, धर्म तत्त्वज्ञान सहित धार्मिक, आध्यात्मिक तथा सामाजिक विषयों पर इस पत्र में अनेक लेख प्रकाशित होते हैं। इसके सम्पादकीय प्रायः विचार प्रधान हुआ करते थे। स्वतन्त्रता पूर्व देश की राजनीतिक अवस्था पर "जैन मित्र" ने काफी लिखा।

"जैन मित्र" के संस्थापक मूलचन्द किन्सनदास कापड़िया थे। इनका चित्र आज भी "जैन मित्र" के प्रत्येक अंक पर प्रकाशित होता है। इस पत्र के सम्पादन से गोपालदास बरैया, पं. नाथूराम प्रेमी, ब्र. शीतलप्रसाद, पं. परमेश्वरदास आदि जुड़े रहे। वर्तमान में इसका सम्पादन शैलेश डाह्याभाई कापड़िया कर रहे हैं।

हिन्दी जैन पत्रकारिता का यह प्रथम युग शैशवकाल माना जा सकता है। यह वह समय था जब जैन पत्रकारिता अपनी विकास की सम्भावनाओं को खोज रही थी। राजा राममोहन राय से लेकर दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द, एनीबेसेन्ट आदि समाज सुधारकों के स्वर के साथ ही अपनी शैशवावस्था में जैन पत्रकारिता ने समाज की धड़कन को सुनने का प्रयत्न किया। इस दौर में बाबू पन्नालाल बाकलीवाल, पं. नाथूराम प्रेमी, जुगलकिशोर मुख्तार, बाबू ज्ञानचन्द आदि जैसे तेजस्वी व्यक्तियों ने "जैन हितैषी", "जैन पत्रिका", "जैन मित्र" आदि पत्रों के साथ समाज सुधार तथा जन-जागरण की दिशा में प्रयत्न करने प्रारम्भ कर दिये थे। इन जैन पत्रकारों ने शिक्षा-प्रचार, स्त्रियों की दशा में सुधार तथा सामाजिक संगठनों की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए सुधारवादी प्रवृत्तियों का प्रचार-प्रसार करने के लिए प्रयत्न किया।

द्वितीय युग (सन् 1901 से 1947 ई. तक)

जैन पत्रकारिता का दूसरा चरण सन् 1901 से 1947 तक माना जा सकता है। इस दौर में देश में स्वाधीनता आन्दोलन पूरे जोर पर था। तिलक और उसके बाद गाँधी ने देश की जनता को राजनैतिक अधिकारों से परिचित कराकर स्वतन्त्र भारत का स्वर्णिम स्वप्न दिखाया। इस काल के अधिकांश पत्र भारत की आजादी के संघर्ष के प्रति समर्पित थे। स्वतन्त्रता का शंखनाद करने वाले इन पत्रों की आजादी को प्रतिबन्धित करने का भी प्रयास समय-समय पर ब्रिटिश सरकार द्वारा किया जाता रहा, जिसका सशक्त विरोध भी इनके सम्पादकों और प्रकाशकों ने किया।

तिलक के बाद आजादी के संघर्ष की बागडोर गाँधीजी के हाथों में आ गयी। व्यावसायिक पत्रकारिता से दूर रहते हुए गाँधीजी ने सदा जनहित तथा मिशनरी भावना से कार्य किया। गाँधीजी ने अपनी लड़ाई का मुख्य आधार अहिंसा को बनाया। सामाजिक कुरीतियों और दूषित परम्पराओं के खिलाफ जहाँ गाँधीजी ने पत्रकारिता

के माध्यम से आवाज उठाई वहीं भारतमाता की परतन्त्रता की बेड़ियों को तोड़ने के लिए देश में चल रहे आन्दोलन को नेतृत्व दिया तथा सत्याग्रह, असहयोग और भारत छोड़ो आन्दोलन को सक्रियता प्रदान की।

आर्य समाज के इतिहासकारों ने इस युग को "संस्था युग" का नाम दिया है। जैन समाज की भी लगभग यही स्थिति रही। इस काल में अनेक जैन धार्मिक तथा सामाजिक संगठन स्थापित किये गये। इन संगठनों ने अपने मुख पत्रों का प्रकाशन किया। इस युग की जैन पत्रकारिता में तिलक की भौति तेजस्वी और प्रदीप्त स्वर तो देखने को नहीं मिलता किन्तु गांधी की अहिंसा की भावना को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। अहिंसा जैन दर्शन का मुख्य तत्त्व है। गांधीजी के कार्यक्रमों और नीतियों को अनेक जैन पत्रों ने अपना समर्थन दिया। इस कालखण्ड के प्रमुख जैन पत्र इस प्रकार हैं --

"स्थानकवासी जैनी भाइयों को धर्म, नीति, व्यवहार सवदाचार, बताने वाला मासिक "जैन हितेच्छु" बम्बई से अगस्त 1901 में प्रकाशित हुआ। इसके संपादक मोतीलाल मनसुखलाल शाह थे। ये "स्पेक्टेटर" उपनाम से लिखते थे। यह पत्र "विचार पत्र" अधिक था। लगभग ढाई वर्षों तक यह गुजराती भाषा में प्रकाशित होता रहा था किन्तु दक्षिण, पंजाब, मेवाड़, मारवाड़ आदि प्रदेशों के स्थानकवासी जैन भाइयों के लाभार्थ इसे हिन्दी में "हिन्दी जैन हितेच्छु" के नाम से प्रकाशित किया जाने लगा। इसी समय "जैन आदित्य" नामक पाक्षिक पत्र भी स्थानकवासी जैनियों ने प्रकाशित किया, जो आर्थिक संकट के कारण दो माह में ही बन्द हो गया।

सन् 1905 में गुलाबचन्द ढढ्ढा के संपादन में श्री जैन श्वेताम्बर कान्फरेंस प्रकाश आफिस, मुम्बई द्वारा मासिक "श्री जैन श्वेताम्बर कान्फरेंस हेरल्ड" का प्रकाशन किया गया। इस पत्र का प्रकाशन अंग्रेजी, हिन्दी तथा गुजराती भाषा में होता था। मार्च 1906 के बाद के अंकों में अधिकांश सामग्री गुजराती में प्रकाशित होने लगी थी।

सन् 1910 में जैन स्त्रियों के लिए देवबन्द सहारनपुर से "जैन नारीहितकारी" पत्र निकला, जिसके सम्पादक बा. ज्योतिप्रसाद थे। जनवरी 1912 में हिन्दी, गुजराती भाषा में "श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कान्फरेंस प्रकाश" का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। जुलाई 1912 में आरा (बिहार) से श्री जैन सिद्धान्त भवन ने अपना मुखपत्र "श्री जैन सिद्धान्त भास्कर" का प्रकाशन किया। इस त्रैमासिक पत्रिका के सम्पादक पदमराज रानीवाला थे। जैनधर्म और संस्कृति से सम्बन्धित शोध एवं गवेषणापूर्ण लेख इस त्रैमासिक पत्रिका में प्रकाशित होते हैं। इस पत्र ने सिर्फ प्राचीन सुरक्षित शास्त्रों की ऐतिहासिक चर्चा करने का संकल्प अपने प्रथम संपादकीय में व्यक्त किया। राजनैतिक तथा सामाजिक विषयों से यह पत्र दूर ही रहा। जून 1937 से अंग्रेजी विभाग "द जैन एंटीक्वेरी" नाम से प्रारम्भ हुआ।

"श्री जैन सिद्धान्त भास्कर" का प्रकाशन सन् 1913 से 1935 तथा 1956 से 1962 तक बन्द रहा। इसके संपादन से प्रो. हीरालाल, प्रो. ए.एन. उपाध्ये, बाबू कामताप्रसाद, पं. भुजबली शास्त्री, डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन आदि जुड़े रहे। द्वितीय महायुद्ध के समय घोर आर्थिक संकट के कारण दिसम्बर 1940 से इसे घट्मासिक कर दिया गया।

सन् 1913 में "जैन प्रकाश" साप्ताहिक का प्रकाशन हिन्दी-गुजराती भाषा में शुरू हुआ। यह अ.भा. श्वेताम्बर जैन कान्फरेंस का मुखपत्र है। सन् 1913 से 1936 तक यह पत्र साप्ताहिक रूप से नियमित निकलता रहा। जून 1937 से इसे पाक्षिक कर दिया गया। जनवरी 1938 से यह पुनः साप्ताहिक हो गया। 1941 में लिये गये एक निर्णय के अनुसार "जैन प्रकाश" को हिन्दी व गुजराती में एक साथ प्रकाशित न कर पृथक-पृथक रूप से प्रकाशित किया जाने लगा तथा प्रति सप्ताह इनकी एक-एक आवृत्ति इनिकाली जाने लगी। इस प्रकार पुनः यह पाक्षिक हो गया। सन् 1954 से पुनः हिन्दी व गुजराती भाषा में इसे संयुक्त रूप से साप्ताहिक किया गया, किन्तु कुछ समय बाद पुनः गुजराती व हिन्दी भाषा में इसके पृथक-पृथक अंक पाक्षिक रूप से प्रकाशित होने

लगे।

"जैन प्रकाश" प्रारम्भ में अजमेर से छपता था। बाद में यह सूरत से छपने लगा। "जैन प्रकाश" के आदि संपादक डॉ. धारसीभाई गुलाबचन्द संघाणी थे। इनके अतिरिक्त झवेरचन्दजादव कामदार, पं. बालमुकुन्द शर्मा, रतनलाल बथेलवाल, पं. दुखमोचनझा, दुर्गाप्रसाद जौहरी, सूरजमल लल्लूभाई जैन, त्रि.बी. हेमण्णी डाह्यालालमणिलाल मेहता, हर्षचन्दमफरचन्द दोशी, नटवरलालकपूरचन्द शाह, गुलाबचन्दनानचन्द सेठ, रमणिकलाल तुरखिया, एवं जे. देसाई, रत्नकुमार जैन "रत्नेश", शान्तिलालवनमाली सेठ, आनन्दराज सुराणा, डॉ. ए.पी. पटेरिया, रामानन्द जैन आदि भी इसके सम्पादन से जुड़े रहे। वर्तमान में इसका प्रकाशन अजितराज सुराणा के सम्पादन में दिल्ली से हो रहा है। गुजराती "जैन प्रकाश" का प्रकाशन बम्बई से हो रहा है।

सन् 1914 में बम्बई से मालवा दिगम्बर जैन प्रांतिक सभा का सचित्र मासिक मुख पत्र "जैन प्रभात" का प्रकाशन सूरजमल जैन के संपादन में हुआ। इसी वर्ष "जैन प्रदीप" के प्रकाशन के भी उल्लेख मिलते हैं। सन् 1915 में राधावल्लभ जसोदिया के सम्पादन में "खंडेलवाल जैन हितैषी" निकाला। इसी वर्ष बम्बई से "जैन हितेच्छु" नामक त्रैमासिक पत्र का प्रकाशन हुआ। सन् 1916 में हाथरस (उ.प्र.) से मिश्रीलाल सांगानी ने "जैन मार्तण्ड" नाम से हिन्दी मासिक प्रकाशित किया। अप्रैल 1917 को बम्बई से टेकचन्द सिंघी के संपादन में मासिक "जैनसमाज" का प्रकाशन हुआ। यह एक सुधारवादी पत्र था।

जोधपुर से जून 1918 में ओसवाल यंगमेन्स सोसायटी ने "मारवाड़ और ओसवाल" नाम से मासिक पत्र प्रकाशित करना प्रारम्भ किया था। बाद में इसका नाम ओसवाल हो गया। ओसवाल जाति की उन्नति के लिए समर्पित इस पत्र ने स्वयं को तत्कालीन राजनैतिक एवं धार्मिक विवादों से दूर रखा। जैन धर्मावलम्बियों की एक प्रशाखा खण्डेलवाल्लो का मुखपत्र "खण्डेलवाल जैन" गौतमपुरा (इन्दौर) से 1918 में प्रकाशित हुआ। इसी वर्ष इन्दौर से श्यामलाल पाण्डवीय के सम्पादन में जैनों की एक पत्रिका "जीवदया" निकली। सन् 1918 में ही आगरा से श्री महेन्द्र के सम्पादन में मासिक "जैसवाल जैन", श्री वीर भवन, आगरा से मासिक "जैन पथ प्रदर्शक", श्री वीरभक्त के संपादन में कलकत्ता से मासिक "पद्मावती पुरवाल" तथा इटावा से मासिक "सत्योदय" का प्रकाशन हुआ।

अप्रैल सन् 1902 में "जैन इतिहास, साहित्य, तत्त्व ज्ञान आदि विषयक" उद्देश्य को लेकर जैन साहित्य संशोधक समाज की ओर से मुनिराज श्री जिनविजय जी के संपादन में सचित्र त्रैमासिक पत्रिका "जैनसाहित्य संशोधक" का प्रकाशन पूना से हुआ। जैन धर्म, इतिहास, कला-संस्कृति तथा स्थापत्य आदि क्षेत्रों में शोध एवं अनुसंधान की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देने तथा आम पाठकों के समक्ष लाने का प्रयास "जैनसाहित्य संशोधक" ने किया। इस वर्ष प्रकाशित अन्य प्रमुख पत्र थे -- पूना सिटी से "महावीर", मंडीकटरा, सागर से मुन्नालालराधेलाल काव्यतीर्थ के संपादन में "गोलापूर्व जैन", सिवनी से कस्तूरचन्द वर्काल के संपादन में "परवार", दिल्ली से चाणसी गुलाबचन्द संघाणी के संपादन में "जैन जगत", नन्दबाई, इन्दौर से रतनलालबधेललाल जैन के संपादन में "जैन दिवाकर", दिल्ली से "जैन बन्धु" तथा सोलापुर (महाराष्ट्र) से पं. गौरीलाल शास्त्री के संपादन में "जैन सिद्धान्त"।

मई 1921 में सूरत से मासिक "जैन महिलादर्श" का प्रकाशन भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महिला परिषद की ओर से श्रीमती पंडिताचन्दाबाई, आरा के संपादन में किया गया। जैन समाज की नारियों में सामाजिक चेतना के जागरण और धार्मिक भावों के रफूण में इस पत्र की उल्लेखनीय भूमिका रही। नारी जाति के मनोबल को बनाये रखने में "जैन महिलादर्श" का विशेष सहयोग रहा। पं. चन्दाबाई 52वर्ष तक इस पत्र का संपादन करती रहीं। कालान्तर में इसका प्रकाशन स्थगित हो गया किन्तु सन् 1988 में महावीर जयन्ती के अवसर पर इसका

पुनः प्रकाशन भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा की ओर से लखनऊ से डॉ. कुसुमशाह के संपादन में किया जाने लगा है।

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद की ओर से बिजनौर में ब्र. शीतलप्रसाद के संपादन में सन् 1923 में पाक्षिक "वीर" का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया। शीघ्र ही इस पत्र के संपादन से पं. परमेष्ठीदास जैन का नाम जुड़ गया। इनकी संपादन कुशलता से "वीर" ने कुछ ही समय में युवा वर्ग में अपनी अच्छी पहचान कायम कर ली। यह पत्र सामाजिक विकृतियों का कटु आलोचक तथा नवीन चेतना का अग्रदूत बन गया। वर्तमान में इसका प्रकाशन दिल्ली से हो रहा है। इस वर्ष में प्रकाशित होने वाले पत्रों में प्रमुख हैं -- अजमेर से दुर्गाप्रसाद के संपादन में साप्ताहिक "अहिंसा प्रचारक", सोलापुर से पं. अजित कुमार शास्त्री के संपादन में मासिक "जैन प्रभादर्श", कलकत्ता से दुलीचन्द्र परवार के संपादन में मासिक "परवार हितैषी"। सन् 1924 में आबुरोड से "मारवाड़ जैनसुधारक" मासिक का प्रकाशन हुआ।

सन् 1925 में प्रकाशित पत्रों में "खण्डेलवाल जैनहितेच्छु", "जैन जगत", "प्यारी पत्रिका", "श्री मारवाड़ जैनसुधाकर", "हूमड बन्द्यु" तथा "श्वेताम्बर जैन" प्रमुख हैं। "खण्डेलवाल जैन हितेच्छु" साप्ताहिक पत्र "खण्डेलवाल जैन महासभा", अजमेर का मुखपत्र था, जो बाद में पाक्षिक हो गया और पं. नाथूलाल शास्त्री के संपादन में इन्दौर से प्रकाशित होने लगा। समाज सुधार तथा रुढ़ियों के विरुद्ध आवाज बुलन्द करने में इस पत्र ने विशेष भूमिका निभाई। इसी वर्ष कपूरचन्द पाटनी के संपादन में पाक्षिक "जैन जगत" का प्रकाशन फतहचन्द सेठी ने अजमेर से किया। इस पत्र में दरबारी लाल न्यायतीर्थ के क्रांतिकारी और तेजस्वी विचारों का प्रकाशन किया जाता था। सन् 1926 से पत्र का संपादन भार भी उन्हीं के कंधों पर आ गया। इनके संपादन स्पर्श के बाद तो यह पत्र तत्कालीन समाज का एक ऐसा प्रखर पत्र बन गया, जो दूषित परम्पराओं, रुढ़ियों और अंधविश्वासों पर कड़े प्रहार करता था। सन् 1934 में दरबारीलाल जी ने सत्यशोधक समाज की स्थापना की। सन् 1935 में उन्होंने "जैन जगत" को पाक्षिक "सत्य संदेश" के रूप में परिवर्तित कर दिया।

सन् 1927 में प्रकाशित पत्रों में दीपचन्द जैन के संपादन में दिल्ली से हिन्दी मासिक "वर्धमान" तथा पं. श्रीलाल के संपादन में कलकत्ता से हिन्दी मासिक "विनोद" थे। "आदर्श जैन चरित्र", "समन्तभद्र", "जैन युवक" तथा "ओसवाल-नवयुवक" सन् 1928 में प्रकाशित प्रमुख पत्रिकाएँ हैं। "आदर्श जैन-चरित्र" मासिक का प्रकाशन बिजनौर से पं. मूलचन्द वत्सल के संपादन में हुआ। सरसावा से इसी वर्ष पं. जुगलकिशोर मुख्तार के संपादन में "समन्तभद्र" मासिक का प्रकाशन शुरू हुआ, जो शीघ्र ही "अनेकान्त" में मिल गया। मार्च 1928 में मासिक "जैन युवक" का प्रकाशन कलकत्ता से श्री विजयसिंह भांडिया के संपादन में हुआ। यह पत्र जैन समाज में चेतना एवं ओजस्वी भावनाओं का प्रसार करने वाला पत्र था। समाज-सुधार, समाज संगठन, अहूतोद्धार, शुद्धि-संस्कार सम्बन्धी तथा राजनैतिक लेखों का प्रकाशन इस पत्र में होता था।

जनवरी 1928 में कलकत्ता से ओसवाल नवयुवक समिति ने मासिक "ओसवाल नवयुवक" का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इस मासिक का मूल स्वर सामाजिक सुधार था। सामाजिकता के साथ-साथ संपादकीय वक्तव्यों में राष्ट्रीय भावनाओं की भी झलक दिखाई देती थी। इस पत्र के संपादन से श्रीचन्द्ररामपुरिया, मोहनलाल, जेठमल भंजाली, मोतीलाल नाहटा, सिद्धराज ढढ्ढा, गोपीचन्द चोपड़ा, विजयसिंह नाहर तथा भंवरमल सिंघी जैसे प्रबुद्ध विचारक जुड़े रहे। स्वतंत्रतापूर्व के उस काल में विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर कोई समझौता न करने का सुन्दर उदाहरण इस पत्र के संपादकों-- श्री विजयसिंह नाहर तथा भंवरमल सिंघी ने प्रस्तुत किया। "साधुत्व" विषय पर प्रकाशित एक लेख पर हुई तीखी आलोचना पर जब पत्र संचालकों ने उन्हें भविष्य में ऐसे लेख न छापने की प्रतिज्ञा का आग्रह किया तो दोनों ने अपना त्यागपत्र दे दिया। इसी वर्ष रतनलाल मेहता के

संपादन में श्री उत्तमजैन साहित्य प्रकाशक मण्डल, उदयपुर की ओर से मासिक "जैन ज्ञान प्रकाश" का प्रकाशन हुआ।

21 अप्रैल, 1929 को पं. जुगलकिशोर मुख्तार ने देहली में समन्तभद्राश्रम की स्थापना की और दिसम्बर 1929 में मासिक "अनेकान्त" का प्रकाशन किया। एक वर्ष तक नियमित प्रकाशन बन्द हो गया और आठ वर्ष बाद पुनः प्रकाशन शुरू हो सका। आगामी कुछ वर्षों तक प्रकाशन की नियमितता में बाधाएँ आती रहीं। सन् 1956 से 1962 तक इसका प्रकाशन स्थगित रहा किन्तु उसके बाद से यह अनवरत रूप से प्रकाशित हो रहा है। सन् 1953 तक मुख्तार सा. ही इसका संपादन करते रहे। उसके बाद छोटेलाल जैन, जयभगवान जैन, परमानन्द शास्त्री, आदिनाथ नेमीनाथ उपाध्ये, रतनलाल कटारिया, डॉ. प्रेमसागर जैन, यशपाल जैन, गोकुलप्रसाद जैन आदि इसके संपादन से सम्बद्ध रहे। सामाजिक वाद-विवादों तथा सम्प्रदायवाद से रहित "अनेकान्त" एक ऐसा मासिक पत्र है, जो सत्य, शान्ति और लोकहित का संदेशवाहक बनकर जैन पत्र-पत्रिकाओं में प्रमुख स्थान रखता है। इतिहास, पुरातत्त्व, दर्शन, साहित्य आदि की यह एक प्रमुख शोधपूर्ण एवं आलोचनात्मक त्रैमासिकी है। इस पत्रिका के विकास में पं. जुगलकिशोर मुख्तार का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। "अनेकान्त" के माध्यम से मुख्तार सा. ने जैन पत्रकारिता के साहित्यिक व अनुसंधानात्मक पक्ष को अत्यधिक पुष्ट किया। डॉ. ज्योति प्रसाद जैन ने उन्हें जैन पत्रकारिता का "महावीर प्रसाद द्विवेदी बताया है।

वर्षा से 16 नवम्बर 1919 को पाक्षिक पत्र "सनातन जैन" का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। सामाजिक सुधारों की दृष्टि से यह पत्र उल्लेखनीय है। शीतलप्रसाद जी के संपादन में इस पत्र ने बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह सहित अनेक सामाजिक कुरीतियों का तीखा विरोध किया।

हिन्दी मासिक "वीरवाणी" का प्रकाशन सन् 1929 में दुलीचन्द परवार के संपादन में कलकत्ता से हुआ। सन् 1930 में आत्मानन्द जैन महासभा की ओर से अम्बाला नगर से श्री कीर्तिप्रसाद जैन के सम्पादन में मासिक "आत्मानन्द" का प्रकाशन किया गया। यह सामाजिक-सांस्कृतिक और नैतिक विचारों की प्रमुख पत्रिका थी। सन् 1932 में ललितपुर (उ.प्र.) से मासिक "सिद्धि" का प्रकाशन रा. वै. सिद्धसागर के संपादन में तथा जयपुर से रायसाहब केसरमल अजमेरा के संपादन में मासिक "सुधारक" का प्रकाशन हुआ।

सन् 1914 में प्रकाशित मालवा दि. जैन प्रांतिक सभा के मुखपत्र मासिक "जैन प्रभात" का पुनः प्रकाशन मई, 1933 में श्री दि. जैन मालवा प्रांतिक सभाश्रित औषधालय, बडनगर (उज्जैन) द्वारा किया गया। इसके संपादक लाला भगवानदास थे। इसी वर्ष जुलाई में मुल्तान से पाक्षिक "जैन दर्शन" शुरू किया गया, जो पं. चैनसुखदास जैन के संपादन में प्रकाशित होता था। यह श्री भारतवर्षीय दि. जैन शास्त्रार्थ संघ का मुखपत्र था।

बिजनौर से अगस्त 1933 में श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रार्थ परिषद् का मुखपत्र "जैन दर्शन" पाक्षिक का प्रकाशन शुरू हुआ। 2 जुलाई 1934 में आगरा से चौदमल चौरसिया और सूर्यवर्मा के संपादन में "ओसवाल सुधारक संगठन" नाम से पाक्षिक पत्र का प्रकाशन किया गया। एक वर्ष बाद इसका नाम "ओसवाल सुधारक" कर दिया गया। यह पत्र प्रगतिशील चेतना का प्रतीक था। फरवरी 1935 में जैन शिक्षण परिषद्, ब्यावर ने ब्यावर के श्री जैन गुरुकुल से हिन्दी मासिक "जैन शिक्षण संदेश" का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इसके संपादक शोभाचन्द्र भारिल्ल और शातिलाल वनमाली सेठ थे। यह पत्र "शिक्षण संस्थाओं का सखा तथा माता-पिताओं का मार्गदर्शक" था। "शिक्षा, शिक्षक और शाला" से सम्बन्धित इस पत्रिका ने बच्चों को सद्मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी तथा उन्हें बुराई से बचने का भी संदेश दिया। इसी वर्ष कलकत्ता से पाक्षिक "जैन बच्चा" का प्रकाशन पं. चैनसुखदास के संपादन में प्रारम्भ हुआ। यह पत्र कलकत्ता के पाक्षिक स्वतन्त्र सामाजिक पत्र के रूप में प्रसिद्ध हुआ, जो प्रखर सामाजिक चेतना का पत्र बना। भंवरलाल न्यायतीर्थ भी इसके संपादन से बाद में जुड़ गये। सन्

1935 में ही नागपुर से पाक्षिक "तारणपंथ" तथा अजमेर से सुजानमल सोनी के संपादन में "चन्द्रसागर" का प्रकाशन हुआ।

10 मई 1936 को आगरा से "वीर संदेश" पाक्षिक का प्रकाशन जवाहरलाल लोढ़ा के संपादन में हुआ। 10 अप्रैल 1936 में अजमेर से राजमल लोढ़ा के संपादन में "जैन ध्वज" का प्रकाशन हुआ। भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ की ओर से मई 1937 में साप्ताहिक "जैन संदेश" का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इसके आदि संपादक कपूरचन्द जैन थे। सन् 1958 में शोध सामग्री युक्त त्रैमासिक "शोधांक" भी इस पत्र के साथ प्रकाशित होना शुरू हुआ। शोधांक का प्रकाशन सन् 1981 तक डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन के संपादन में होता रहा। इसी वर्ष "शान्ति सिन्धु" नामक पाक्षिक पत्र का प्रकाशन हुआ। सन् 1938 में प्रकाशित पत्रिकाओं में अ.भा.दि. जैन परिवार सभा का मासिक "परिवार बन्धु", अ.भा. तारणपंथी नवयुवक मण्डल का मासिक "तारणबन्धु" आदि प्रमुख हैं।

सन् 1939 में "जैन भारती" का प्रकाशन कलकत्ता से शुरू हुआ। श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा के इस मासिक मुखपत्र तथा साप्ताहिक विवरण पत्रिका का प्रकाशन जनवरी 1952 से बन्द कर दिया गया था तथा इनके स्थान पर -- "जैन भारती" साप्ताहिक का प्रकाशन 5 फरवरी, 1953 में श्रीचन्द रामपुरिया के संपादन में शुरू हुआ। वर्तमान में इसका प्रकाशन कु. हंसा दस्ताणी के संपादन में कलकत्ता से हो रहा है। विजयसिंह नाहर तथा भंवरमल सिंघी ने जनवरी 1940 में "तरुण ओसवाल" का प्रारम्भ कलकत्ता से किया। यह सामाजिक सुधारों तथा क्रांति व संघर्ष के प्रदीप्त स्वर्णों से युक्त प्रखर पत्र था। एक वर्ष बाद यही पत्र "तरुण जैन" के नाम से प्रकाशित होने लगा। इसी वर्ष ठाकुर प्रभुदयाल जैन के संपादन में भिण्ड, ग्वालियर से मासिक "खण्डेलवाल जैन हितैषी" प्रकाशित हुआ। चिमनसिंह लोढ़ा ने 1940 में ही पाक्षिक "इलक" का प्रकाशन किया।

सन् 1942 में इन्दौर से बाबू अमोलकचन्द सिंघवी के सम्पादन में "मंगल" का प्रकाशन हुआ। जनवरी 1943 में आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा. की प्रेरणा से श्री रत्न विद्यालय, भोपालगढ़ (जोधपुर) द्वारा फूलचन्द जैन सारंग "विद्यालंकार" के संपादन में इतिहास, संस्कृति और धर्म की मासिकी "जिनवाणी" का प्रकाशन हुआ। वर्तमान में यह पत्रिका डॉ. नरेन्द्र भानावत के संपादन में जयपुर से प्रकाशित हो रही है, जिसमें धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक और साहित्यिक धरातल से आध्यात्मिक नवचेतना को जागृत करने वाली सामग्री प्रकाशित की जाती है। इस पत्रिका के संपादन-दायित्व से बसन्त कुमार जैन, शशिकान्त झा, पं. रत्नकुमार जैन "रत्नेश", केसरीकिशोर "केशव", प्रकाशचन्द्र बोथरा, शान्तिचन्द मेहता, लालचन्द जैन, मिट्ठालाल मुरडिया, मदन लाल जैन, पारसमल प्रसून, जिनेन्द्र कुमार जैन, जतनराज मेहता, डॉ. शान्ता भानावत आदि जुड़े रहे। अजमेर से इसी वर्ष प्रकाशमल जैन के संपादन में त्रैमासिक "जैन ज्योति" का प्रकाशन हुआ। 6 अप्रैल 1944 में विजय मोहन जैन के संपादन में मासिक सूचना पत्र "वीर लोकाशाह का प्रकाशन शुरू किया गया।

मई 1945 में आत्मधर्म कार्यालय (सुवर्णपुरी) सोनगढ़-काठियावाड़ से हिन्दी मासिक "आत्मधर्म" का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। यह श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र) का मुखपत्र है। यह पत्र कानजी स्वामी के मांगलिक प्रवचनों को प्रमुखता से प्रकाशित करता रहा है। इसके आदि संपादक रामजीभाईमाणकचन्द दोशी थे। सन् 1976 से इस पत्र की मुद्रण व्यवस्था जयपुर से होने लगी। किन्तु 1983 में पुनः सोनगढ़ से प्रकाशित होने लगा।

अप्रैल 1947 को वर्धा से श्री भारत जैन महामण्डल के मुखपत्र "जैन जगत" का प्रकाशन हुआ। इसके प्रकाशक तथा संपादक हीरासाब चवड़े थे। वर्तमान में इसका प्रकाशन चन्दनमल चौद के संपादन में बम्बई से हो

रहा है। इस पत्र के संपादन से रिषभदास रांका, जमनालाल जैन, अगरचन्द नाहटा, धीरजलालधनजीभाईशाह, शंकर जैन, रतन पहाडी, रतनलाल जोशी आदि जुड़े रहे। "जैन जगत" सामाजिक चेतना का प्रमुख पत्र है। श्री वीर प्रेस, जयपुर पं. चैनसुखदास न्यायतीर्थ एवं भंवरलाल न्यायतीर्थ के संपादन में पाक्षिक "वीरवाणी" का प्रकाशन अप्रैल, 1947 में हुआ। वर्तमान में इसका प्रकाशन भंवरलालजैन न्यायतीर्थ तथा डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल के संपादन में हो रहा है। श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, श्री महावीरजी (जयपुर स्टेट) के सचित्र पाक्षिक मुखपत्र "महावीर संदेश" 25 मई 1947 से प्रारम्भ हुआ। धार्मिक पत्र होते हुए भी यह मानव कल्याण के प्रति समर्पित था। 15 अगस्त 1947 को सागर से पं. पन्नलाल साहित्याचार्य के संपादन में मासिक "जैन प्रकाश" का प्रकाशन हुआ।

भारत की स्वाधीनता के साथ हिन्दी जैन पत्रकारिता के दूसरे युग का इतिहास पूरा हो जाता है। हिन्दी जैन पत्रकारिता के प्रथम युग में हम जिस सामाजिक चेतना के दर्शन करते हैं वह अत्यन्त प्रखरता के साथ दूसरे युग में उभरती है। वृद्ध-विवाह, बाल-विवाह, कन्या-विक्रय आदि कुरीतियों का तीखा विरोध इस युग की विशेषता है।

यह काल-खण्ड जैन पत्रकारिता के युवावस्था का काल माना जा सकता है। यह वह समय था जब देश में राजनैतिक आन्दोलन पूरे जोर पर था। सर्वत्र पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग की जा रही थी। ऐसे कठिन समय में जैन पत्रकारिता ने धार्मिक-सामाजिक सुधारों के साथ-साथ गांधीजी की अहिंसात्मक लड़ाई को अपना नैतिक एवं रचनात्मक समर्थन दिया।

तृतीय युग (सन् 1948 से आज तक)

जैन पत्रकारिता का तीसरा युग सन् 1948 से आज तक माना जा सकता है। इस काल में देश राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र था। अब हमें अपने स्वप्नों का भारत बनाना था। नव-निर्माण के इस महायज्ञ में पत्र-पत्रिकाओं ने भी हिस्सा बँटाया। इस युग के प्रमुख पत्र इस प्रकार हैं --

जनवरी 1948 में कलकत्ता से पुरातत्त्व विशेषज्ञ मुनिश्री कांतिसागर के संपादन में "नव निर्माण", आगरा से हजारीमल जैन के संपादन में "पंकज", जोधपुर से साप्ताहिक "अहिंसा", कलकत्ता से साप्ताहिक "जनपथ" आदि इस युग के कुछ प्रारम्भिक प्रमुख पत्र थे।

जनवरी 1949 में हिंसा के विरुद्ध आवाज बुलन्द करने वाला "हिंसा विरोध" का प्रकाशन अहमदाबाद से हुआ। भारतीय ज्ञानपीठ, काशी ने 9 जुलाई 1948 को मासिक "ज्ञानोदय" का प्रकाशन कलकत्ता-दिल्ली से क्रमशः किया। प्रारम्भ में यह पत्रिका श्रमण संस्कृति की प्रमुख पत्रिका थी। लगभग चार वर्षों तक "ज्ञानोदय" का स्वरूप जैन वाङ्मय के शोध-अनुसंधान पर विशेष केन्द्रित रहा। नवम्बर 1949 में ही अ.भा. श्री शान्तिवीर दि. जैन सिद्धान्त संरक्षणी सभा के साप्ताहिक मुखपत्र "जैन दर्शन" का प्रकाशन शुरू हुआ।

जनवरी 1950 में अलीगंज (एटा) से कामताप्रसाद जैन के संपादन में "अहिंसा-वाणी" का प्रकाशन हुआ। जनवरी में ही सैलाना (म.प्र.) से मासिक "सम्यक् दर्शन" का प्रकाशन रतनलाल दोशी के संपादन में हुआ। "जिनवाणी" के मई 1950 के अंक से कोटा से दैनिक "निर्भिक" के प्रकाशन की सूचना मिलती है।

सन् 1951 में श्री महावीरजी में स्व. कृष्णाबाई ने श्री दि. जैन मुमुक्षु महिलाश्रम के मुखपत्र "महिला जागरण" की स्थापना की। सन् 1952 में स्व. बाबू पद्मसिंह जैन ने जोधपुर में "तरुण जैन" नाम से साप्ताहिक पत्र प्रारम्भ किया। यह पत्र अखिल भारतवर्षीय श्वे.स्था. जैन समाज का साप्ताहिक मुखपत्र है। इसी वर्ष जयपुर से इन्द्रलाल शास्त्री ने पाक्षिक "अहिंसा" का प्रकाशन किया। सन् 1952 में निम्बाहेडा से स्व. श्रीमद्विजयतीन्द्र सूरेश्वर जी की प्रेरणा एवं भावना से मासिक "शाश्वत धर्म" का प्रकाशन हुआ। वर्तमान में

इसका प्रकाशन पुणे (महाराष्ट्र) से हो रहा है। सन् 1954 में अजमेर से "जैन कल्याण" मासिक प्रकाशित हुआ।

सन् 1951 में "अणुव्रत" तथा "सन्मति संदेश" का प्रकाशन हुआ। "अणुव्रत" आचार्य तुलसी के आदर्शों की अनुपालना करते हुए अहिंसा प्रधान समाज रचना तथा नैतिक जागरण के लिए अणुव्रत अभियान का मुखपत्र है। वर्तमान में इसका प्रकाशन धरमचन्द चोपड़ा के संपादन में नई दिल्ली से हो रहा है। जनवरी 1955 में दिल्ली से मासिक "सन्मति संदेश" का प्रकाशन हुआ। इसके संपादक पं. प्रकाशहितैषी शास्त्री हैं। इसी वर्ष बीकानेर से "अभय संदेश" का प्रकाशन किया गया। बीकानेर से ही "जैन आवाज" का प्रकाशन 1955 के अन्त में प्रारम्भ हुआ।

सन् 1956 में अंबाला शहर से श्री आत्मानन्द जैन महासभा के मासिक मुखपत्र "विजयानन्द" का प्रकाशन हुआ, जो कालान्तर में लुधियाना से प्रकाशित होने लगा। इस पत्र के आदि संपादक प्रो. पृथ्वीराज जैन थे। इस वर्ष के अन्य प्रमुख पत्र थे -- "जैसवाल जैन", "बन्धु", "मरुधर", "केसरी" तथा "सुमति"। श्री जैन सभा, कलकत्ता की ओर से पन्नालाल नाहटा के संपादन में साप्ताहिक जैन का प्रकाशन 1958 में किया गया। 1958 में ही भारतवर्षीय वर्णी जैन साहित्य मन्दिर, मुजफ्फरनगर की ओर से मासिक "वर्णी प्रवचन" का प्रकाशन किया गया। 15 अगस्त 1959 को अहमदनगर से मासिक "सुधर्मा" का प्रकाशन किया गया। आचार्य आनन्द ऋषि जी की प्रेरणा से संस्थापित श्री तिलोकरत्न स्था. जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड की यह मासिक मुख पत्रिका है। इस पत्रिका के संस्थापक शाह केशवजी जवेरचन्द थे। वर्तमान में यह पं. चन्द्रभूषण मणि त्रिपाठी के संपादन में प्रकाशित हो रही है। 1959 में दिल्ली से "विश्वधर्म" मासिक का प्रकाशन हुआ। 1961 में फिरोजाबाद से "जैन जागरण" तथा 1962 में जयपुर से "जैन संगम" का प्रकाशन हुआ।

राजस्थान जैन सभा, जयपुर ने सन् 1962 में महावीर जयन्ती के अवसर पर वार्षिक "महावीर जयन्ती स्मारिका" का प्रकाशन आरम्भ किया। इस स्मारिका में जैन साहित्य, संस्कृति, इतिहास, पुरातत्व व सिद्धान्त आदि विषयों पर महत्त्वपूर्ण गवेषणापूर्ण आलेख प्रकाशित होते हैं। सन् 1963 में प्रकाशित पत्रों में "श्रमणोपासक" श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन संघ का पाक्षिक मुखपत्र है जो वर्तमान में जुगराज सेठिया तथा डॉ. शान्ता भानावत के संपादन में बीकानेर से प्रकाशित होता है। "श्री अमर भारती" का प्रकाशन सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा से पाक्षिक रूप से शुरू हुआ था, जो 1965 से मासिक हो गयी है। कालान्तर में इसका प्रकाशन वीरायतन, राजगृह से होने लगा। यह पत्रिका मुख्य रूप से कवि श्री उपाध्याय अमर मुनि के क्रान्तिकारी विचारों की तेजस्वी पत्रिका है।

सन् 1964 में अजमेर से "ओसवाल समाज" का प्रकाशन हुआ। जून 1964 को बाड़मेर जिले के बालोतरा गाँव से "श्री नाकोडा अधिष्ठायक भैरव" नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन किया गया। सन् 1965 में जनवरी माह में "सत्यार्थ" तथा "धर्मवाणी" मासिक पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ। फरवरी 1966 में अजमेर से "जैन बालक" मासिक पत्रिका का प्रकाशन हुआ। 23 जनवरी सन् 1967 को रांची से श्री जिनेन्द्र कुमार जैन के संपादन में साप्ताहिक "जैन जागरण" का प्रकाशन हुआ। इसी वर्ष पाक्षिक "करुणा दीप" एटा से प्रकाशित हुई।

सन् 1968 में प्रकाशित जैन पत्रिकाओं में "धर्मज्योति" तथा "कथालोक" प्रमुख पत्र हैं। "धर्म ज्योति" का प्रकाशन जनवरी माह में भीलवाड़ा से पाक्षिक रूप में किया गया। कालान्तर में यह मासिक हो गयी। यह धर्म ज्योति परिषद् की मुख पत्रिका है। कथाओं के माध्यम से धार्मिक सांस्कृतिक चेतना को जागृत करने के उद्देश्य से मुनि जी श्री महेन्द्र कुमार "प्रथम" की प्रेरणा से जयपुर से महेन्द्र जैन के संपादन में मासिक "कथालोक" का प्रकाशन अगस्त 1968 में प्रारम्भ किया गया। नीति कथाओं तथा प्रादेशिक लोक कथाओं के माध्यम से यह पत्र भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल पक्ष को प्रकट कर रहा है। वर्तमान में "कथालोक" का प्रकाशन दिल्ली से

हर्षचन्द्र के सम्पादन में हो रहा है। सन् 1969 में प्रकाशित पत्रों में लुधियाना से साप्ताहिक "आर्य संस्कार", उदयपुर से मासिक "महावीर नन्दन", जोधपुर से मासिक "ओसवाल हितैषी" आदि प्रमुख हैं। सन् 1970 में आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना की ओर से मासिक "आत्म रश्मि" का प्रकाशन हुआ। इसी वर्ष दिगम्बर जैन संस्कृति सेवक समाज, दिल्ली की ओर से मासिक "जैन संस्कृति" का प्रकाशन किया गया। इसका प्रकाशन मथुरा से होता था। अप्रैल 1970 में ही "जैन दर्पण" का प्रकाशन जयपुर से हुआ। फिरोजाबाद से "पद्मावती संदेश" तथा जोधपुर से "जैन शासन" का प्रकाशन भी इसी वर्ष में हुआ।

15 मई 1971 से इन्दौर से डॉ. नेमीचन्द्र जैन के सम्पादन में "तीर्थकर" मासिक का प्रकाशन शुरू हुआ। "तीर्थकर" वस्तुतः एक विचार मासिक है, जिसका प्रकाशन "विकृतियों से विचार के स्तर पर जूझने और मनुष्य को मनुष्य के रूप में प्रतिष्ठित किये जाने की स्वाभाविक सम्भावनाओं को दूढ़ निकालने के प्रयत्न के संकल्प के साथ हुआ। फरवरी 1971 में अ.भा. दिगम्बर जैन समिति, दिल्ली में परसादी लाल पाटनी के संपादन में "2500वाँ निर्वाण महोत्सव बुलेटिन" प्रकाशित हुआ। बाद में इसका प्रकाशन मेरठ से दिगम्बर जैन महासमिति "बुलेटिन" के नाम से होने लगा। इसके संपादक अक्षय कुमार जैन हो गये। वर्तमान में यह पत्रिका "दिगम्बर जैन महासमिति पत्रिका" के नाम से पाक्षिक रूप से जयपुर से फूलचन्द्र जैन के संपादन में प्रकाशित होती है।

सन् 1971 में इन्दौर से मासिक "सन्मति वाणी" का प्रकाशन किया गया, सन् 1972 में बीकानेर से "अणुवीक्षक" साप्ताहिक का प्रकाशन हुआ। 1972 में ही धार्मिक पाक्षिक पत्रिका "शांतिज्योति" का प्रकाशन जोधपुर से हुआ। इसी वर्ष दिसम्बर माह में जयपुर से रामरतन कोचर के संपादन में मासिक "वल्लभ संदेश" का प्रकाशन हुआ। यह पत्र जैनाचार्य वल्लभ विजयजी द्वारा प्रतिपादित समन्वय व सर्वधर्म समभाव की भावना लेकर प्रकाशित किया जा रहा है। वर्तमान में इसके संपादक विमल चन्द्रकोचर हैं।

सन् 1923 में मेवाड़ कान्फरेंस का प्रकाशन किया गया। सितम्बर 1973 में अ.भा. तेरापथ युवक परिषद्, लाडनू ने कमलेश चतुर्वेदी तथा विजयसिंह कोठारी के संपादन में मासिक "युवालोक" का प्रकाशन किया। बाद में इसका नाम "युवादृष्टि" हो गया। वर्तमान में इसका प्रकाशन गंगाशहर (बीकानेर) से कमलेश चतुर्वेदी के संपादन में हो रहा है। जनवरी सन् 1973 में जैन विश्व भारती, लाडनू की त्रैमासिक पत्रिका "अनुसंधान पत्रिका" का प्रकाशन हुआ। इसके प्रधान संपादक डॉ. महावीरराज गेलड़ा तथा संपादक रमेश जैन थे। जनवरी 1975 में इसका नाम "तुलसी प्रज्ञा" हो गया। वर्तमान में यह लाडनू से डॉ. नथमल टाटिया के संपादन में प्रकाशित हो रही है। इसमें शोध एवं चिन्तन प्रधान लेखों की प्रधानता होती है। इसमें अंग्रेजी भाषा के लेखों का भी प्रकाशन किया जाता है।

सन् 1973 में "युगवीर" मासिक का प्रकाशन पटना से हुआ। इसी वर्ष दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान के मुखपत्र "सम्यक् ज्ञान" का प्रकाशन हस्तिनापुर (मेरठ) से हुआ। सन् 1974 में दिल्ली से "विश्व धर्म" मासिक, कलकत्ता से पाक्षिक, "मंगलज्योति", हैदराबाद से "जैन सेवा संघ संदेश", गोहाटी से "पार्षद", दिल्ली से साप्ताहिक "महावीर मिशन", मासिक "वर्धमान", लखनऊ से मासिक "ज्ञानकीर्ति", सागर से मासिक "ज्ञान मंजूषा", गिरडीह से मासिक "पारसवाणी" आदि पत्रों के प्रकाशन हुए। जून 1974 में ही भगवान महावीर 2500वें निर्वाण महासमिति के मासिक प्रकाशन के रूप में दिल्ली से "वीर परिनिर्वाण" पत्रिका प्रकाशित हुई। इसके प्रधान संपादक अक्षयकुमार जैन थे।

जनवरी 1975 में प्रकाशजैन बांठिया के संपादन में मासिक "विश्वेश्वरमहावीर" का प्रकाशन जोधपुर से हुआ। मार्च 1975 में आचार्य श्री हस्तीमल जी. म. की प्रेरणा से श्री महावीर जैन श्राविका समिति, जोधपुर की ओर से मासिक "वीर-उपासिका" का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इसकी प्रथम संपादिका श्रीमती रतन चौरड़िया थीं।

वर्तमान में यह पत्रिका डॉ. नरेन्द्र भानावत तथा श्रीमती सुशीला भंडारी के संपादन में मद्रास से प्रकाशित हो रही है। सन् 1975 में ही माण्डोलीनगर (जालोर) से श्री शान्तिसेवा संघ की ओर से पाक्षिक "शान्ति ज्योति" का प्रकाशन हुआ।

1975 में ही इन्दौर से "जैन समाज के रीति रिवाज", बंगलौर से "समता संदेश", दिल्ली से "अपरिग्रह" आदि मासिक पत्रों का प्रकाशन हुआ। नवम्बर 1975 से फरवरी 1976 तक जोधपुर से "विश्व कल्याण" का प्रकाशन हुआ, जो कालान्तर में "अरिहन्त" से मिल गया। अब यह मेहसाणा (गुजरात) से छपता है।

अक्टूबर 1976 में आगरा से श्रीमती उषारानी लोढ़ा के संपादन में मासिक "श्रमण भारती" का प्रकाशन हुआ। सन् 1983 में मासिक "श्रमण भारती" के साथ-साथ साप्ताहिक "श्रमण भारती" का भी प्रकाशन श्रीमती लोढ़ा के संपादन में होने लगा। अक्टूबर 1976 में ही जैन दिवाकर श्री चौधमल जी म.सा. के शताब्दी वर्ष में जैन दिवाकर नवयुवक मण्डल, रतलाम से मासिक "जैन दिवाकर" का प्रकाशन किया गया। जे.एम. दस्तानी के संपादन में दिल्ली से इसी वर्ष तेरापन्थी समाज का पाक्षिक पत्र "तेरापन्थी" प्रारम्भ हुआ।

चंडीगढ़ से जनवरी 1977 में "युवा स्तम्भ" का प्रकाशन किया गया। जनवरी 1977 में ही दिल्ली से "समन्वय संदेश" नामक त्रैमासिक शुरू हुआ। मार्च 1977 में अ.भा.जय गुंजार प्रकाशन समिति ने ब्यावर से "जय गुंजार" मासिक का प्रकाशन किया। वर्तमान में डॉ. तेजसिंह गौड़ इसके संपादक हैं। अप्रैल 1977 में विदिशा (म.प्र.) से पं. रतनचन्द भारिल्ल के सम्पादन में "जैन पथ प्रदर्शक" समिति की ओर से पाक्षिक "जैन पथ प्रदर्शक" का प्रकाशन किया गया। अगस्त 79 से इसका प्रकाशन जयपुर से हो रहा है। मई 1977 में मासिक पत्र "तित्थर" का प्रकाशन कलकत्ता से हुआ। इसके संपादक गणेश लल्लवानी तथा राजकुमारी बेगानी हैं। इसी वर्ष पाक्षिक "तेरापन्थ भारती" का प्रकाशन कलकत्ता से हुआ। जुलाई 1977 में श्री सुधर्म प्रचारक मण्डल, जोधपुर की ओर से मासिक "सुधर्म प्रवचन" का प्रकाशन हुआ। सितम्बर 1977 में धार (म.प्र.) से "ओसवाल जैन" का प्रकाशन हुआ। इस वर्ष के अन्य प्रमुख पत्र थे -- "सुशील समाचार", "जैन एकता" (जालंधर), "बंधन तोड़ी" (उदयपुर), "समाचार पत्रक" (कलकत्ता) तथा "तारण बन्धु" (भोपाल)।

जनवरी 1978 में रायपुर से "जैन श्री" मासिक का प्रारम्भ हुआ। फरवरी 1978 में बामनिया (म.प्र.) से मासिक "श्री राजेन्द्र विद्याप्रकाश" का प्रकाशन किया गया। 15 अगस्त 1978 को बाडमेर से भूरचन्द जैन की प्रेरणा से प्रकाशचन्द बोहरा के सम्पादन में "जैन तीर्थकर" नामक पाक्षिक पत्रिका का प्रकाशन हुआ। सन् 1979 में उदयपुर से पाक्षिक "जगत वल्लभ" तथा "सम्यक् बोध" का प्रकाशन हुआ। जून 1979 को बंगलौर से अ.भा. अहिंसा प्रचार संघ की ओर से मासिक "अहिंसा दर्शन" का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया। इस पत्रिका के संपादक एस. श्री कष्टूर्मूर्ति हैं। इसी वर्ष महावीर मित्र मण्डल, रायपुर की ओर "मित्रमहावीर" का प्रकाशन हुआ। 1979 में ही सादड़ी (मारवाड़) से मोहन कुमार पूनमिया के संपादन में साप्ताहिक "मुनिघोष" का प्रकाशन किया गया। सन् 1985 में यह पाक्षिक हो गया।

सन् 1980 में कलकत्ता से "तेरापन्थ प्रकाश" का प्रकाशन हुआ। इसी वर्ष रतलाम से मासिक "जैनमणी" प्रकाशित हुई, जिसका नाम "जैन नवोदय" कर दिया गया। जून 1980 में मद्रास से "विचक्षण ज्योति" नामक साप्ताहिक पत्रिका प्रारम्भ की गयी। तुलसी अध्यात्म नौडम्, लाडनू की मुख पत्रिका "प्रेक्षाध्यान" का प्रकाशन भी इसी वर्ष हुआ। सन् 1980 में सोनागिर (दतिया) से "स्यादवाद ज्ञान गंगा" का प्रकाशन किया गया। मार्च 1981 में बुन्देलखण्ड से "वीतराग वाणी" का प्रकाशन हुआ। अप्रैल 1981 में बम्बई से सावित्री कोचर के संपादन में ओसवाल मित्र मण्डल की त्रैमासिकी "ओसवाल जगत" प्रकाशित हुई। 5 अप्रैल 1981 को जयपुर से अखिल बंसल के संपादन में "समन्वय वाणी" का प्रकाशन हुआ। अप्रैल 1981 में ही दिल्ली से नेमीचन्द जैन के

संपादन में साप्ताहिक "अहिंसा समीर" का प्रकाशन हुआ। अप्रैल 1981 में ही "कन्देवीरम्" नामक एक अन्य मासिक पत्र का प्रकाशन आचार्य अमृतकुमार जैन के संपादन में हुआ। नवम्बर 1981 में मुनिश्री महेन्द्रमुनि "कमल" के दिशा-निर्देशन में जीवन सिंह चौधरी के संपादन में भीलवाड़ा से मासिक "तपोधन" का प्रकाशन हुआ। इसी वर्ष श्री वीतराग सांस्कृतिक संघ, अहमदनगर की ओर से बाल मासिक "आनन्द दीप" का प्रकाशन किया गया। बच्चों को कुव्यसनों से दूर रखने और संस्कारवान बनाने की दृष्टि से यह पत्रिका उल्लेखनीय है।

सन् 1982 में जिनेन्द्र कुमार जैन ने जयपुर से "जैन समाज" नाम दैनिक का प्रकाशन प्रारम्भ किया। जैन पत्रकारिता की इतिहास यात्रा का यह प्रमुख बिन्दु है, जब एक समग्र रूप से जैन दैनिक के प्रकाशन की योजना ने साकार रूप लिया। इसी वर्ष गाजियाबाद से "अरिहन्त टाइम्स" तथा अजमेर से "बढ़ते कदम" नामक साप्ताहिक पत्रों का भी प्रकाशन हुआ। 1983 में डॉ. हुकुमचन्द भारिल्ल के संपादन में "वीतराग विज्ञान" मासिक का प्रकाशन जयपुर से हुआ।

अगस्त, 83 में पाक्षिक "महाप्राण" दिल्ली से प्रकाशित हुआ। मार्च, 1984 में श्री श्वे.स्था. जैन स्वाध्याय संघ, गुलाबपुरा की ओर से त्रैमासिक "सम्बोधि" का प्रकाशन किया गया। मार्च, 85 से पत्रिका का नाम "स्वाध्याय संदेश" हो गया। जनवरी 1988 से यह द्वैमासिक हो गयी। मार्च 1984 में ही लुधियाना से बाल मासिक "नूतन जैन पत्रिका" का प्रकाशन हुआ। अप्रैल 1984 में जैन विद्या संस्थान, महावीरजी द्वारा अर्द्धवार्षिक शोध पत्रिका "जैन विद्या" का प्रकाशन प्रो. प्रवीणचन्द जैन के संपादन में हुआ। इस वर्ष प्रकाशित अन्य पत्र थे-- पुष्पदन्त धारा (भिलाईनगर), जिनप्रतिभा (जोधपुर), श्रमण (महावीर) बाद में श्रमण स्वर, आकोला (चित्तौड़गढ़), भातूसभापत्रिका (बम्बई), "आगम आलोक" (आबू पर्वत), "समता युवा संदेश" (रतलाम), धर्मचक्र बाद में संगम धारा (जयपुर)।

सन् 1985 में प्रकाशित पत्रों में अहिंसा (जयपुर), स्याद्वाद (दीमापुर, नागालैण्ड), खरतर संदेश (वाडमेर), पार्श्वज्योति (बिजनौर), विचारवाणी (ब्यावर) आदि प्रमुख हैं। तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ.प्र., लखनऊ 1986 में जयपुर से सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल द्वारा द्वैमासिक "स्वाध्याय शिक्षा" का प्रकाशन किया। डॉ. नेमीचन्द्र जैन के सम्पादन में इन्दौर से "शाकाहार क्रांति" का प्रकाशन मार्च-अप्रैल 1987 में हुआ। इससे पूर्व जनवरी-फरवरी 1987 में इसका प्रकाशन "शाकाहार समाचार" के रूप में हुआ। इसी वर्ष कल्लभनगर (उदयपुर) से "समाज दर्पण" का प्रकाशन किया गया। जून 1987 में "गोम्मतवाणी" का प्रकाशन हुआ। अक्टूबर 1987 में उदयपुर से "तरुण ओसवाल" प्रकाशित हुआ। जनवरी 1988 में जयपुर से "विमलधर्म आख्यायिका" का प्रकाशन हुआ। दिसम्बर, 1988 में इन्दौर से "जिनोपासक" मासिक तथा इन्दौर से ही "समय" त्रैमासिक का प्रकाशन हुआ।

मूल्यांकन

जैन पत्रकारिता का एक शताब्दी का इतिहास अपने उद्भव और विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सामाजिक, राजनीतिक सुधारों एवं आजादी प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा की पृष्ठभूमि में अंकुरित-पल्लवित हिन्दी जैन पत्रकारिता आज स्वतन्त्र भारत में न सिर्फ राष्ट्रीय निर्माण के लिए जन-चेतना जागृत करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही है वरन् राष्ट्रीय चरित्र और संस्कार निर्माण के पवित्र संकल्प के प्रति प्रतिबद्ध भी है। सार्वजनिक पत्रकारिता की भाँति तीखा स्वर तथा तेजस्विता और प्रखरता का बाह्य भाव भले ही जैन पत्रकारिता में दृष्टिगोचर न होता हो किन्तु उसमें अपनी आन्तरिक तेजस्विता है, तप एवं साधना का कठोर बल है, जिसकी प्रदीप्त भावभूमि पर जैन पत्रकारिता विकसित हुई और व्यक्ति एवं राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण तथा सरल, सहज सात्विक जीवन के आदर्श के लिए संघर्षरत रही।

जैन पत्रकारिता की एक शताब्दी की विकास यात्रा का अध्ययन इस बात को संकेतित करता है कि यह व्यावसायिकता से आज तक अछूती रही है। जैन पत्रों का प्रकाशन लाभार्जन अथवा अन्य संकीर्ण हितों की पूर्ति के लिए नहीं किया गया। ये पत्र विशुद्ध रूप से समाज सुधार के संकल्प तथा अपने धार्मिक आदर्शों और सांस्कृतिक जागरण के प्रचार-प्रसार के लिए प्रकाशित किये जाते रहे हैं। यही कारण है कि जैन पत्रों में प्रकाशित सामग्री मुख्यतः विचार प्रधान तथा नैतिक सामाजिक उद्बोधनों से युक्त होती है। इस प्रकार की सामग्री से जैन पत्र "समाचार पत्र" (News paper) कम हैं तथा "विचारपत्र" (Vicews paper) अधिक हैं।

जैन पत्रकारिता वैयक्तिक चरित्र व संयम साधना पर विशेष बल देती है। अतः इनसे जुड़े समाचार विशेष स्थान प्राप्त करते हैं। व्यसन मुक्ति, ब्रह्मचर्य पालन, व्रत, दान आदि के समाचार वैयक्तिक जीवन शुद्धि की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हैं। इसी प्रकार संतों की विहार चर्या से सम्बन्धित समाचार भी इन पत्रों में प्रमुखता से प्रकाशित होते हैं। जैन पत्रों में प्रकाशित समाचारों में जहाँ सामाजिकता के दर्शन होते हैं, वहीं वे धार्मिक एवं सांस्कृतिक जागरण के प्रति भी समर्पित होते हैं।

जैन पत्रकारिता के उद्भव और विकास की कहानी इस समाज के सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक जागरण की कहानी है। जैन पत्रकारिता की यह विकास यात्रा सरल व सहज नहीं रही। नानाप्रकार के संघर्षों को झेलकर ही जैन पत्रकारिता का तप एवं साधनामय रूप उभर सका है। आर्थिक कठिनाइयों, उचित मुद्रण सुविधाओं का अभाव, अवैतनिक संपादक, संपादकीय टीम व कार्यालयी सुविधाओं का अभाव आदि कठिनाइयों के बावजूद जैन पत्रकारिता अपने आदर्शों व उद्देश्यों की पूर्ति में ईमानदारी से समर्पित रही है। जैन पत्रकारिता ने हमारे सामाजिक जीवन को शुद्ध एवं संस्कारवान बनाने की दृष्टि से विभिन्न सामाजिक विकृतियों पर कड़े प्रहार किये हैं। नारी जाति के सामाजिक स्तर पर उसके अधिकारों का समर्थन कर उसके गौरवमय चरित्र को जैन पत्रों ने प्रकट किया है। समाज में पिछड़ी और निम्न जातियों के विकास व उनके जीवन स्तर को सुधारने की प्रेरणा भी जैन पत्रों में भी है। इस प्रकार सामाजिक क्षेत्र में जैन पत्रकारिता ने समतावादी, रूढ़िवादी, चरित्रनिष्ठ व व्यसनमुक्त समाज की कल्पना का आदर्श हमारे सामने प्रस्तुत किया है।

जैन पत्रकारिता का मुख्य धरातल धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा नैतिक मूल्यों के विकास के साथ सम्बद्ध रहा है। राजनीतिक क्षेत्र में भी जैन पत्रकारिता ने इन्हीं मूल्यों की प्रतिष्ठापना पर बल दिया है। अहिंसावादी मूल्यों की संवाहिका जैन पत्रकारिता ने राष्ट्रीय सुरक्षा व अखण्डता जैसे संवेदनशील प्रश्नों पर कायरता का परिचय नहीं दिया वरन् जन-मानस को साहस और शौर्य के साथ इन खतरों से जूझने की प्रेरणा दी है। गांधीजी के स्वदेशी तथा भारत छोड़ो जैसे आन्दोलनों को जैन पत्रकारिता ने सदा अपना रचनात्मक सहयोग दिया। स्वातन्त्र्योत्तर भारत में देश के पुनर्निर्माण के साथ भी जैन पत्रकारिता जुड़ती है और महत्त्वपूर्ण घटनाओं पर विचारोत्तेजक टिप्पणियाँ लिखकर अपनी राजनीतिक चेतना के प्रखर पक्ष का परिचय देती है। भारतीय संविधान में निहित मानवीय मूल्यों यथा -- वैचारिक स्वतन्त्रता, सामाजिक समानता, धर्मनिरपेक्षता आदि को आम जन से जोड़ने और उनका प्रचार-प्रसार करने की दृष्टि से जैन पत्रकारिता सदा प्रयत्नशील रही।

वैचारिक दृष्टि से जैन पत्रकारिता धार्मिक तत्त्वदर्शन के विवेचन-विश्लेषण से जुड़कर अपने व्यापक अर्थों में आत्म कल्याण, विश्वशान्ति व विश्व मैत्री की बात करती है। जैन पत्रकारिता की यह धार्मिक, आध्यात्मिक चेतना मूलतः व्यक्ति चेतना को विकसित करती हुई उसे व्यापक सामाजिक-राष्ट्रीय हितों से जोड़ती है। साहित्यिक सांस्कृतिक चेतना के विकास में भी जैन पत्रकारिता का विशेष योगदान रहा है। जैन पत्रकारिता ने एक ओर यदि साहित्य की विविध विधाओं के रचनात्मक लेखन को प्रकट किया है, वहीं दूसरी ओर संस्कृत की गौरवमय परम्पराओं को भी बनाये रखा है। प्राचीन जैन साहित्य के अन्वेषण, समीक्षण व संरक्षण की दिशा में जैन पत्रों के

प्रयासों से आज न सिर्फ जैन साहित्य वरन् हिन्दी साहित्य भी समृद्ध हुआ है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि जैन पत्रकारिता की यह गैर व्यावसायिक धारा अविच्छिन्न रूप से व्यावसायिक पत्रकारिता के समानान्तर चली आ रही है जो अनेक बाधाओं व संकटों के बावजूद भी अपनी आन्तरिक तेजस्विता के कारण सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, साहित्यिक तथा कला एवं पुरातत्त्व के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर रही है। अब तक साढ़े चार सौ से अधिक जैन पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हो चुका है। इन पत्रों की सामग्री का विवेचन-विश्लेषण इस बात का जीवन्त प्रमाण है कि गैर व्यावसायिक, धार्मिक तथा लोक सेवापरक पत्रकारिता में जैन पत्रकारिता का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आधुनिक भारत के सांस्कृतिक इतिहास लेखन में जैन पत्रकारिता एक प्रभावी, प्रामाणिक और विश्वसनीय स्रोत है, इससे इंकार नहीं किया जा सकता।

अनेकान्त, अहिंसा तथा अपरिग्रह की अवधारणाओं का मूल्यांकन : आधुनिक विश्व समस्याओं के सन्दर्भ में

- डॉ. वशिष्ठ नारायण सिन्हा

जैनधर्म-दर्शन का विकास ई. पूर्व 6ठीं शताब्दी में जैन परम्परा के 24वें तीर्थंकर भगवान् महावीर के द्वारा हुआ, किन्तु इसका उपयोग सिर्फ उसी युग के लिए था, ऐसा मानना सर्वथा अनुचित होगा क्योंकि जैनधर्म-दर्शन ने अपने को जिन-जिन रूपों में प्रस्तुत किया है, वे आज भी संगत हैं और आगे भी मानव ही नहीं बल्कि प्राणिमात्र के लिए कल्याणकारी साबित होंगे।

जैनदर्शन समन्वयवादी है क्योंकि इसमें विभिन्न मत-मतान्तरों को समाहित देखा जाता है। यह मानवतावादी है क्योंकि यह सम्पूर्ण मानवसमाज का हितकारी है। यह प्राणीवादी है क्योंकि इसकी चिन्तन प्रणाली में समस्त प्राणियों के सुख सन्निहित हैं। यह समतावादी है क्योंकि यह स्वीकार करता है कि सभी जीव अनन्त-चतुष्टय के धारक होते हैं। सब के सुख-दुःख समान होते हैं, इतना ही नहीं बल्कि जैनदर्शन स्वतन्त्रतावादी है क्योंकि यह मानव को ईश्वरीय दासता से मुक्त करता है।

जैनदर्शन समन्वयवादी है, इसमें कोई शक नहीं परन्तु आशंका इस बात को लेकर होती है कि समन्वय इसकी सहजता है अथवा उद्देश्य ? इसका जैसा भी स्वरूप है उससे स्वभावतः समन्वय प्रस्फुरित होता है या समन्वय को उद्देश्य मानकर उसके अनुकूल इसका रूप खड़ा किया गया है। अधिक लोग यह मानते हैं कि भगवान् महावीर ने जिस तत्त्वमीमांसा या ज्ञानमीमांसा या आचारमीमांसा का प्रतिपादन किया है, उसमें स्वभावतः समन्वय अंकुरित होता है, जो समाज को सद्भाव एवं शान्ति प्रदान करता है। समन्वय लाने के उद्देश्य से महावीर ने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। परन्तु भगवान् महावीर का जिस युग में प्रादुर्भाव हुआ और जिस समाज में उनका पालन-पोषण हुआ, उन्हें देखते हुए यह भी कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने समाज एवं वातावरण को समझते हुए समन्वयवाद का प्रतिपादन किया। ऐसा मानना भी कोई अमर्यादित नहीं जान पड़ता क्योंकि समाज में सद्भाव स्थापित करने के लिए एक महात्मा का किसी विशेष सिद्धान्त का प्रतिपादन करना उसके स्वभावानुकूल ही है। जैनागमों के अनुसार महावीर के समय में जैनमत के अतिरिक्त भारत में 363 मतों का प्रचार-प्रसार हो रहा था। बौद्धत्रिपिटक भी बताते हैं कि बुद्ध के समय में बौद्ध-दर्शन के अतिरिक्त 62 चिन्तन प्रणालियाँ थीं। उन सिद्धान्तों में कोई सामान्यवादी था तो कोई विशेषवादी, कोई नित्यतावादी था तो कोई अनित्यतावादी, कोई अद्वैतवादी था तो कोई द्वैतवादी, कोई पूर्णतः भौतिकवादी था तो कोई सर्वशतः अध्यात्मवादी। उन विविधताओं के बीच टकराव के कारण समाज हासोन्मुख था। क्या उस समय की सामाजिक स्थिति ने भगवान् महावीर जैसे लोक-हितैषी व्यक्ति को समाजोद्धार करने को प्रेरित नहीं किया होगा ? यदि अपनी परिस्थिति से प्रेरित एवं प्रभावित होकर महावीर ने अपना दर्शन प्रस्तुत किया, तो ऐसा कहा जा सकता है कि समन्वयवाद उनका उद्देश्य था। भगवतीसूत्र की यह उक्ति कि महावीर ने स्वयं में स्व-चित्र-विचित्र पुंस्कोकिल को देखा, जिसके कारण वे स्व-पर-सिद्धान्तों की समानता प्रतिष्ठित करने को प्रेरित हुए। पुंस्कोकिल उनके अनेकान्तवाद अथवा सापेक्षतावाद को ही इंगित करता है। स्वप्न व्यक्ति की मनसा का द्योतक होता है। स्वप्न में पुंस्कोकिल को देखना यह बताता है कि महावीर के मन में विभिन्न मत-मतान्तरों के बीच सामंजस्यता लाने की बात थी अर्थात् उनका समन्वय सोद्देश्य था। ऐसे तो समन्वयवाद के कारण जैनदर्शन और पाश्चात्य आधुनिक चिन्तक काण्ट के विचार बहुत निकट हैं, पर यदि यह मान लिया जाए कि महावीर का समन्वयवाद सोद्देश्य है, तो दोनों के बीच और अधिक सामीप्य दृष्टिगोचर होने लगता है क्योंकि अपने समय के

दो विरोधी मतों -- बुद्धिवाद तथा अनुभववाद की आपसी कटुता को दूर करने के लिए ही उन्होंने अपना समीक्षावाद प्रस्तुत किया था, जिसमें बुद्धिवाद तथा अनुभववाद सहभागी के रूप में समन्वित होते हैं।

जैनदर्शन मूलतः सापेक्षतावादी है। अनेकान्त, स्याद्वाद, अहिंसा, अपरिग्रह सभी सापेक्षतावाद के ही विविध रूप हैं। यदि इन सिद्धान्तों से सापेक्षता हटा ली जाए तो ये अर्थहीन हो जाएँगे। मानवसमाज में सापेक्षता का बड़ा ही महत्त्व है। वक्ता बोलता है और श्रोता सुनता है। वक्ता श्रोता के बिना और श्रोता वक्ता के बिना कोई अर्थ नहीं रखता। वक्ता और श्रोता एक दूसरे के सापेक्ष हैं, पर यह सापेक्षता भगवान् महावीर की चिन्तन प्रणाली में किस तरह प्रभावित एवं पुष्पित होती है उसे समझने के बाद ही हम निर्णय कर सकते हैं कि आधुनिक युग के लिए इनके पास कोई मूल्य है अथवा नहीं। सापेक्षता को तत्त्वमीमांसा में अनेकान्त की संज्ञा दी गई है। अनेक अपेक्षाओं, अनेक सीमाओं, अनेक दृष्टियों में विश्वास करने वाला सिद्धान्त अनेकान्तवाद के नाम से जाना जाता है। अनेकान्तवाद का अपना एक आधार है जो तत्त्व के विवेचन से निरूपित होता है। जैनमत में किसी भी वस्तु या तत्त्व के अनन्त धर्म होते हैं जिनमें कुछ विधि रूप तथा अन्य निषेध रूप। विधि और निषेध भी एक-दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। विधि के बिना निषेध नहीं, निषेध के बिना विधि नहीं। विधि और निषेध धर्मों के आधार पर ही किसी वस्तु का सही बोध हो पाता है। किसी वस्तु के सभी धर्मों का बोध सामान्य व्यक्ति को नहीं होता। जो सर्वज्ञ या केवली होते हैं, वे ही किसी वस्तु को पूर्णतः जान पाते हैं। साधारण व्यक्ति किसी वस्तु के एक धर्म को या अनेक धर्मों को जान पाता है जो क्रमशः नय और प्रमाण की दृष्टियाँ मानी गई हैं। साधारण व्यक्ति का ज्ञान सीमित एवं सापेक्ष होता है। जैनाचार्यों ने सापेक्षता के सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए अन्धगजन्थाय का उदाहरण दिया है। अन्धों ने हाथी का ज्ञान उसे स्पर्श करके प्राप्त किया। उन लोगों का ज्ञान सीमित था तथा अपनी-अपनी अपेक्षाओं से था, किन्तु उन लोगों ने अपने ज्ञान को पूर्ण और निरपेक्ष बताया। जब उन लोगों से हाथी के सम्बन्ध में पूछा गया तो किसी ने कहा हाथी रस्सी की तरह होता है, तो किसी ने कहा कि हाथी खम्भे की तरह होता है क्योंकि उन लोगों ने क्रमशः हाथी की दुम तथा उसके पैर स्पर्शित किए थे। आंशिक ज्ञान को पूर्ण तथा सापेक्ष ज्ञान को निरपेक्ष बताने की गलती अन्धों की तरह आँख वाले लोग भी करते हैं। एक व्यक्ति किसी वस्तु के सम्बन्ध में जितना जानता है उसी को पूरा ज्ञान मानकर दूसरे को गलत ठहराने की कोशिश करता है। वह ऐसा नहीं समझता है कि वस्तु के अनन्त धर्मों में से किन्हीं सौ, दो सौ, पाँच सौ या हजार धर्मों को वह जानता है तो अन्य सौ, दो सौ, पाँच सौ, हजार धर्मों को दूसरा व्यक्ति भी जान सकता है। जब कोई व्यक्ति अपने को सही और दूसरे को गलत बताता है तो यहीं विवाद शुरू होता है, जो आगे चलकर कलह एवं युद्ध का रूप धारण करता है। झगड़ा परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व किसी भी स्तर पर हो उसके पीछे वैचारिक मतैक्य का अभाव ही देखा जाता है। कहा जाता है कि जैसा विचार वैसा आचार। यदि विचार के विरोध नहीं हैं, तो आचार में भी विरोध सम्भव नहीं है। आदमी का यह स्वभाव तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु आदत जरूर कही जा सकती है कि वह दूसरे की सही बात को मानना नहीं चाहता है और अपनी गलत बात को भी तर्क या कुतर्क से सही प्रमाणित करना तथा दूसरे पर लादना चाहता है। अनेकान्तवाद हमें वैचारिक-सहिष्णुता का पाठ पढ़ाता है। परिवार में पिता-पुत्र, सास-बहू समाज में फैले हुए विभिन्न धर्म तथा विश्व में अनेक राष्ट्र एक-दूसरे के विचार से असहमत देखे जाते हैं। सर्वत्र पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक अशान्ति व्याप्त है। यदि हम अनेकान्तवाद के मार्ग पर चलते हैं, तो हमें यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होगी कि हमारे विचार के साथ ही हमारे मित्र, पड़ोसी, पड़ोसी-राष्ट्र, पड़ोसी-धर्म के भी विचार सही हैं या हो सकते हैं। ऐसा मान लेने पर आपसी सद्भाव जागृत होता है और सुख-शान्ति की उपलब्धि होती है।

अपनी आचार-मीमांसा में जैनदर्शन अहिंसावाद का प्रतिपादन करता है। अहिंसा शब्द निषेधात्मक है, किन्तु प्रेम, सद्भाव, सहायता, दान आदि इसके विधेयात्मक रूप भी हैं। प्रश्नव्याकरणसूत्र में अहिंसा का विस्तारपूर्वक

विवेचन मिलता है। उस विवेचन में अहिंसा के जो साठ नाम बताए गए हैं, उनसे साफ ज़ाहिर होता है कि प्राणिमात्र के कल्याण के जो भी रूप हो सकते हैं, वे सभी इसमें समाहित हैं। यद्यपि जैनदर्शन अनेकान्तवादी है परन्तु जब अहिंसा की बात आती है, तो यह अद्वैतवादी या अभेदवादी जान पड़ता है क्योंकि यह सभी प्राणियों को एक जैसा मानता है। समानता को देखते हुए ही यह व्यक्त करता है कि आत्मा एक है। आचारंगसूत्र में कहा गया है --

"जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है।
जिसे तू शासित करना चाहता है, वह तू ही है।
जिसे तू परिताप देना चाहता है, वह तू ही है।"

उपाध्याय अमरमुनिजी के शब्दों में -- "भगवान महावीर का अहिंसाधर्म एक उच्चकोटि का आध्यात्मिक एवं सामाजिक धर्म है। यह मानव जीवन को अन्दर और बाहर दोनों ओर से प्रकाशमान करता है। महावीर ने अहिंसा को भगवती कहा है। मानव की अन्तरात्मा को अहिंसा भगवती, बिना किसी बाहरी दबाव, भय, आतंक अथवा प्रलोभन के सहज अन्त-प्रेरणा देती है कि मानव विश्व के अन्य प्राणियों को भी अपने समान समझे, उनके प्रति बिना किसी भेदभाव के मित्रता एवं बन्धुता का प्रेमपूर्ण व्यवहार करे। मानव को जैसे अपना अस्तित्व प्रिय है, अपना सुख अभीष्ट है, वैसे ही अन्य प्राणियों को भी अपना अस्तित्व तथा सुख, प्रिय एवं अभीष्ट है -- यह परिबोध ही अहिंसा का मूल स्वर है। अहिंसा "स्व" और "पर" की, "अपने" और "परंप" की, "घृणा" एवं "बैर" के आधार पर खड़ी की गई भेद-रेखा को तोड़ देती है।¹

अहिंसा का सिद्धान्त रचना में विश्वास करता है, ध्वंस में नहीं। विश्व में जो भी रचनात्मक एवं कल्याणकारी गतिविधियाँ हैं, उनके पीछे किसी न किसी रूप में अहिंसा ही काम करती है। हिंसा नाशकारी होती है। बैर, द्वेष, घृणा, लोभ, क्रोध आदि हिंसा के ही रूप हैं और इन्हीं से समाज का विध्वंस होता है। इसके विपरीत अहिंसा प्रेम, स्नेह, अपनापन एवं सद्भाव का प्रतिनिधित्व करती है, जिसे सुखमय सामान्य की रूपरेखा बनती है। यदि अहिंसा नहीं होती तो आज का समाज या विश्व चाहे वह जिस रूप में भी क्यों न हो, दिखाई नहीं देता। यदि मनुष्यों के बीच आपसी स्नेह, सद्भाव एवं अपनापन नहीं होते तो, रिश्तेनाते भी नहीं बन पाते। रिश्तेनातों के अभाव में परिवार नहीं बनता; परिवार के अभाव में समाज, समाज के अभाव में राष्ट्र और राष्ट्र के अभाव में विश्व नहीं होता। विश्व अहिंसा पर ही आधारित है। अहिंसा के अभाव में इसका हास हो सकता है, विकास नहीं। अतः विश्व-कल्याण के लिए अहिंसा अनिवार्य है।

हिंसा से हिंसा को नहीं जीत सकते, किन्तु अहिंसा से हिंसा को अपने वश में कर सकते हैं। इसीलिए मसीह ने कहा था-- "जब तुम्हें कोई व्यक्ति तुम्हारी गाल पर एक तमाचा मारता है तो उसके सामने अपनी दूसरी गाल भी कर दो।" स्नेह और सेवा के कारण ही आज मसीहीधर्म विश्व के कोने-कोने में फैला हुआ है। अहिंसा के अभाव में विश्व-शान्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। उपाध्याय अमरमुनिजी के ही शब्दों में-- "आज जो विश्व नागरिक की कल्पना कुछ प्रबुद्ध मस्तिष्कों में उड़ान ले रही है, "जय जगत्" का उद्घोष कुछ समर्थ चिन्तकों की जिह्वा पर मुखरित हो रहा है, किन्तु उसको मूर्तरूप अहिंसा के द्वारा ही मिलना सम्भव है।²

अपरिग्रह जैनदर्शन की एक महत्त्वपूर्ण विधा है। अपरिग्रह के बिना अहिंसा का पालन नहीं हो सकता। यदि अहिंसा का पालन नहीं होता है तो समाज का कल्याण सम्भव नहीं है। आवश्यकता से अधिक संचय करना परिग्रह है और आवश्यकतानुसार एवं संयमित ढंग से संग्रह करना अपरिग्रह है। बौद्धदर्शन में अष्टांगमार्ग को

बताते हुए "सम्यग्जीव" की चर्चा होती है। व्यक्ति को संयमित ढंग से अपनी आजीविका को उपलब्ध करना चाहिए। अपरिग्रह का आध्यात्मिक महत्त्व के साथ ही सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक महत्त्व भी है। उत्तराध्ययनसूत्र में इसके आध्यात्मिक महत्त्व को बताने के लिए धन-संग्रह की निन्दा की गई है।

"धन न तो लोक में शरण देता और न ही परलोक में।" दीपक के बुझ जाने पर अन्धकार में देखा हुआ मार्ग भी नहीं दिखाई पड़ता है। उसी तरह पौद्गलिक वस्तु के मोह में उचित मार्ग को देखना न देखना के बराबर हो जाता है। धर्म का पालन तो ममता के त्याग से होता है।³

जब समाज में एक व्यक्ति आवश्यकता से अधिक संचय करने लगता है, तो अन्य लोगों की सुख-सुविधाएँ छिन जाती हैं। कोई खाते-खाते मरता है, तो कोई खाये बिना मरता है। कोई व्यक्ति अपने बेटे-पोते के लिए संग्रह करता जाता है और कोई अपने पेट को भरने में भी असमर्थ रहता है। परिग्रह असमानता को जन्म देता है। इसके कारण ही राजतन्त्र बनता है, जिसमें राजा और प्रजा इन दो वर्गों में समाज बँट जाता है। पूँजीवाद में मालिक और मजदूरों का समाज परिग्रह के कारण ही बनता है। समाज में अनेक प्रकार के दुराचार, अनाचार, अत्यधिक धन-संचय की वजह से ही होते हैं। अपरिग्रह से समानता आती है, जिससे समाजवाद को बल मिलता है। समाजवाद अपरिग्रह के ही फलस्वरूप जन्म लेता है और विकसित होता है। इसलिए प्राचीनकाल से आज तक चिन्तकों ने अपरिग्रह को अपनाने का उपदेश दिया है। अपरिग्रह का ही एक रूप प्रसिद्ध आधुनिक समाजवादी चिन्तक कार्लमार्क्स की चिन्तन पद्धति में मिलता है। शोषण करने वाले पूँजीपतियों से शोषित मजदूरों को छुटकारा तथा गरीबों को समान अधिकार दिलाने के लिए उन्होंने अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। पहले अतिरिक्त मूल्य के अधिकारी पूँजीपति हुआ करते थे, किन्तु मार्क्स ने कहा कि अतिरिक्त मूल्य में मजदूरों को भी समान अधिकार मिलना चाहिए अर्थात् मजदूर भी अतिरिक्त मूल्य के भागीदार हो सकते हैं। इससे पूँजीपतियों द्वारा किए जाने वाले परिग्रह पर नियन्त्रण होता है। इसमें एक बात ध्यान देने की है कि जैनदर्शन द्वारा प्रतिपादित अपरिग्रह सिद्धान्त परिग्रहवृत्ति के त्याग को प्रधानता देता है, जबकि कार्लमार्क्स का सिद्धान्त कानूनी तौर पर संग्रह को रोकना चाहता है। यदि कानूनी ढंग से परिग्रह को रोक दिया जाता है, तो वह समाज के लिए लाभदायक होता है, परन्तु यदि मन से संग्रहवृत्ति को रोकने का प्रयास होता है, तो वह व्यक्ति और समाज दोनों के लिये श्रेयस्कर है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. चित्तन की मनोभूमि, पृ. 251
2. वही, पृ. 251
3. उत्तराध्ययनसूत्र, 4/4

प्राचीन जैनग्रन्थों में कर्मसिद्धान्त का विकासक्रम

- डॉ. अशोक कुमार सिंह

भारतीय चिन्तन में कर्मसिद्धान्त का अतिमहत्त्वपूर्ण स्थान है। चार्वाक दर्शन को छोड़कर भारत की सभी दार्शनिक परम्पराओं में कर्मसिद्धान्त का विवेचन उपलब्ध होता है। जैनदर्शन में कर्मसिद्धान्त का जो सुव्यवस्थित एवं सुविकसित रूप प्राप्त होता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। श्रमण परम्परा के विश्रुत विद्वान् पद्मभूषण पं. दलसुख भाई मालवणिया का यह कथन अत्यन्त प्रासंगिक है -- "कर्मवाद की जैसी विस्तृत व्यवस्था जैनों में दृष्टिगोचर होती है वैसी विस्तृत व्यवस्था अन्यत्र दुर्लभ है।¹ कर्मसिद्धान्त का विकास वस्तुतः विश्व-वैचित्र्य के कारणों की खोज में ही हुआ है। विश्व-वैचित्र्य के कारणों की विवेचना के रूप में श्वेताश्वतर उपनिषद्² में काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पुरुषार्थ आदि का उल्लेख हुआ है। किन्तु विचारकों को विश्व-वैचित्र्य की व्याख्या करने वाले ये सभी सिद्धान्त सन्तोष प्रदान नहीं कर सके। प्रारम्भिक जैन ग्रन्थों में (सूत्रकृतांग) भी विश्व-वैचित्र्य के कारणता सम्बन्धी इन विभिन्न सिद्धान्तों की समीक्षा की गई और इन सिद्धान्तों की निहित अक्षमता को ध्यान में रखते हुए श्रमण परम्परा में कर्मसिद्धान्त का आविर्भाव हुआ। इस सिद्धान्त में सर्वप्रथम यह माना गया कि वैयक्तिक विभिन्नताओं, व्यक्ति की सुख-दुःखात्मक अनुभूति और सदसद् प्रवृत्तियों में उसकी स्वाभाविक रुचि के कारण व्यक्ति के अपने ही पूर्वकर्म होते हैं। यह मान्यता निरान्य, बौद्ध और आजीविक परम्परा में समान रूप से स्वीकृत रही। न्याय-वैशेषिक जैसे प्राचीन दर्शनों ने भी ईश्वर-कर्तृत्व की अवधारणा को स्वीकार करते हुए भी वैयक्तिक विभिन्नता के कारण की व्याख्या के रूप में ईश्वर के स्थान पर अदृष्ट या कर्म को ही प्रधानता दी है। फिर भी यह सुनिश्चित है कि श्रमण परम्पराओं में कर्मसिद्धान्त को जो प्रधानता मिली वह ईश्वरवादी परम्पराओं में सम्भव नहीं थी क्योंकि वे कर्म के ऊपर ईश्वर की सत्ता को स्थापित कर रही थीं।

प्राचीन भारत की श्रमण परम्पराओं में आजीविक परम्परा विलुप्त हो चुकी है और उसका कोई साहित्य उपलब्ध नहीं है अतः उसमें कर्मसिद्धान्त किस रूप में था यह कह पाना कठिन है। बौद्धों ने यद्यपि जगत्-वैचित्र्य की व्याख्या के रूप में व्यक्ति के शुभाशुभ कर्मों को ही कारण माना है फिर भी उनकी दृष्टि में कर्म चित्त-सन्तति का ही परिणाम रहा। अतः उन्होंने कर्म को चैतसिक ही माना जबकि निरान्य परम्परा ने कर्म के चैतसिक और भौतिक दोनों ही पक्षों को स्वीकार कर एक सुव्यवस्थित कर्मसिद्धान्त की विवेचना प्रस्तुत की।

प्रस्तुत निबन्ध में हमारा विवेच्य जैन कर्म सिद्धान्त की व्याख्या न होकर मात्र इतना ही है कि जैन परम्परा में यह सिद्धान्त क्रमिक रूप में किस प्रकार विकसित हुआ। डॉ. रवीन्द्रनाथ मिश्र ने अपनी पुस्तक "जैन कर्मसिद्धान्त उद्भव एवं विकास"³ में काल-क्रम की दृष्टि से जैन कर्मसिद्धान्त के विकास-क्रम को तीन वर्गों में विभाजित कर प्रत्येक वर्ग की मुख्य विशेषताओं को रेखांकित किया है। उनके अनुसार ये तीन क्रम निम्नवत् हैं --

1. जैन कर्म सिद्धान्त का प्रारम्भिक काल या उद्भव काल (ई.पू. छठीं शताब्दी से ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी।)
2. जैन कर्म सिद्धान्त का व्यवस्थापन काल -- ई.पू. दूसरी शती से ईसा की तीसरी शताब्दी।
3. जैन कर्म सिद्धान्त का विकास काल -- ई. की चौथी शती से बारहवीं शती।

डॉ. मिश्र के अनुसार प्रारम्भिक काल या उद्भव काल तक यह अवधारणा बन चुकी थी -- 1. कर्मों का शुभाशुभ फल मिलता है। 2. कर्म संचित होते हैं, दूसरे शब्दों में वे कालान्तर में फल देने की सामर्थ्य रखते हैं। कर्म या कर्म बन्ध का कारण राग-द्वेष, कषाय और मोह है। 3. संचित कर्मों के कारण पुनर्जन्म होता है। 4. इन संचित कर्मों से अर्थात् संसार-परिभ्रमण से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।

तात्पर्य यह कि प्रारम्भिक काल में यद्यपि कर्म सिद्धान्त की सभी मूलभूत बातें अपने अस्तित्व में आ चुकी थीं फिर भी इन प्राचीनतम ग्रन्थों में सुव्यवस्थित रूप से जैन कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं है। न तो इनमें कर्मप्रकृतियों की चर्चा है। न कर्म और गुणस्थानों के पारस्परिक सम्बन्धों की चर्चा है और न कर्मों की उदय, उदीरणा आदि विभिन्न अवस्थाओं का ही चर्चा है।

2. कर्मसिद्धान्त का व्यवस्थापन काल

डॉ. मिश्र के शब्दों में इस काल में कर्म-सिद्धान्त के सम्बन्ध में निम्न बातों का प्रवेश हुआ -- 1. कर्म की मूल एवं उत्तर प्रकृतियों का वर्गीकरण, 2. कर्म की मूल एवं उनकी प्रकृतियों के बन्धन के अलग-अलग कारणों का विवेचन 3. बन्धन के 5 हेतुओं का विवेचन और उनका प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध एवं प्रदेशबन्ध से सम्बन्ध और कर्म की उदय, उदीरणा आदि दस अवस्थाओं का उल्लेख, विभिन्न कर्म प्रकृतियों की न्यूनतम और अधिकतम सत्ता की कालावधि तथा कर्मप्रकृतियों के अलग-अलग फल-विपाक की चर्चा।

3. जैन कर्मसिद्धान्त का विकास काल

ईसा की चौथी शताब्दी से लेकर ईसा की तेरहवीं शताब्दी तक व्याप्त इस काल की प्रमुख विशेषतायें निम्नवत् हैं -- 1. कर्म सिद्धान्त पर स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना, 2. कर्मसिद्धान्त का अन्य जैन दार्शनिक अवधारणाओं जैसे गुणस्थान, जीवस्थान, मार्गणास्थान, लेश्या आदि से सम्बन्ध, 3. कर्मप्रकृतियों का गुणस्थान और मार्गणास्थान में उदय, उदीरणा आदि की दृष्टि से विस्तृत विवेचन, 4. जैन कर्मसिद्धान्त के सन्दर्भ में उत्पन्न दार्शनिक समस्याओं का समाधान और 5. जैन कर्मसिद्धान्त को गणितीय स्वरूप प्रदान किया जाना।

यद्यपि जैन परम्परागत रूप में आगमों को और विशेष रूप से अंग-आगमों को अर्थ के रूप में महावीर की और शब्द के रूप में गणधरों की रचना मानते हैं किन्तु विद्वत्समुदाय अनेक कारणों से सभी आगमों यहाँ तक कि सभी अंग आगमों को भी एक काल की रचना नहीं मानता। अर्धभागधी आगम साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध माना गया है। विद्वान इसे लगभग ई. पू. चतुर्थ शताब्दी की रचना मानते हैं। इसके समकालीन अथवा किंचित परवर्ती ग्रन्थों में सूत्रकृतांग, ऋषिभाषित और उत्तराध्ययन का क्रम आता है। ये तीनों ग्रन्थ ई. पू. लगभग तीसरी शताब्दी की रचना के रूप में मान्य हैं।

यह माना जाता है कि पार्श्वपत्य परम्परा के आगमों में जिन्हें हम पूर्वी के रूप में जानते हैं "कर्मप्राभृत" नामक एक ग्रन्थ था जिससे 'कर्मप्रकृति' आदि कर्म साहित्य के स्वतन्त्र ग्रन्थों का विकास हुआ। किन्तु कर्मसिद्धान्त के ये सभी ग्रन्थ विद्वानों की दृष्टि में ई. सन् की 5वीं शताब्दी के बाद के ही माने गये हैं। चूँकि हमारा उद्देश्य कर्मसिद्धान्त के ऐतिहासिक विकासक्रम को देखना है अतः इन ग्रन्थों को विवेचना का आधार न बनाकर अर्धभागधी आगम के कुछ प्राचीन ग्रन्थों को ही अपनी विवेचना का आधार बनायेंगे। इस दृष्टि से हमने आचारांग, सूत्रकृतांग ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन, स्थानांग और सम्प्रदायांग में निहित कर्म-सिद्धान्त के तत्त्वों पर विचार किया है --

आचारांग की कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी अवधारणायें

सामान्यतया कर्मशब्द का अर्थ प्राणी की शारीरिक अथवा चैतसिक क्रिया माना गया है। किन्तु कर्मसिद्धान्त की व्याख्या में इस शारीरिक क्रिया या मानसिक क्रिया के कारण की और उसके परिणाम की व्याख्या को प्रमुखता दी गयी अतः कर्म के तीन अंग बने --

1. क्रिया का प्रेरक तत्त्व,
2. क्रिया,
3. क्रिया का परिणाम

जहाँ बौद्ध परम्परा ने क्रिया के प्रेरक तत्त्व के रूप में चैतसिक वृत्तियों को ही व्याख्यायित किया वहाँ जैन परम्परा ने क्रिया के मूल में रही हुई चैतसिक वृत्ति के साथ-साथ उसके परिणाम पर भी विचार किया। इस प्रकार कर्म की अवधारणा को एक व्यापकता प्रदान की। किसी क्रिया के मूल में रहे हुए चैतसिक भावधारा को पारिभाषिक दृष्टि से भावकर्म की संज्ञा दी गई। किन्तु कोई भी क्रिया चाहे वह चैतसिक हो या दैहिक अपने परिवेश में एक हलचल अवश्य उत्पन्न करती है। इसी आधार पर यह माना गया कि इन क्रियाओं के परिणाम स्वरूप कर्मद्रव्य आकर्षित होता है और आत्मा को बन्धन में डाल देता है। जैन परम्परा में किसी क्रिया-विशेष के द्वारा जिस पौद्गलिक द्रव्य का आत्मा की ओर संसरण होता है उसे द्रव्य कर्म कहा जाता है। आचारांग में द्रव्यकर्म और भावकर्म जैसे सुस्पष्ट शब्द का प्रयोग हमें नहीं मिलता किन्तु कर्म के चैतसिक पक्ष के साथ-साथ हमें कर्मशरीर⁴ और कर्मरज⁵ जैसी अवधारणायें स्पष्ट रूप से मिलती हैं। वस्तुतः यही कर्मशरीर और कर्मरज द्रव्यकर्म की अवधारणा के आधार बने हैं। आचारांग स्पष्ट रूप से कर्मरज और उसके आस्रव की बात करता है। इसका तात्पर्य यह है कि वह कर्म के भौतिक पक्ष या द्रव्यपक्ष को स्वीकार करता है। अतः हम कह सकते हैं कि द्रव्यकर्म और भावकर्म की स्पष्ट अवधारणा भले ही नहीं रही हो उनके बीज के रूप में कर्मरज और कर्मशरीर की अवधारणायें उपलब्ध थीं।

आचारांग में अन्यत्र 'जो गुण है वही आवर्त है' और 'जो आवर्त है वही गुण है'⁶ यह कहकर सांसारिकता के कारण के रूप में गुणों की चर्चा की गई है और यहाँ आचारांगकार का गुणों से तात्पर्य प्रकृति के तीन गुणों से ही रहा हुआ है। ये गुण प्राचीन सांख्य दर्शन में भौतिक तत्त्व के रूप में स्वीकृत हैं और उनकी प्रकृति से एकात्मकता प्रतिपादित की गई है। अतः इससे भी यही फलित होता है कि आचारांगकार के समक्ष कर्म का पौद्गलिक पक्ष स्पष्ट रूप से उपस्थित था चाहे उस काल तक द्रव्य कर्म और भाव कर्म जैसी पारिभाषिक शब्दावली का विकास न हुआ हो।

कर्म को संसार-परिभ्रमण या बन्धन का कारण मानना यह सिद्धान्त भी आचारांग के काल तक स्पष्ट रूप से अस्तित्व में आ चुका था। आचारांगकार⁷ स्पष्ट रूप से यह कहता है कि जो आत्मा की पुनर्जन्म की अवधारणा को स्वीकार करता है वही आत्मवादी है, लोकवादी है और कर्मवादी है। इस प्रकार आचारांग की दृष्टि में पुनर्जन्म की अवधारणा के स्पष्ट तीन फलित हैं-- आत्मवाद, लोकवाद और कर्मवाद। पुनः कर्मवाद भी आत्मा और संसार की सत्ता को स्वीकार किये बिना सम्भव नहीं है अतः कर्मवाद के लिए आत्मा और संसार का अस्तित्व अनिवार्य है। दूसरे शब्दों में आचारांग के काल में कर्मवाद, पुनर्जन्म की अवधारणा के साथ संयोजित कर लिया गया था।

आचारांग की एक विशेषता यह भी परिलक्षित होती है कि वह कर्म को हिंसा या आरम्भ के साथ संयोजित करता है। उसकी दृष्टि में कर्म या क्रियायें हिंसा के साथ जुड़ी हुई हैं और वे संसार के परिभ्रमण का कारण हैं। इसीलिए उसमें यह कहा गया है⁸ कि जो क्रिया (आरम्भ) के स्वरूप को नहीं जानता है वह संसार की विविध जीवयोनियों में परिभ्रमण करता है किन्तु जो कर्म या हिंसा के स्वरूप को जान लेता है वह परिज्ञात कर्मा मुनि सांसारिक जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठता है। इस कथन का स्पष्ट तात्पर्य है कि कर्म या क्रिया बन्धन का कारण है। कर्म या क्रिया से आस्रव होता है और वह आस्रव बन्धन का कारण बनता है। इसीलिए आचारांगकार⁹ स्पष्ट रूप से यह कहता है कि जो भी सांसारिक विविधतायें हैं वे कर्म से उत्पन्न होती हैं। आचारांग में अष्टकर्म प्रकृतियों का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। कर्म की शुभाशुभता के आधार को लेकर भी आचारांग में स्पष्ट रूप से कोई विस्तृत विवेचन उपलब्ध नहीं होता किन्तु आचारांगकार कर्म और अकर्म तथा पापकर्म और पुण्य की चर्चा अवश्य करता है। आचारांग में अकम्मस्स¹⁰, निक्कमदंसी¹¹, शब्दों का प्रयोग यह बताता है कि

आचारांगकार के समक्ष यह अवधारणा स्पष्ट रूप से आ गयी थी कि सभी कर्म बन्धक नहीं होते हैं। पुण्य (शुभ) और पाप (अशुभ) कर्म के साथ-साथ अकर्म की यह अवधारणा हमें गीता में भी उपलब्ध होती है।

चाहे आचारांग में कर्म प्रकृतियों की चर्चा न हो परन्तु कर्म-शरीर की चर्चा है -- 'धुणे कम्मसरीराग'¹² कहकर दो तथ्यों की ओर संकेत किया गया है -- एक तो यह कि कर्म से या कर्मवर्णा के पुद्गलों से शरीर की रचना होती है। उस शरीर को तप आदि के माध्यम से धुनना सम्भव है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचारांग में कर्म की पौद्गलिकता, कर्मपुद्गलों का आस्रव और उसका आत्मा के लिए बन्धन-कारक होना -- ये अवधारणायें स्पष्ट रूप से अस्तित्व में आ गयी थीं। इसके साथ ही कर्म से विमुक्ति के लिए संवर और निर्जरा की अवधारणाएँ स्पष्ट रूप से उपस्थित थीं। दूसरे शब्दों में आचारांग में कर्म, कर्मबन्ध, कर्म-आस्रव, कर्म-निर्जरा ये शब्द प्राप्त होते हैं।

कर्मबन्ध के कारण के रूप में आचारांग में मोह, हिंसा¹³ और राग-द्वेष की चर्चा भी उपलब्ध होती है। उसमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि मोह के कारण ही प्राणी गर्भ और मरण को प्राप्त होता है।¹⁴ जो कर्म मोह और राग-द्वेष से निःसृत नहीं हैं वे कर्म भी यदि हिंसा या परपीड़ा के साथ जुड़े हुए हैं तो भी उनसे बन्ध होता ही है।¹⁵ आचारांग में कहा गया है कि गुण समितिवान अप्रमादी मुनि के शरीर का संस्पर्श पाकर भी कुछ प्राणी परिताप प्राप्त करते हैं। मुनि के इस प्रकार के कर्म द्वारा उसे इस जन्म में वेदन करने योग्य कर्म का बन्ध होता है। इसका तात्पर्य यह है कि आचारांगकार की दृष्टि में राग-द्वेष और प्रमाद की अनुपस्थिति में भी यदि हिंसा की घटना घटित होती है तो उससे कर्म बन्ध तो होता ही है। इसका तात्पर्य यह है कि आचारांग में ईर्यापथिक कर्म की जो अवधारणा विकसित हुई है उसके भी मूलबीज उपस्थित हैं। फिर भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि बन्धन के मिथ्यात्व आदि पाँच कारणों की चर्चा, अष्टकर्म प्रकृतियों की चर्चा, कर्म की दस अवस्थाओं की चर्चा आचारांग के काल तक अनुपस्थित रही होगी।

आचारांग में कर्मसिद्धान्त के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण तथ्य यह उपलब्ध होता है कि एक ओर आचारांगकार किन्सी के निमित्त से होने वाली हिंसा की घटना से ही अप्रमत्त मुनि को इस जन्म में वेदनीय कर्म का बन्ध मानता है किन्तु वह दूसरी ओर इस सिद्धान्त का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करता है कि बाह्य घटनाओं का अधिक मूल्य नहीं है। वह स्पष्ट रूप से यह कहता है कि 'जो आस्रव हैं वे ही परिश्रव हैं'¹⁶, अर्थात् कर्म-निर्जरा के रूप में परिणत हो जाते हैं जो परिश्रव अर्थात् कर्मनिर्जरा के हेतु हैं वही आस्रव के हेतु बन जाते हैं। इसका तात्पर्य यही है कि कौन सा कर्म आस्रव के रूप में और कौन सा कर्म परिश्रव के रूप में रूपान्तरित होगा इसका आधार कर्म का बाह्य पक्ष न होकर कर्त्ता की मनोवृत्ति ही होगी।

इस प्रकार आचारांग कर्मबन्ध और कर्म-निर्जरा में घटना के बाह्य स्वरूप के स्थान पर कर्त्ता के मनोभावों को प्रधानता देता है।

सूत्रकृतांग की कर्म सम्बन्धी अवधारणा :

आचारांग की अपेक्षा सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को विद्वानों ने किंचित परवर्ती माना है। कर्मसिद्धान्त की दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि आचारांग की अपेक्षा सूत्रकृतांग में कर्म सम्बन्धी अवधारणाओं का क्रमिक विकास हुआ है। वह कहता है कि प्राणी इस संसार में अपने-अपने स्वकृत कर्मों के फल का भोग किये बिना उनसे मुक्त नहीं हो सकता है।^{16a} इस सन्दर्भ में सूत्रकृतांगकार की यह स्पष्ट मान्यता है कि जो व्यक्ति पूर्व में जैसे कर्म करता है उसी के अनुसार वह बाद में फल प्राप्त करता है।¹⁷ व्यक्ति का जैसा कर्म होगा वैसा ही उसे फल प्राप्त होगा। सूत्रकृतांग में स्पष्ट रूप से इस बात का भी प्रतिपादन है कि व्यक्ति अपने ही किये कर्मों का फल भोगता है।¹⁸ व्यक्ति के सुख-दुःख का कारण उसके स्वकृत कर्म हैं अन्य व्यक्ति या परकृत कर्म

नहीं।¹⁹

कर्मबन्ध के कारणों की चर्चा के रूप में सूत्रकृतांग में हमें दो महत्त्वपूर्ण उल्लेख प्राप्त होते हैं। सूत्रकृतांग के प्रारम्भ में तो परिग्रह या आसक्ति को ही हिंसा या दुष्कर्म का एकमात्र कारण माना गया है।²⁰ आगे चलकर प्रथम अध्ययन के द्वितीय उद्देशक²¹ में यह कहकर कि अन्तःकरण में व्याप्त लोभ, समस्त प्रकार की माया, अहंकार के विविध रूप और क्रोध का परित्याग करके ही जीव कर्मबन्धन से मुक्ति प्राप्त कर सकता है, सूत्रकृतांग में चारों कषायों को भी कर्मबन्धन के कारण के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। बन्धन के कारणों की इस चर्चा में सूत्रकृतांग में प्रकारान्तर से प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान और मैथुन से अविरति को भी कर्मबन्धन का कारण माना है।²² इस प्रकार चाहे स्पष्ट रूप से नहीं परन्तु प्रकारान्तर से उसमें मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय को योग के साथ बन्धन का कारण मान लिया गया है। अतः बन्धन के जिन पाँच कारणों की चर्चा परवर्ती साहित्य में उपलब्ध है उसका मूलबीज सूत्रकृतांग में उपलब्ध है। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि कषायों की यह चर्चा 'जे कोहं दस्सि से माणं दस्सि' आदि के रूप में आचारांग में आ गयी है। सूत्रकृतांग की विशेषता यह है कि वह इन कारणों से कर्मबन्धन को स्वीकार करता है।²³

कर्मसिद्धान्त के सन्दर्भ में सूत्रकृतांग इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है कि व्यक्ति स्वकृत कर्मों के फल का ही भोक्ता होता है। वह न तो अपने कर्मों का विपाक दूसरों को दे सकता है न दूसरों के कर्मों का विपाक स्वयं प्राप्त कर सकता है।

कर्म के द्रव्य और भावपक्ष की इन नामों से चर्चा इसमें नहीं मिलती है किन्तु 'कर्मरज'²⁴ और कर्म का त्वचा के रूप में त्याग जैसे उल्लेखों से स्पष्ट रूप से हमें लगता है कि उसमें कर्म के द्रव्य पक्ष की स्वीकृति रही हुई है। पुनः 'प्रमाद कर्म' है और 'अप्रमाद अकर्म' है यह कहकर²⁵ सूत्रकार ने कर्म के भावपक्ष को भी स्पष्टतः स्वीकार कर लिया है। कर्म के पुण्य-पाप, कर्म और अकर्म²⁶, ऐसे तीन पक्षों की चर्चा भी सूत्रकृतांग में उपलब्ध होती है। जहाँ तक कर्मप्रकृतियों की चर्चा का प्रश्न है सूत्रकृतांग में मात्र दर्शनावरण²⁷ का उल्लेख मिलता है। इससे ऐसा लगता है कि सूत्रकृतांग में कर्मप्रकृतियों की चर्चा के मूलबीज धीरे-धीरे प्रकट हो रहे थे। कर्म के ईर्यापथिक²⁸ और साम्परायिक²⁹ इन दो रूपों की चर्चा का प्रश्न अकर्म और कर्म से जुड़ा हुआ है किन्तु इन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हमें सर्वप्रथम सूत्रकृतांग में मिलता है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में साम्परायिक और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में तेरह क्रियास्थानों की चर्चा के सन्दर्भ में ईर्यापथिक का उल्लेख आया है।^{29a}

कर्म की दस अवस्थाओं में से हमें उदय³⁰, उदीरण³¹ और कर्मक्षय³² की चर्चा मिलती है। कर्मनिर्जरा के सम्बन्ध में उल्लेख है कि तप के द्वारा कर्मक्षय सम्भव है और सम्पूर्ण कर्म का क्षय हो जाने पर परम सिद्धि प्राप्त होती है।³³ इसप्रकार हम देखते हैं कि सूत्रकृतांग में आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की अपेक्षा कर्मसिद्धान्त का क्रमिक विकास हुआ है।

ऋषिभाषित की कर्मसम्बन्धी अवधारणायें :

कर्मसिद्धान्त के इस क्रमिक विकास की चर्चा में हम यह देखते हैं कि आचारांग और सूत्रकृतांग की अपेक्षा ऋषिभाषित में कर्मसिद्धान्त पर्याप्त रूप से विकसित अवस्था में मिलता है। कर्म, अकर्म³⁴ की चर्चा के साथ-साथ शुभाशुभ कर्म की चर्चा³⁵ तथा शुभाशुभ कर्मों से अतिक्रमण³⁶ की चर्चा ऋषिभाषित में ही सर्वप्रथम मिलती है। ऋषिभाषित ही ऐसा ग्रन्थ है जिसमें स्वर्ण और लोह-बेड़ी की उपमा देकर³⁷ पुण्य-पाप कर्म से अतिक्रमण की चर्चा है। सर्वप्रथम अष्टकर्म ग्रन्थ³⁸ की चर्चा करने वाला भी यही ग्रन्थ है। ऋषिभाषित में कर्म के 5 आदान या काकरण³⁹ स्पष्ट रूप से उल्लिखित हैं।

इसमें यद्यपि कर्म की दस अवस्थाओं की चर्चा नहीं है फिर भी सोपादान, निरादान, विपाकयुक्त उपक्रमित और अनुदित कर्मों का विवरण उपलब्ध होता है।⁴⁰ साथ ही उपक्रमित, उत्करित, बद्ध, स्पष्ट और निधत्त कर्मों के संक्षेप एवं क्षय होने एवं निकाचित कर्मों के अवश्य ही भोगने का उल्लेख है।⁴¹

ऋषिभाषित इस बात पर स्पष्ट रूप से बल देता है कि कोई व्यक्ति अपने स्वकृत शुभाशुभ कर्मों का ही फल भोगता है।⁴²

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋषिभाषित के काल तक जैन कर्मसिद्धान्त पर्याप्त रूप से विकसित अवस्था को प्राप्त हो जाता है। भले ही इसमें अष्टकर्म प्रकृतियों के अलग-अलग नामों का उल्लेख न हो किन्तु अष्टकर्म ग्रन्थि का उल्लेख होने से यह माना जा सकता है कि कर्मों की अष्टमूल प्रकृतियों की चर्चा उस युग तक आ चुकी थी। यदि हम कर्मसिद्धान्त की दृष्टि से विचार करें तो ऐसा प्रतीत होता है कि ऋषिभाषित आचारांग और सूत्रकृतांग की अपेक्षा पर्याप्त रूप से विकसित ग्रन्थ है। किन्तु कुछ विद्वानों ने इसे आचारांग और सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का समकालीन माना है। इस सन्दर्भ में एक विकल्प यह माना जा सकता है कि ऋषिभाषित मुख्य रूप से पार्श्वीपत्य परम्परा का ग्रन्थ रहा हो और पार्श्वीपत्य परम्परा में कर्मसिद्धान्त की विकसित चर्चा भी उपलब्ध हुई है क्योंकि इस ग्रन्थ में कर्मसिद्धान्त का जो विकसित रूप मिलता है वह मुख्यरूप से इसके 'पार्श्व' नामक अध्ययन में उपलब्ध होता है। साथ ही कर्मसिद्धान्त के चैतसिक पक्ष और कर्मसन्तति की जो विशेष चर्चा उस ग्रन्थ में पायी जाती है, वह भी मुख्य रूप से महाकश्यप, सारिपुत्र, वज्जिपुत्र आदि बौद्ध ऋषियों के उपदेशों के रूप में ही है। इसलिए यह सम्भावना पूरी तरह से असत्य नहीं हो सकती कि पार्श्वीपत्य परम्परा में महावीर की अपेक्षा एक विकसित कर्मसिद्धान्त उपलब्ध था।

उत्तराध्ययन की कर्मसम्बन्धी अवधारणा :

अंग आगम साहित्य में आचारांग के पश्चात् स्थानांग, समवायांग और भगवती सूत्र ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें कर्मसिद्धान्त का विकसित रूप उपलब्ध होता है। किन्तु विद्वानों के अनुसार इन तीनों ग्रन्थों में परवर्तीकाल की सामग्री को अन्तिम वाचना के समय संकलित कर लिया गया। इसलिए कर्मसिद्धान्त के विकास की दृष्टि से इन ग्रन्थों की चर्चा न कर उत्तराध्ययन में उपलब्ध कर्म सम्बन्धी विवरणों की चर्चा करना चाहेंगे। उत्तराध्ययन सूत्र में 33वें अध्ययन को छोड़कर अन्य अध्ययनों में जो कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी चर्चा मिलती है वे आचारांग और सूत्रकृतांग की अपेक्षा किंचित विकसित प्रतीत होती हैं। किन्तु उनमें उन्हीं सब तथ्यों की चर्चा है जो सूत्रकृतांग में उपलब्ध होती है। कर्म कर्ता का अनुसरण करता है।⁴³ सभी जीवों को अपने कर्म के अनुसार फल भोगना पड़ता है।⁴⁴ कामभोगों की लालसा के कारण कर्मपरमाणुओं का आत्मा के साथ-बन्ध होता है किन्तु जो रागादि भावों से रहित होता है वह बन्ध में नहीं आता है।⁴⁵ कर्म अपने शुभाशुभ अध्यवसायों एवं विपाकों के अनुसार पुण्य और पाप रूप होता है।⁴⁶ ये चर्चाएँ ऐसी हैं जो प्रकारान्तर से आचारांग और सूत्रकृतांग में भी उपलब्ध हैं। उत्तराध्ययन में कर्म को कर्म-ग्रन्थि, कर्मकचुक, कर्मरज, कर्मगुरु, कर्मवन आदि कहने के जो उल्लेख उपलब्ध हैं।⁴⁷ वे सब भी हमारे समक्ष नवीन तथ्य प्रस्तुत नहीं करते हैं। उत्तराध्ययन का मात्र 33वाँ अध्याय ऐसा है जिसमें आचारांग, सूत्रकृतांग, ऋषिभाषित की अपेक्षा कर्मसिद्धान्त के विकसित रूप मिलते हैं। इस अध्याय की प्राचीनता के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है फिर भी यह अध्याय ई.पू. का ही माना जाता है। ऋषिभाषित में जो अष्टकर्मग्रन्थि का उल्लेख आया है,⁴⁸ इसकी भी विस्तृत व्याख्या उत्तराध्ययन में उपलब्ध है। आगम साहित्य में अष्टमूल प्रकृतियों और उनके अवान्तर भेदों की चर्चा करने वाला यह प्रथम ग्रन्थ है। सम्भवतः उत्तराध्ययन में ही सर्वप्रथम अष्टकर्म प्रकृतियों को घाती और अघाती कर्म में वर्गीकृत किया गया है।^{48a} इसमें ज्ञानावरणीय की 5, दर्शनावरणीय की 9, वेदनीय की दो, मोहनीय की 28, आयुष्य की चार, नाम कर्म की दो, गोत्र की दो और

अन्तराय कर्म की पाँच उत्तरकर्म प्रकृतियों का उल्लेख है।⁴⁹ उत्तर कर्मप्रकृतियों के विवरण⁵⁰ की विशेषता यह है कि दर्शनावरणीय की उत्तर प्रकृतियों के क्रम में आज की दृष्टि से अन्तर है। वेदनीय की साता-असाता में से दोनों के अनेक भेद बताये गये हैं। मोहनीय कर्म के दर्शन एवं चारित्र मोहनीय दो भेदों में चारित्र मोहनीय के उपभेद नोकषाय मोहनीय के सात या 9 भेद बताये गये हैं। नाम कर्म के पहले शुभ और अशुभ भेद किये गये फिर इन दोनों के अनेक भेदों की सूचना दी गई। गोत्र कर्म के दोनों भेदों उच्च और नीच के आठ-आठ भेद बताये गये हैं।

इसमें मूल प्रकृतियों और उत्तरप्रकृतियों का वर्णन करने के पश्चात् प्रदेशों का परिमाण, उनका क्षेत्र, काल और भाव का निरूपण है।

इसमें कर्म की मूलप्रकृतियों की अधिकतम और न्यूनतम स्थिति की चर्चा है। इन कर्मप्रकृतियों की कालावधि के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण चर्चा यह है कि वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त⁵¹ की बतायी गयी है वहीं अन्यत्र 12 अन्तर्मुहूर्त बतायी गयी है।

आत्मा के द्वारा कर्मपदगालों के ग्रहण करने और उनकी संख्या का विवरण भगवती में विस्तार से मिलता है यहाँ केवल एक ही गाथा में⁵² इसका वर्णन है।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उत्तराध्ययन में 33वें अध्ययन में यद्यपि कर्मसिद्धान्त का व्यवस्थित विवरण है फिर भी परवर्ती साहित्य में और भी विस्तृत विवेचना की गई है। उदाहरण के लिए इसमें नामकर्म की दो शुभ और अशुभ कर्म की दो ही उत्तरप्रकृतियों का उल्लेख है जबकि आगे चलकर इसके 42, 67, 93 एवं 103 भेदों की चर्चा मिलती है।

इससे स्पष्ट है कि उत्तराध्ययन के पश्चात् भी जैन कर्मसिद्धान्त का विकास होता गया।

स्थानांगसूत्र

आचारांग, सूत्रकृतांग, ऋषिभाषित एवं उत्तराध्ययन की तुलना में स्थानांग में कर्म-सिद्धान्त का विकसित रूप प्राप्त होता है। स्थानांग के आरम्भ में उल्लेख है कि इस जीवन या अगले जीवन में कर्मों का फल अवश्य मिलता है। स्थानांग में देवताओं, नारकों, मनुष्यों आदि के कर्मफल के उपभोग के काल का निर्धारण करते हुए वर्तमान भव एवं अन्य भव में होने वाले कर्मफल विपाक⁵³ की चर्चा है। इसमें कर्म की अवान्तर प्रकृतियों से सम्बन्धित विवरण दो प्रकार के मिलते हैं। इसके द्वितीय स्थान के चतुर्थ उद्देश⁵⁴ में आठों मूलप्रकृतियों का दो-दो अवान्तर प्रकृतियों में ही वर्गीकरण है-- देश एवं सर्व, ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय की, साता और असाता वेदनीय कर्म की एवं दर्शन और चारित्र, मोहनीय कर्म की। आयुष्य कर्म अद्वायुष्य (कायस्थिति की आयु) और भवायुष्य (उसी भव की आयु), नाम कर्म-शुभ और अशुभ, गोत्र कर्म- उच्च और नीच तथा अन्तराय कर्म -- प्रत्युत्पन्न विनाशि⁵⁵ एवं पिहित-आगमिपथ दो प्रकार का बताया गया है। स्थानांग में ही अन्यत्र इससे भिन्न ज्ञानावरणीय के 5⁵⁶, दर्शनावरणीय के 9⁵⁷ एवं नोकषाय वेदनीय के 9⁵⁸ भेदों का उल्लेख है। प्रसंगवश वेदनीय कर्म की दो अन्य अवान्तर प्रकृतियों क्षुधा वेदनीय⁵⁹ और लोभ वेदनीय कर्म⁶⁰ का भी उल्लेख मिलता है।

स्थानांग का उत्तर कर्म प्रकृतियों का वर्गीकरण यह इंगित करता है कि वर्तमान पद्धति से भिन्न एक अन्य परम्परा भी उत्तर प्रकृतियों के वर्गीकरण की विद्यमान थी। उस वर्गीकरण में सरलीकरण दिखलाई पड़ता है। जैसे ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय के देश अर्थात् अशतः और सर्व ऐसे दो भेद थे। इसी प्रकार आयुष्य कर्म की भी वर्तमान जन्म की आयु और भविष्य में होने वाले जन्म की आयु के विचार की दृष्टि से दो ही भेद किये जाते थे तथा अन्तराय कर्म का भी विभाजन वर्तमान में प्राप्त वस्तु का विनाश और भविष्य में होने वाले लाभ के मार्ग में बाधा-- ये दो भेद थे। उल्लेखनीय है कि कर्म प्रकृति के द्विविध वर्गीकरण में से मात्र वेदनीय की साता और असाता तथा गोत्र कर्म की उच्च और नीच ही प्रचलित परम्परा में व्यवस्थित है। शेष की संख्या में परिवर्तन

हुआ है।

आगमों के ग्रन्थबद्ध होने के पूर्व मूलप्रकृतियों के इस प्रकार वर्गीकरण के पीछे सम्भवतः स्मरण सुविधा की दृष्टि मुख्य रही होगी।

अवान्तर प्रकृतियों का जो उल्लेख स्थानांग के अलग-अलग स्थानों में प्राप्त होता है उसमें ज्ञानावरणीय की 5, दर्शनावरणीय की 9, वेदनीय की दो और गोत्रकर्म की दो अवान्तर प्रकृतियों का उल्लेख प्रचलित परम्परा के ही अनुरूप है, परन्तु उसमें नोकषाय वेदनीय कर्म के जो 9 भेद बताये गये हैं वे परम्परागत वर्गीकरण में नोकषाय मोहनीय कर्म के 9 भेद माने जाते हैं न कि नोकषाय वेदनीय कर्म के। यद्यपि इनके नाम आदि में समरूपता है किन्तु इन्हें नोकषाय वेदनीय कर्म क्यों कहा गया है यह विचारणीय है। स्थानांग में दस की संख्या वाले तथ्यों का ही संकलन करने के कारण मोहनीय कर्म की 28 और नाम कर्म की उत्तर प्रकृतियों का उल्लेख स्थानांग में न होना स्वाभाविक प्रतीत होता है परन्तु अन्तराय कर्म की 5 अवान्तर प्रकृतियों का उल्लेख न होना विचारणीय है। यहाँ यह उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि उत्तराध्ययन⁶¹ के 33वें अध्ययन में अन्तराय की दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये 5 अवान्तर प्रकृतियाँ नाम सहित निर्दिष्ट हैं इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उत्तराध्ययन का यह अध्ययन स्थानांग का उत्तरवर्ती है और साथ ही उत्तर प्रकृतियों की संख्या में क्रमिक विकास हुआ है।

कर्म के प्रदेश और अनुभाव दो प्रकार बताये गये हैं।⁶² हिंसा आदि दुष्टकर्मों को दुश्चीर्ण कर्म (दुष्टिचण्ण), तप आदि कर्मों को सुचीर्ण (सुचिण्ण)⁶³ कहा गया है। यद्यपि इनका सैद्धान्तिक दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं है क्योंकि इनका अर्थ क्रमशः दुष्टकर्म या पापकर्म और पुण्यकर्म है और कर्मों के पुण्य और पाप होने की अवधारणा आचारांग में आ चुकी थी। स्थानांग में कर्म के शुभत्व अशुभत्व⁶⁴ पर भी सम्यक् विचार किया गया है। इसे प्रकृति और बन्ध के चार भंगों के माध्यम से व्यक्त किया गया है -- 1. शुभ और शुभ 2. शुभ और अशुभ 3. अशुभ और शुभ 4. अशुभ और अशुभ। भंगों में प्रयुक्त प्रथमपद प्रकृति और द्वितीय पद अनुबन्ध के लिए है। इसी प्रकार प्रकृति और विपाक की दृष्टि से चार भंगों में कर्म का शुभत्व और अशुभत्व बताया गया है।⁶⁵ क्रिया स्थानों के सम्बन्ध में कर्म के ईर्यापथिक और सम्परायिक कर्म का भी उल्लेख एक साथ आया है।⁶⁶ यद्यपि सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में ईर्यापथिक और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में साम्परायिक कर्म की चर्चा है परन्तु सूत्रकृतांग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध, प्रथम श्रुतस्कन्ध से बाद का माना जाता है। अतः यदि सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध को स्थानांग से परवर्ती माना जाय तो स्थानांग का यह उल्लेख महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है।

स्थानांग में कर्मबन्ध के चार प्रकारों प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश का⁶⁷ तथा बन्ध के दो प्रकारों प्रेय और द्वेष बन्ध का उल्लेख है।⁶⁸ चारकषाय⁷⁰ और प्रमाद का अलग-अलग निर्देश होने के साथ-साथ आस्रव के 5 कारणों के रूप में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग का एक साथ भी निर्देश कर दिया गया है।⁷¹ परन्तु इससे पूर्ववर्ती ऋषिभाषित में इन पाँच कारणों का उल्लेख प्राप्त होता है अतः कर्म सिद्धान्त के विकास की दृष्टि से इसमें उल्लेख होना विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है।

इसमें किन-किन कारणों से मनुष्य अल्पायुष्यकर्म, दीर्घ-आयुष्यकर्म का बन्ध करता है इसका सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है।⁷² यही नहीं स्थानांग में नारक, तिर्यच मनुष्य और देवायु बाँधने के कारणों पर भी विचार किया गया है⁷³ जो कर्म-सिद्धान्त के विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। नैरयिक जीवों से लेकर वैमानिक तक के सभी दण्डकों के जीवों के छः प्रकार का आयुबन्ध बताया गया है।⁷⁴ परमविक आयुबन्ध के प्रसंग में नैरयिक से लेकर वैमानिक तक के सभी जीवों के भुज्यमान आयु के छः मास के अवशिष्ट रहने पर नारकीय जीव नियम से परभव की आयु का बन्ध करते हैं⁷⁵ यह उल्लेख है। स्थानांग की यह अवधारणा दिगम्बर मान्यता के विपरीत है कि असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य और तिर्यच वर्तमान भव की आयु के नौ माह शेष रहने पर परभव की

आयु का बन्ध करते हैं।⁷⁶

जीवों को सदा प्रतिक्षण मोहनीय कर्म का बन्धन होने का उल्लेख है।⁷⁷ मोहनीय⁷⁸ कर्म के उदय से उन्माद⁷⁹ और प्रमाद होने तथा मैथुन संज्ञा उत्पन्न होने का निर्देश है।⁸⁰ लोभ वेदनीय कर्म के उदय से परिग्रह संज्ञा होने का उल्लेख है।⁸¹

स्थानांग में कर्म की अवस्थाओं में उपचय, बन्ध, उदीरणा, वेदना और निर्जरा का उल्लेख है।⁸² एक स्थल पर जीवों द्वारा आठ कर्म प्रकृतियों का संचय, उपचय, बन्ध, उदीरणा, वेदन और निर्जरण का उल्लेख है। सूत्रकृतांग में चर्चित उदय, बन्ध की अपेक्षा कर्म की अवस्थाओं की दृष्टि से अतिरिक्त सूचना भी मिलती है। परन्तु स्थानांग सहित पूर्ववर्ती सभी ग्रन्थों में कर्म की दसों अवस्थाओं का अभाव यह इंगित करता है कि इनका विकास क्रमशः हुआ है और स्थानांग के काल तक दसों अवस्थाओं की अवधारणा नहीं बनी थी।

स्थानांग में कर्म-प्रकृतियों के वेदन और क्षय का आध्यात्मिक दृष्टि से भी विचार किया गया है। यद्यपि इस दृष्टि से कुछ बिखरे हुए सूत्र ही प्राप्त होते हैं-- क्षीणमोह वाले अर्हन्त के तीन सत्कर्म एक साथ नष्ट होते हैं -- ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय।⁸³ प्रथम समयवर्ती केवली जिन के ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोह और आन्तरायिक ये चार कर्म क्षीण हो चुके होते हैं।⁸⁴ प्रथम समयवर्ती सिद्ध के चार सत्कर्म एक साथ क्षीण होते हैं -- वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र।⁸⁵

इस प्रकार हम देखते हैं कि कर्म की अवान्तर प्रकृतियों के पूर्ण व्यवस्थापन से पूर्व की स्थिति का ज्ञान स्थानांग से होता है। इसमें कर्मबन्ध और उनके कारणों आदि के सम्बन्ध में सूक्ष्मता से विचार की प्रक्रिया आरम्भ हो चुकी थी। कर्म की अवस्थाओं के सम्बन्ध में भी पूर्ववर्ती ग्रन्थों की अपेक्षा विकास परिलक्षित होता है। साथ ही आयुष्य कर्म के सम्बन्ध में परभव की आयु बाँधने का नियत समय भी उल्लिखित है।

समवायांग

यह सामान्य अवधारणा है कि समवायांग एक संग्रह ग्रन्थ है। इसे ग्रन्थ-बद्ध करते समय उस काल पर्यन्त विद्यमान जैन धर्म-दर्शन सम्बन्धी अनेक अवधारणाओं को इसमें संग्रहीत कर लिया गया है। इसमें कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी उल्लेखों का अवलोकन करने से भी इसी अवधारणा की पुष्टि होती है। समवायांग में कर्म-सिद्धान्त सम्बन्धी जो उल्लेख मिलते हैं। संक्षेप में उन्हें इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है। उत्तर प्रकृतियों की संख्या, विभिन्न कर्मों की उत्तर प्रकृतियों की संख्या का अलग-अलग योग, कर्मबन्ध के कारण, मोहनीय कर्म के बन्ध के 30 कारण, मोहनीय कर्म के 52 नाम और विभिन्न आध्यात्मिक जीवों की दृष्टि से अवान्तर कर्म प्रकृतियों की सत्ता और बन्ध का निर्देश। उपरोक्त तथ्यों के अतिरिक्त भी जैन कर्म सिद्धान्त के यत्र-तत्र कुछ बिखरे हुए सूत्र मिलते हैं जिनका विवेचन आगे किया जा रहा है।

समवायांग के आरम्भ में बन्धन के दो प्रकारों -- राग और द्वेष का⁸⁶, 5 कारणों मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग का उल्लेख है जिसकी चर्चा ऋषिभाषित और स्थानांग में आ चुकी है। दर्शनावरणीय की 9 और मोहनीय कर्म की 28 अवान्तर प्रकृतियों, नाम कर्म की 42 अवान्तर प्रकृतियों का नाम निर्देश इसमें मिलता है। सम्भवतः समवायांग में अन्तिम दो के नाम पहली बार निर्दिष्ट है। जहाँ तक दर्शनावरणीय कर्म की अवान्तर प्रकृतियों का नाम-निर्देश पूर्वक उल्लेख का सम्बन्ध है इससे पूर्व उत्तराध्ययन और स्थानांग में ये आ चुकी हैं। नाम कर्म की उत्तर प्रकृतियों की संख्या की दृष्टि से समवायांग के ग्रन्थ-बद्ध होने के बाद भी इसका विकास होता रहा क्योंकि आगे चलकर नाम कर्म की अवान्तर प्रकृतियों की संख्या क्रमशः 67, 93 और 103 तक प्राप्त होती है। मोहनीय कर्म के 52 नामों⁸⁷ का भी उल्लेख है जिसमें क्रोध कषाय के 10, मानकषाय के 11, माया कषाय के

17 और लोभ कषाय के 14 नाम सम्मिलित हैं।

समवायांग में विभिन्न जीवों की दृष्टि से अवान्तर कर्म प्रकृतियों की सत्ता का भी निर्देश 4 स्थलों पर आया है। 21वें समवाय में उल्लेख है कि दर्शनमोहत्रिक को क्षय करने वाले निवृत्तिबादर को मोहनीय कर्म की 21 अवान्तर प्रकृतियों की सत्ता रहती है।⁸⁸ 26वें समवाय में अभव्य सिद्धिक जीवों को मोहनीय कर्म के 26 कर्मांश प्रकृतियों की सत्ता रहती है।⁸⁹ 27वें समवाय में वेदक सम्यक्त्व के बन्ध रहित जीव के मोहनीय कर्म की 27 प्रकृतियों की सत्ता कही गई है।⁹⁰ इसी प्रकार 28वें समवाय में यह उल्लिखित है कि कितनेक भव्यसिद्धिक जीवों के मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्ता होती है।⁹¹

यद्यपि समवायांग में गुणस्थान पद नहीं आया है परन्तु चौदह जीवस्थान कहकर चौदह गुणस्थान गिना दिये गये हैं। कर्मों की विशुद्धि की गवेषणा करने वाले उपायों की अपेक्षा चौदह जीवस्थान कहे गये हैं।⁹² इस प्रकार समवायांग तक भले ही वर्तमान चौदह गुणस्थानों का अस्तित्व आ चुका था पर वे अभी जीवस्थान नाम से जाने जाते थे। विभिन्न आध्यात्मिक विकास वाले जीवों को बाँधने वाली कर्म प्रकृतियों का भी उल्लेख समवायांग में मिलता है -- सूक्ष्म सम्पराय भाव में वर्तमान सूक्ष्म सम्पराय भगवान् केवल सत्रह कर्म प्रकृतियों को बाँधते हैं।⁹³ संक्लिष्ट परिणाम वाले अपर्याप्तक मिथ्यादृष्टि विकलेन्द्रिय (द्वैन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) जीव नाम कर्म की 25 उत्तर प्रकृतियों को बाँधते हैं।⁹⁴ देवगति, नरकगति को बाँधने वाले जीव द्वारा 28 कर्म प्रकृतियों को बाँधने का भी निर्देश है।⁹⁵ इसी क्रम में प्रशस्त अद्यवसाय से युक्त सम्यग्दृष्टि भव्य जीव द्वारा तीर्थंकर नाम कर्म के अतिरिक्त नाम कर्म की 28 कर्म प्रकृतियों को बाँधकर नियमपूर्वक वैमानिक देवों में उत्पन्न होने का उल्लेख है।⁹⁶ समवायांग में आठों मूल प्रकृतियों की अवान्तर प्रकृतियों में से कुछ को समविष्ट कर और कुछ को छोड़कर उनका योग बताया गया है।⁹⁷ यद्यपि इसका कर्म-सिद्धान्त के विकास की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं है। इन पर दृष्टिपात करने से इसी तथ्य की पुष्टि होती है कि नाम कर्म को छोड़कर शेष सात कर्म-प्रकृतियों की संख्या नियत हो चुकी थी।

इसके अतिरिक्त मोहनीय कर्म के बन्ध और स्थिति से सम्बन्धित कुछ प्रकीर्ण सूचनायें मिलती हैं। समवायांग में मोहनीय कर्म-बन्ध के तीस कारण गिनाये हैं⁹⁸ जिनका निर्देश उत्तराध्ययन⁹⁹, आवश्यकसूत्र¹⁰⁰ और दशाश्रुतस्कन्ध¹⁰¹ में भी मिलता है। छेदसूत्र दशाश्रुत के नवें अध्याय (दशा) में इनका विस्तार से उल्लेख है। समवायांग की प्रस्तावना में श्री मधुकर मुनि ने बताया है कि टीकाकारों के अनुसार मोहनीय शब्द से सामान्य रूप से आठों कर्म और विशेष रूप से मोहनीय कर्म ग्रहण करना चाहिए।¹⁰² तात्पर्य यह है कि मोहनीय कर्म के इंगित कारणों को सामान्य कर्म-बन्ध के कारणों के रूप में भी लिया जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समवायांग में अवान्तर प्रकृतियों की दृष्टि से नाम कर्म की 42 उत्तर प्रकृतियों का नाम सहित निर्देश होना, मोहनीय कर्म के 52 नाम, मोहनीय कर्म बन्ध के 30 कारण, जीवस्थानों (गुणस्थानों) की दृष्टि से जीवों को बाँधने वाली कर्मप्रकृतियों की सूचना ये कुछ ऐसी विशेषतायें हैं जो कर्म-सिद्धान्त के विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं और कर्म-सिद्धान्त के विकासक्रम को द्योतित करती हैं।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. पं. दलसुख भाई मालवणिया, "आत्ममीमांसा" - जैन संस्कृति.संशोधन मण्डल, बनारस-5, 1953, 95
2. सं. डॉ. तुलसी राम शर्मा - ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 1976, 1/2/2
3. डॉ. रवीन्द्रनाथ मिश्र - जैन कर्म सिद्धान्त उद्भव एवं विकास, 65, पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी-5,1993, 6-18
4. मुणी मोणं समादाय धुणे कम्मसरीरंग, 1/2/6/163
आचारांग - अंगसुत्ताणि प्रथम, मुनि नथमल, जैन विश्वभारती लाडनू, प्रथम सं. 1974
5. डॉ. परमेष्ठीदास जैन - आचारांगसूत्र एक अध्ययन, पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी-5, 1987, 130
6. जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे, 1/1/5/93 - आचारांग - मुनि नथमल
7. से आयावाई, लोगावाई, कम्मावाई, किरियावाई, 1/1/5.वही।
8. अपरिणाय कम्मे खलु अयं पुरिसे... अणेगरूवाओ जोणीओ संघई, 1/1/1/8, वही,
एवं
से हु मुणी परिणाय कम्म, 1/1/1/12, वही।
9. कम्मणा उवाही जायइ, 1/3/1/8/9, वही।
10. अकम्मस्स, 1/3/1/18, वही।
11. णिककम्मदंसी, 1/3/2/35, वही।
12. वही, सन्दर्भ 3
13. कम्ममूलं च जं छण, 1/1/3/21, कामेसुगिद्धाणिचयं करोति, 1/1/3/31, वही।
14. मोहेण गबभं मरणाइ एति, 1/5/1/7, वही।
15. एगया गुण समियस्स रीयता कायसंफास समणुचिणससा एगतिया पाणा उददायंति।
इहल्लोग-वेयण वेज्जावडियं।। 1/5/4/71-72, वही।
16. जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा, 1/4/2/134, वही।
- 16a. सयमेव कडेहिं गाहंति, सं. मधुकर मुनि-सूत्रकृतांग-जैन आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, 1982, 2/1/4
17. जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं तमव आगच्छति सम्पराए एवं जहांकडं कम्मं तहासिभारे, वही, 5/2/23 एवं
5/1/26
18. सव्वे समयकम्मकप्पिया, वही, 2/3/17
19. वही, 2/3/17 व 2/1/4
20. से जाइजाइं बहुकूरकम्मे, जं कुव्वइ भिज्जइ तेण वाले।
21. वही, 1/2/26-27
22. वही,
23. वही,
24. वही, 2/21
25. पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहाऽवरं। वही, 8/3
26. वही, 8/3
27. दंसणावरणंतए -- वही, 15/1
28. वही, 7/7
29. वही, 8/8

डॉ. अशोक कुमार सिंह

- 29a. वही, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, २ अध्ययन
30. वही, 2/1/6
31. वही, 5/1/8
32. वही, 2/1/15
33. असेसकम्मं विसोहइत्ता अणुत्तरणं परमसिद्धि, 6/18, वही ।
34. सं. महोपाध्याय विनयसागर - ऋषिभाषित - प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 1988, 4/7
35. वही, 4/12,13
36. वही, 4/11, 12, 13 व 9/2-3-4
37. वही, 4/12, 13
38. वही, 9/7
39. वही, क्रमशः 38/8,9, 9/5, 9/7, 31/9
40. वही, 9/9
41. वही, 9/2-3
42. गच्छति कम्महिं -- से सकम्मसित्ते, वही, 2-3, 4/12-13
43. उत्तराध्ययन, सं. मधुकर मुनि - आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, 1984, 13/23-24
44. वही, 4/3
45. वही, 25/41-43
46. वही, 4/3 व 3/10-11
47. वही, क्रमशः 29/31, 17, 9, 22, 3/11, 10/3, 7/9 व 18/49
48. वही, 33/1-18
- 48a. उत्तराध्ययन, व्यावर
49. वही, 33/1-16
50. वही, 33/17
51. वही, 33/18
52. वही, 25/43
53. सं. मधुकर मुनि - स्थानांगसूत्र - आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, 1981, 2/2/77
54. वही, 2/4/424-431
55. वही, 2/4/431
56. वही, 5/2/9
57. वही, 9/14
58. वही, 9/69
59. वही, 4/4/579
60. वही, 4/4/582
61. वही, 33/15
62. स्थानांगसूत्र, व्यावर, 2/3/265
63. वही, 4/250
64. वही, 4/602-603
65. वही, 2/1/4

66. वही,
67. वही, 4/290
68. वही, 2/393
69. वही, 2/394
70. वही, 4/92-94
71. वही, 5/109
72. वही, 3/1/17-18
73. वही, 4/628-31
74. वही, 6/116-118
75. वही, 6/119-123
76. गोम्मतसार (जीवकाण्ड) 5/7 की टीका
77. स्थानांग,
78. वही, 2/75 व 6/43
79. वही,
80. वही, 4/4/581
81. वही, 2/1/4
82. वही, 4/658
83. वही, 83/4/527
84. वही, 4/1/142
85. वही, 4/1/144
86. सं. मधुकर मुनि - समवायांग - आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, 1982, 2/9
87. वही, 52/284
88. वही, 21/145
89. वही, 26/175
90. वही, 27/180
91. वही, 28/187
92. वही, 14/95
93. वही, 17/122
94. वही, 25/169
95. वही, 28/184
96. वही, 29/193
97. वही, 39/238, 52/286, 55/297, 58/303 आदि
98. वही, 30/196
99. उत्तराध्ययन, व्यावर, 31/19
100. सं. मधुकर मुनि आवश्यकसूत्र - आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, 1985, अध्याय 4
101. दशाश्रुतस्कन्ध - अनु. आत्माराम, जैनशास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, अध्याय 9, 1936
102. समवायांग - मधुकरमुनि - भूमिका, 34

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के गच्छों का सामान्य परिचय

- शिवप्रसाद

विश्व के सभी धर्म एवं सम्प्रदाय अपने उद्भव के पश्चात् कालान्तर में अनेक शाखाओं-उपशाखाओं आदि में विभाजित होते रहे हैं। जैनधर्म भी इसका अपवाद नहीं है। यह विभाजन अनेक कारणों से होता रहा है और इनमें सबसे प्रधान कारण रहा है -- देश और काल की परिवर्तनशील परिस्थितियाँ एवं परिवेश। इन्हीं के फलस्वरूप परम्परागत प्राचीन विधि-विधानों के स्थान पर नवीन विधि-विधानों और मान्यताओं को प्रश्रय देने से मूल परम्परा में विभेद उत्पन्न हो जाता है। कभी-कभी यह मतभेद वैयक्तिक अहं की पुष्टि और नेतृत्व के प्रश्न को लेकर भी होता है, फलतः एक नई शाखा अस्तित्व में आ जाती है। पुनः इन्हीं कारणों से उसमें भी भेद होता है और नई-नई उपशाखाओं का उदय होता रहता है।

निर्गन्ध श्रमण संघ में भगवान् महावीर के समय में ही गोशालक¹ एवं जामालि² ने संघभेद के प्रयास किये, परन्तु गोशालक आजीवक संघ में सम्मिलित हो गया और जामालि की शिष्य-परम्परा आगे नहीं चल सकी।

वीरनिर्वाण के बाद की शताब्दियों में निर्गन्ध श्रमण संघ विभिन्न गण, शाखा, कुल और अन्वयों में विभक्त होता गया। कल्पसूत्र³ और नन्दीसूत्र⁴ की स्थविरावलियों में वीरनिर्वाण सम्वत् 980 अर्थात् विक्रम सम्वत् की 5वीं-6ठीं शताब्दी तक उत्तर भारत की जैन परम्परा में कौन-कौन से जैन आचार्यों से कौन-कौन से गण, कुल और शाखाओं का जन्म हुआ, इसका सुविस्तृत विवरण संकलित है। ये सभी गण कुल और शाखायें गुरु-परम्परा विशेष से ही सम्बद्ध रही हैं। इनके धार्मिक विधि-विधानों में किसी प्रकार का मतभेद था या नहीं, यदि मतभेद था, तो किस प्रकार का था ? इन बातों की जानकारी हेतु हमारे पास कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं है।

निर्गन्ध श्रमण संघ के जो श्रमण दक्षिण में चले गये थे, वे भी कालान्तर में गणों एवं अन्वयों में विभाजित हुए। यह परम्परा दिगम्बर सम्प्रदाय के रूप में जानी गयी।

उत्तर भारत के निर्गन्ध संघ में लगभग दूसरी शती में वस्त्र के प्रश्न को लेकर संघ भेद हुआ और एक नवीन परम्परा का उद्भव हुआ जो आगे चलकर कोटिक या यापनीय नाम से प्रसिद्ध हुई।⁵ पीछे से जो संघभेद हुए उनके मूल में सैद्धान्तिक विधि-विधान सम्बन्धी भेद अवश्य विद्यमान रहे, किन्तु यहाँ इन सब की चर्चा न करते हुए मात्र श्वेताम्बर सम्प्रदाय में समय-समय पर उत्पन्न एवं विकसित हुए विभिन्न गच्छों की चर्चा प्रस्तुत की गयी है।

उत्तर और पश्चिम भारत का श्वेताम्बर संघ प्रारम्भ में तो वारणगण, मानवगण, उत्तरवल्लिसहगण आदि अनेक गणों और उनकी कुल-शाखाओं में विभक्त था, किन्तु कालान्तर में कोटिक गण को छोड़कर शेष सभी कुल और शाखायें समाप्त हो गयीं। आज के श्वेताम्बर मुनिजन स्वयं को इसी कोटिकगण से सम्बद्ध मानते हैं। इस गण से भी अनेक शाखायें अस्तित्व में आयीं। उनमें उच्चनागरी, विद्याधरी, वज्री, माध्यमिका, नागिल, पद्मा, जयति आदि शाखायें प्रमुख रूप से प्रचलित रहीं।⁶ इन्हीं से आगे चलकर नागेन्द्र, निवृत्ति, चन्द्र और विद्याधर ये चार कुल अस्तित्व में आये।⁷ पूर्व मध्ययुगीन श्वेताम्बर गच्छों का इन्हीं से प्रादुर्भाव हुआ।

ईस्वी सन् की छठीं-सातवीं शताब्दी से ही श्वेताम्बर श्रमण परम्परा को पश्चिमी भारत [गुजरात और राजस्थान] में राजाश्रय प्राप्त होने से इसका विशेष प्रचार-प्रसार हुआ, फलस्वरूप वहाँ अनेक नये-नये जिनालयों

का निर्माण होने लगा। जैन मुनि भी अब वनों को छोड़कर जिनालयों के साथ संलग्न भवनों [चैत्यालयों] में निवास करने लगे। स्थिरवास एवं जिनालयों के स्वामित्व प्राप्त होने के फलस्वरूप इन श्रमणों में अन्य दोषों के साथ-साथ परस्पर विद्वेष एवं अहंभाव का भी अंकुरण हुआ। इनमें अपने-अपने अनुयायियों की संख्या में वृद्धि करने की होड़ सी लगी हुई थी। इन्हीं परिस्थितियों में श्वेताम्बर श्रमणसंघ विभिन्न नगरों, जातियों, घटनाविशेष तथा आचार्यविशेष के आधार पर विभाजित होने लगा। विभाजन की यह प्रक्रिया दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में तेजी से प्रारम्भ हुई, जिसका क्रम आगे भी जारी रहा।

श्वेताम्बर श्रमणों का एक ऐसा भी वर्ग था जो श्रमणावस्था में सुविधावाद के पनपने से उत्पन्न शिथिलाचार का कट्टर विरोधी था। आठवीं शताब्दी में हुए आचार्य हरिभद्र ने अपने समय के चैत्यवासी श्रमणों के शिथिलाचार का अपने ग्रन्थ सम्बोधप्रकरण⁸ में विस्तृत वर्णन किया है और इनके विरुद्ध अपनी आवाज उठायी है। चैत्यवासियों पर इस विरोध का प्रतिकूल असर पड़ा और उन्होंने सुविहितमार्गीय श्रमणों का तरह-तरह से विरोध करना प्रारम्भ किया। गुर्जर प्रदेश में तो उन्होंने चावड़ा वंशीय शासक वनराज चावड़ा से राजाजा जारी करा सुविहितमार्गीयों का प्रवेश ही निषिद्ध करा दिया। फिर भी सुविहितमार्गीय श्रमण शिथिलाचारी श्रमणों के आगे नहीं झुके और उन्होंने चैत्यवास का विरोध जारी रखा। अन्ततः चौलुक्य नरेश दुर्लभराज [वि.सं. 1066-1082] की राजसभा में चन्द्रकुलीन वर्द्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि ने चैत्यवासियों को शास्त्रार्थ में पराजित कर गुर्जरभूमि में सुविहितमार्गीयों के विहार और प्रवास को निष्कटक बना दिया।⁹

कालदोष से सुविहितमार्गीय श्रमण भी परस्पर मतभेद के शिकार होकर समय-समय पर बिखरते रहे, फलस्वरूप नये-नये गच्छ (समुदाय) अस्तित्व में आते रहे। जैसे चन्द्रकुल की एक शाखा वडगच्छ से पूर्णमागच्छ, सार्धपूर्णमागच्छ, सत्यपुरीयशाखा आदि अनेक शाखायें-उपशाखायें अस्तित्व में आयीं। इसी प्रकार खरतरगच्छ से भी कई उपशाखाओं का उदय हुआ।

जैसा कि लेख के प्रारम्भ में कहा जा चुका है एक स्थान पर स्थायी रूप से रहने की प्रवृत्ति से मुनियों एवं श्रावकों के मध्य स्थायी सम्पर्क बना, फलस्वरूप उनकी प्रेरणा से नये-नये जिनालयों एवं वसतियों का द्रुतगति से निर्माण होने लगा। स्थानीयकरण की इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप स्थानों के नाम पर ही कुछ गच्छों का भी नामकरण होने लगा, यथा कोरटा नामक स्थान से कोरंटगच्छ, नाणा नामक स्थान से नाणकीयागच्छ, ब्रह्मण (आधुनिक वरमाण) नामक स्थान से ब्रह्माणगच्छ, संडेर (वर्तमान सांडेराव) नामक स्थान से संडेरगच्छ, हरसोर नामक स्थान से हर्षपुरीयगच्छ, पल्ली (वर्तमान पाली) नामक स्थान से पल्लीवालगच्छ आदि अस्तित्व में आये। यद्यपि स्थानविशेष के आधार पर ही इन गच्छों का नामकरण हुआ था, किन्तु सम्पूर्ण पश्चिमी भारत के प्रमुख जैन तीर्थों एवं नगरों में इन गच्छों के अनुयायी श्रमण एवं श्रावक विद्यमान थे। यह बात सम्पूर्ण पश्चिमी भारत के विभिन्न स्थानों में इनके आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठापित प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण लेखों से ज्ञात होती है।

कुछ गच्छ तो घटनाविशेष के कारण ही अस्तित्व में आये। जैसे चन्द्रकुल के आचार्य धनेश्वरसूरि [वादमहार्णव के रचनाकार अभयदेवसूरि के शिष्य] साधुजीवन के पूर्व कर्दम नामक राजा थे, इसी आधार पर उनके शिष्य राजगच्छीय कहलाये।

इसी प्रकार आचार्य उद्योतनसूरि ने आबू के समीप स्थित टेली नामक ग्राम में वटवृक्ष के नीचे सर्वदेवसूरि आदि 8 मुनियों को एक साथ आचार्यपद प्रदान किया। वटवृक्ष के आधार पर इन मुनिजनों का शिष्य परिवार वटगच्छीय कहलाया। वटवृक्ष के समान ही इस गच्छ की अनेक शाखायें-उपशाखायें अस्तित्व में आयीं, अतः इसका एक नाम बृहद्गच्छ भी पड़ गया। इसी प्रकार खरतरगच्छ, आगमिकागच्छ, पूर्णमागच्छ, सार्धपूर्णमागच्छ, अंचलगच्छ, पिप्लगच्छ आदि भी घटनाविशेष से ही अस्तित्व में आये।

चाहमाननरेश अणोराज [ई. सन् 1139-1153] की राजसभा में दिगम्बर आचार्य कुलचन्द्र को शास्त्रार्थ में पराजित करने वाले आचार्य धर्मघोषसूरि राजगच्छीय आचार्य शीलभद्रसूरि के शिष्य थे। चूँकि ये अपने जीवनकाल में यथेष्ट प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे, अतः इनकी मृत्यु के पश्चात् इनकी शिष्य संतति धर्मघोषगच्छीय कहलायी।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न कारणों से श्वेताम्बर श्रमणसंघ का विभाजन होता रहा और नये-नये गच्छ अस्तित्व में आते रहे। इन गच्छों का इतिहास जैनधर्म के इतिहास का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अध्याय है, परन्तु इस ओर अभी तक विद्वानों का ध्यान बहुत कम ही है। आज से लगभग 40 वर्ष पूर्व महान् साहित्यसेवी स्व. श्री अगारचन्द जी नाहटा ने यतीन्द्रसूरि अभिनन्दनग्रन्थ¹⁰ में "जैन श्रमणों के इतिहास पर संक्षिप्त प्रकाश" नामक लेख प्रकाशित किया था और लेख के प्रारम्भ में ही विद्वानों से यह अपेक्षा की थी कि वे इस कार्य के लिये आगे आयें। स्व. नाहटा जी के उक्त कथन को आदेश मानते हुए प्रो. एम. ए. ढांकी और प्रो. सागरमल्ल जैन की प्रेरणा और सहयोग से मैंने श्वेताम्बर श्रमणों के गच्छों के इतिहास लेखन का कार्य प्रारम्भ किया है। यद्यपि मैंने साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर विभिन्न गच्छों का इतिहास लिखने का प्रयास किया है, किन्तु प्रस्तुत लेख में गच्छों का मात्र परिचयात्मक विवरण आवश्यक होने से नाहटा जी के उक्त लेख का अनुसरण करते हुए गच्छों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है।

अंचलगच्छ अपरनाम विधिपक्ष वि.सं. 1159 या 1169 में उपाध्याय विजयचन्द्र [बाद में आर्यरक्षितसूरि] द्वारा विधिपक्ष का पालन करने के कारण उनकी शिष्य-संतति विधिपक्षीय कहलायी।¹¹ प्रचलित मान्यता के अनुसार इस गच्छ के अनुयायी श्रावकों द्वारा मुंहपत्ती के स्थान पर वस्त्र के झोर (अंचल) से वन्दन करने के कारण अंचलगच्छ नाम प्रचलित हुआ। इस गच्छ में अनेक विद्वान् आचार्य और मुनिजन हुए हैं, परन्तु उनमें से कुछ आचार्यों की कृतियाँ आज उपलब्ध होती हैं। इस गच्छ से सम्बद्ध बड़ी संख्या में प्रतिमालेख प्राप्त होते हैं।¹² इनमें प्राचीनतम लेख वि.सं. 1206 का है। अपने उदय से लेकर आज तक इस गच्छ की अविच्छिन्न परम्परा विद्यमान है।

आगमिकगच्छ¹³ पूर्णिमापक्षीय शीलगुणसूरि और उनके शिष्य देवभद्रसूरि द्वारा जीवदयाण तक का शक्रस्तव, 67 अक्षरों का परमेष्ठीमंत्र और तीनस्तुति से देववन्दन आदि बातों में आगमों का समर्थन करने के कारण वि.सं. 1214 या वि.सं. 1250 में आगमिकगच्छ या त्रिस्तुतिकमत की उत्पत्ति हुई। इस गच्छ में यशोभद्रसूरि, सर्वाणंदसूरि, विजयसिंहसूरि, अमरसिंहसूरि, हेमरत्नसूरि, अमररत्नसूरि, सोमप्रभसूरि, आनन्दप्रभसूरि आदि कई प्रभावक आचार्य हुए जिन्होंने साहित्यसेवा और धार्मिक क्रियाकलापों से श्वेताम्बर श्रमणसंघ को जीवन्त बनाये रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।

आगमिकगच्छ से सम्बद्ध विपुल परिमाण में आज साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्य उपलब्ध होते हैं। साहित्यिक साक्ष्यों के अन्तर्गत इस गच्छ के मुनिजनों द्वारा लिखे गये ग्रन्थों की प्रशस्तियाँ तथा कुछ पट्टावलियाँ आदि हैं। इस गच्छ से सम्बद्ध लगभग 200 प्रतिमालेख प्राप्त होते हैं जो वि.सं. 1420 से लेकर वि.सं. 1683 तक के हैं। उपलब्ध साक्ष्यों से इस गच्छ की दो शाखाओं-धंघूकीया और विलाबंडीया का पता चलता है।

उपकेशगच्छ¹⁴ पूर्वमध्यकालीन और मध्यकालीन श्वेताम्बर परम्परा में उपकेशगच्छ का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। जहाँ अन्य सभी गच्छ भगवान महावीर से अपनी परम्परा जोड़ते हैं, वहीं उपकेशगच्छ अपना सम्बन्ध भगवान पार्श्वनाथ से जोड़ता है। अनुश्रुति के अनुसार इस गच्छ का उत्पत्ति स्थल उपकेशपुर (वर्तमान ओसिया-राजस्थान) माना जाता है। परम्परानुसार इस गच्छ के आदिम आचार्य रत्नप्रभसूरि ने वीर सम्वत् 70 में ओसवालगच्छ की स्थापना की, परन्तु किसी भी प्राचीन ऐतिहासिक साक्ष्य से इस बात की पुष्टि नहीं होती। ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर ओसवालों की स्थापना और इस गच्छ की उत्पत्ति का समय ई. सन् की

आठवीं शती के पूर्व नहीं माना जा सकता।

उपकेशगच्छ में कक्कसूरि, देवगुप्तसूरि और सिद्धसूरि इन तीन पट्टधर आचार्यों के नामों की प्रायः पुनरावृत्ति होती रही है, जिससे प्रतीत होता है कि इस गच्छ के अनुयायी श्रमण चैत्यवासी रहे होंगे। इस गच्छ में कई प्रभावक और विद्वान् आचार्य हो चुके हैं जिन्होंने साहित्योपासना के साथ-साथ नवीन जिनालयों के निर्माण, प्राचीन जिनालयों के जीर्णोद्धार तथा जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठापना द्वारा पश्चिम भारत में श्वेताम्बर श्रमण परम्परा को जीवन्त बनाये रखने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

अन्यान्य गच्छों की भाँति उपकेशगच्छ से भी कई अवान्तर शाखाओं का जन्म हुआ। जैसे वि.सं. 1266/ई.सन् 1210 में द्विवेदनीक शाखा, वि.सं. 1308/ई.सन् 1252 में खरतपाशाखा तथा वि.सं. 1498/ई.सन् 1442 में खादिरीशाखा अस्तित्व में आयी। इसके अतिरिक्त इस गच्छ की दो अन्य शाखाओं-ककुदाचार्यसंतानीय और सिद्धाचार्यसंतानीय का भी पता चलता है, किन्तु इनकी उत्पत्तिकाल के सम्बन्ध में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती।

उपकेशगच्छ के इतिहास से सम्बद्ध पर्याप्त संख्या में इस गच्छ के मुनिजनों के कृतियों की प्रशस्तियाँ, मुनिजनों के अध्ययनार्थ या उनकी प्रेरणा से प्रतिलिपि करायी गयी प्राचीन ग्रन्थों की दाताप्रशस्तियाँ तथा दो प्रबन्ध [उपकेशगच्छप्रबन्ध और नाभिनन्दनजिनोद्धारप्रबन्ध - रचनाकाल वि.सं. 1393/ई.सन् 1336] और उपकेशगच्छ की कुछ पट्टावलियाँ उपलब्ध हैं।

इस गच्छ के मुनिजनों द्वारा प्रतिष्ठापित बड़ी संख्या में जिनप्रतिमायें प्राप्त होती हैं जिनमें से अधिकांश लेखयुक्त हैं। इसके अतिरिक्त इस गच्छ के मुनिजनों की प्रेरणा से निर्मित सर्वतोभद्रयंत्र, पंचकल्याणकपट्ट, तीर्थङ्करों के गणधरों की चरणपादुका आदि पर भी लेख उत्कीर्ण हैं। ये सब लेख वि.सं. 1011 से वि.सं. 1918 तक के हैं। उपकेशगच्छ के इतिहास के लेखन में उक्त साक्ष्यों का विशिष्ट महत्त्व है।

उपकेशगच्छीय साक्ष्यों के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि वि.सं. की 10वीं शताब्दी से लेकर वि.सं. की 16वीं शताब्दी तक इस गच्छ के मुनिजनों का समाज पर विशेष प्रभाव रहा, किन्तु इसके पश्चात् इसमें न्यूनता आने लगी, फिर भी 20वीं शती के प्रारम्भ तक निर्विवादरूप से इस गच्छ का स्वतन्त्र अस्तित्व बना रहा।¹⁵

काशहृद-गच्छ अर्बुदगिरी की तलहटी में स्थित काशहृद (वर्तमान कासीन्द्रा या कायन्द्रा) नामक स्थान से इस गच्छ की उत्पत्ति मानी जाती है। जालिहरगच्छ के देवप्रभसूरि द्वारा रचित पद्मप्रभघरित [रचनाकाल वि.सं. 1254/ई.सन् 1198] की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि काशहृद और जालिहर ये दोनों विद्याधरगच्छ की शाखायें हैं।¹⁶ यह गच्छ कब अस्तित्व में आया, इस गच्छ के आदिम आचार्य कौन थे, इस बारे में कोई सूचना प्राप्त नहीं होती। प्रश्नशतक और ज्योतिषघतुर्विंशतिका के रचनाकार नरचन्द्र उपाध्याय इसी गच्छ के थे। प्रश्नशतक का रचनाकाल वि.सं. 1324/ई.सन् 1268 माना जाता है। विक्रमघरित [रचनाकाल वि.सं. 1471/ई.सन् 1415 के आस-पास] के रचनाकार उपाध्याय देवमूर्ति इसी गच्छ के थे।¹⁷ इस गच्छ से सम्बद्ध कुछ प्रतिमालेख भी प्राप्त होते हैं जो वि.सं. 1222 से वि.सं. 1416 तक के हैं।

उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर विक्रम सम्वत् की 13वीं शती से 15वीं शती के अन्त तक इस गच्छ का अस्तित्व सिद्ध होता है। इस गच्छ से सम्बद्ध साक्ष्यों की विरलता को देखते हुए यह माना जा सकता है कि अन्य गच्छों की अपेक्षा इस गच्छ के अनुयायी श्रावकों और श्रमणों की संख्या अल्प थी। 16वीं शती से इस गच्छ से सम्बद्ध साक्ष्यों के नितान्त अभाव से यह कहा जा सकता है कि इस गच्छ के अनुयायी मुनिजन और श्रावक किन्हीं अन्य बड़े गच्छ में सम्मिलित हो गये होंगे।

कृष्णर्षिगच्छ¹⁸ प्राक्मध्ययुगीन और मध्ययुगीन श्वेताम्बर आम्नाय के गच्छों में कृष्णर्षिगच्छ भी एक है। आचार्य वटेश्वर क्षमाश्रमण के प्रशिष्य और यक्षमहत्तर के शिष्य कृष्णमुनि की शिष्य संतति अपने गुरु के नाम पर कृष्णर्षिगच्छीय कहलायी। धर्मोपदेशमालाविवरण [रचनाकाल वि.सं. 915/ई.सन् 859] के रचयिता जयसिंहसूरि, प्रभावकशिरोमणि प्रसन्नचन्द्रसूरि, निस्पृहशिरोमणि महेन्द्रसूरि, कुमारपालचरित [वि.सं. 1422/ई.सन् 1366] के रचनाकार जयसिंहसूरि, हम्मिरमहाकाव्य [रचनाकाल वि.सं. 1444/ई.सन् 1386] और रम्भाभंजरीनाटिका के कर्ता नयचन्द्रसूरि इसी गच्छ के थे। इस गच्छ में जयसिंहसूरि, प्रसन्नचन्द्रसूरि, नयचन्द्रसूरि इन तीन पट्टधर आचार्यों के नामों की पुनरावृत्ति मिलती है, जिससे अनुमान होता है कि यह चैत्यवासी गच्छ था। इस गच्छ से सम्बद्ध पर्याप्त संख्या में अभिलेखीय साक्ष्य भी प्राप्त हुए हैं जो वि.सं. 1287 से वि.सं. 1616 तक के हैं।

अभिलेखीय साक्ष्यों से इस गच्छ की कृष्णर्षितपाशाखा का भी उल्लेख प्राप्त होता है। इस शाखा के वि.सं. 1450 से 1473 तक के लेखों में पुण्यप्रभसूरि, वि.सं. 1483-1487 के लेखों में शिष्य जयसिंहसूरि तथा वि.सं. 1503-1508 के लेखों में जयसिंहसूरि के प्रथम पट्टधर जयशेखरसूरि तथा वि.सं. 1510 के एक लेख में उनके द्वितीय पट्टधर कमलचन्द्रसूरि का प्रतिमाप्रतिष्ठापक के रूप में उल्लेख प्राप्त होता है, किन्तु इस शाखा के प्रवर्तक कौन थे, यह शाखा कब अस्तित्व में आयी, इस सम्बन्ध में कोई सूचना प्राप्त नहीं होती।

वि.सं. की 17वीं शती के पश्चात् कृष्णर्षिगच्छ से सम्बद्ध साक्ष्यों का अभाव है। इससे प्रतीत होता है कि इस समय तक इस गच्छ का अस्तित्व समाप्त हो चुका था।

कोरंटगच्छ¹⁹ आबू के निकट कोरटा [प्राचीन कोरंट] नामक स्थान से इस गच्छ की उत्पत्ति मानी जाती है। उपकेशगच्छ की एक शाखा के रूप में इस गच्छ की मान्यता है। इस गच्छ के पट्टधर आचार्यों को कक्कसूरि, सर्वदेवसूरि और नन्नसूरि ये तीन नाम पुनः पुनः प्राप्त होते रहे। इस गच्छ का सर्वप्रथम उल्लेख वि.सं. 1201 के एक प्रतिमालेख में और अन्तिम उल्लेख वि.सं. 1619 में प्रतिलिपि की गयी राजप्रशनीयसूत्र की दाताप्रशस्ति में प्राप्त होता है। इस गच्छ से सम्बद्ध मात्र कुछ दाताप्रशस्तियाँ तथा बड़ी संख्या में प्रतिमालेख प्राप्त होते हैं। ये लेख वि.सं. 1612 तक के हैं। लगभग 400 वर्षों के अपने अस्तित्वकाल में इस गच्छ के अनुयायी श्रमण शास्त्रों के पठन-पाठन की अपेक्षा जिनप्रतिमा की प्रतिष्ठा में अधिक सक्रिय रहे।

खंडिलगच्छ²⁰ इस गच्छ के कई नाम मिलते हैं यथा भावडारगच्छ, कालिकाचार्यसंतानीय, भावडगच्छ, भावदेवाचार्यगच्छ, खंडिल्लगच्छ आदि। प्रभावकचरित में चन्द्रकुल की एक शाखा के रूप में इस गच्छ का उल्लेख मिलता है। इस गच्छ में पट्टधर आचार्यों को भावदेवसूरि, विजयसिंहसूरि, वीरसूरि और जिनदेवसूरि ये चार नाम पुनः पुनः प्राप्त होते रहे। पार्श्वनाथचरित [रचनाकाल वि.सं. 1412/ई.सन् 1356] के रचनाकार भावदेवसूरि इसी गच्छ के थे। इसकी प्रशस्ति के अन्तर्गत उन्होंने अपनी गुरु-परम्परा दी है, जो इस प्रकार है--

भावदेवसूरि
|
विजयसिंहसूरि
|
वीरसूरि
|
जिनदेवसूरि
|

भाक्देवसूरि

|

विजयदेवसूरि

|

वीरसूरि

|

जिनदेवसूरि

|

यशोभद्रसूरि

भाक्देवसूरि

[वि.सं. 1412/ई.सन् 1356 में पार्श्वनाथचरित के रचनाकार]

कालकाचार्यकथा, यतिदिनधर्या, अलंकारसार, भक्तामरटीका आदि के कर्ता भाक्देवसूरि को ब्राउन ने पार्श्वनाथचरित के कर्ता उपरोक्त भाक्देवसूरि से अभिन्न माना है।

इस गच्छ से सम्बद्ध अनेक प्रतिमालेख मिले हैं जो वि.सं. 1196 से वि.सं. 1664 तक के हैं। निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि वि.सं. की 12वीं शती में यह गच्छ अस्तित्व में आया और वि.सं. की 17वीं शती के अन्तिमचरण तक विद्यमान रहा। इसके पश्चात् इस गच्छ का कोई उल्लेख न मिलने से यह प्रतीत होता है कि इस गच्छ के अनुयायी अन्य किन्हीं गच्छों में सम्मिलित हो गये होंगे।

खरतरगच्छ चन्द्रकुल के आचार्य वर्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि ने चौलुक्य नरेश दुर्लभराज की राजसभा में शास्त्रार्थ में चैत्यवासियों को परास्त किया, जिससे प्रसन्न होकर राजा द्वारा उन्हें 'खरतर' का विरुद्ध प्राप्त हुआ। इस घटना से गुर्जरभूमि में सुविहितमार्गीय श्रमणों का विहार प्रारम्भ हो गया। जिनेश्वरसूरि की शिष्य-सन्तति खरतरगच्छीय कहलायी। इस गच्छ में अनेक प्रभावशाली और प्रभावक आचार्य हुए और आज भी हैं। इस गच्छ के आचार्यों ने साहित्य की प्रत्येक विधाओं को अपनी लेखनी द्वारा समृद्ध किया, साथ ही जिनालयों के निर्माण, प्राचीन जिनालयों के पुनर्निर्माण एवं जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा में भी सक्रियरूप से भाग लिया।²¹

युगप्रधानाचार्यगुर्वावली²² में इस गच्छ के 11वीं शती से 14वीं शती के अन्त तक के आचार्यों का जीवनचरित्र दिया गया है जो न केवल इस गच्छ के अपितु भारतवर्ष के तत्कालीन राजनैतिक इतिहास की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त इस गच्छ से सम्बद्ध अनेक विज्ञापित्त्र, पट्टावलियाँ, गुर्वावलियाँ, ऐतिहासिक रास, ऐतिहासिक गीत आदि मिलते हैं जो इसके इतिहास के अध्ययन के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। अन्यान्य गच्छों की भाँति इस गच्छ की भी कई शाखायें अस्तित्व में आयीं, जो इस प्रकार हैं --

1. मधुकरा शाखा -- आचार्य जिनवल्लभसूरि के समय वि.सं. 1167/ई.सन् 1111 में यह शाखा अस्तित्व में आयी।

2. रुद्रपल्लीशाखा -- वि.सं. 1204 में आचार्य जिनेश्वरसूरि से यह शाखा अस्तित्व में आयी। इस शाखा में अनेक विद्वान् आचार्य हुए। श्री अगारचन्द नाहटा के अनुसार वि.सं. की 17वीं शती तक इस शाखा का अस्तित्व रहा।

3. लघुखरतरशाखा -- वि.सं. 1331/ई.सन् 1275 में आचार्य जिनसिंहसूरि से इस शाखा का उदय

हुआ। अन्यान्य ग्रन्थों के रचनाकार, सुल्तान मुहम्मद तुगलक के प्रतिबोधक शासनप्रभावक आचार्य जिनप्रभसूरि इसी शाखा के थे। वि.सं. की 18वीं शती तक इस शाखा का अस्तित्व रहा।

4. बेगड़ शाखा -- वि.सं. 1422 में यह शाखा अस्तित्व में आयी। जिनेश्वरसूरि इस शाखा के प्रथम आचार्य हुए।

5. पिप्पलकशाखा -- वि.सं. 1474 में जिनवर्धनसूरि द्वारा इस शाखा का उदय हुआ। श्री नाहटा के अनुसार पिप्पलक नामक स्थान से सम्बद्ध होने से यह पिप्पलकशाखा के नाम से जाना गया।

इसी नाम की एक शाखा वडगच्छीय शांतिसूरि के शिष्य महेन्द्रसूरि, विजयसिंहसूरि आदि के द्वारा वि.सं. 1181/ई.सन् 1125 में अस्तित्व में आयी।

6. आद्यपक्षीयशाखा -- वि.सं. 1564 में आचार्य जिनदेवसूरि से यह शाखा अस्तित्व में आयी। इस शाखा की एक गद्दी पाली में थी।

7. भावहर्षीयाशाखा -- वि.सं. 1621 में भावहर्षसूरि से इसका उदय हुआ। इस शाखा की एक गद्दी बालोतरा में है।

8. लघुआचार्यशाखा -- आचार्य जिनसागरसूरि से वि.सं. 1686 में यह शाखा अस्तित्व में आयी। इसकी गद्दी बीकानेर में विद्यमान है।

9. जिनरंगसूरिशाखा -- यह शाखा वि.सं. 1700 में जिनरंगसूरि से प्रारम्भ हुई। इसकी गद्दी वर्तमान में लखनऊ में है।

10. श्रीसारीयशाखा -- वि.सं. 1700 के लगभग यह शाखा अस्तित्व में आयी, परन्तु शीघ्र ही नामशेष हो गयी।

11. मंडोवराशाखा -- जिनमहेन्द्रसूरि द्वारा वि.सं. 1892 में मंडोवरा नामक स्थान से इसका उदय हुआ। इसकी एक गद्दी जयपुर में विद्यमान है।

श्रीअगरचन्द नाहटा और श्री भंवरलाल नाहटा ने इस गच्छ की साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों का न केवल संकलन और प्रकाशन किया है, अपितु उनका सम्यक् अध्ययन भी समाज के सम्मुख रखा है।

चन्द्रगच्छ चन्द्रकुल ही आगे चलकर चन्द्रगच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। राजगच्छ, वडगच्छ, खरतरगच्छ, पूर्णतिल्लगच्छ, भावडारगच्छ, पूर्णिमागच्छ आदि कई गच्छ चन्द्रकुल से ही अस्तित्व में आये। इस गच्छ से सम्बद्ध कई प्रतिमालेख मिलते हैं जो वि.सं. 1072 से वि.सं. 1552 तक के हैं। मुनिपतिघरित्र [रचनाकाल वि.सं. 1005] एवं जिनशतककाव्य [रचनाकाल वि.सं. 1025] के रचयिता जम्बूकवि अपरनाम जम्बूनाग इसी गच्छ के थे। सनत्कुमारघरित के रचनाकार चन्द्रसूरि भी इसी गच्छ के थे। इसी गच्छ के शिवप्रभसूरि के शिष्य श्रीतिलकसूरि ने वि.सं. 1261 में प्रत्येकबुद्धघरित की रचना की। वसन्तविलास के रचनाकार बालचन्द्रसूरि, प्रसिद्ध ग्रन्थ संशोधक प्रद्युम्नसूरि, शीलवतीकथा के रचनाकार उदयप्रभसूरि इसी गच्छ के थे।²³ इस गच्छ के सम्बन्ध में विशेष विवरण अन्वेषणीय है।

चैत्रगच्छ मध्ययुगीन श्वेताम्बर गच्छों में चैत्रगच्छ भी एक है। चैत्रपुर नामक स्थान से इस गच्छ की उत्पत्ति मानी जाती है। इस गच्छ के कई नाम मिलते हैं यथा -- चैत्रवालगच्छ, चित्रवालगच्छ, चित्रपल्लीयगच्छ, चित्रगच्छ आदि। धनेश्वरसूरि इस गच्छ के आदिम आचार्य माने जाते हैं। इनके पट्टधर भुवनचन्द्रसूरि हुए जिनके प्रशिष्य

और देवभद्रसूरि के शिष्य जगच्चन्द्रसूरि से वि.सं. 1285/ई. सन् 1229 में तपागच्छ का प्रादुर्भाव हुआ। देवभद्रसूरि के अन्य शिष्यों से चैत्रगच्छ की अविच्छिन्न परम्परा जारी रही। सम्यकत्वकौमुदी [रचनाकाल वि.सं. 1504/ई. सन् 1448] और भक्तामरस्तवटीका के रचनाकार गुणाकरसूरि इसी गच्छ के थे।²⁴

चैत्रगच्छ से सम्बद्ध बड़ी संख्या में अभिलेखीय साक्ष्य प्राप्त होते हैं, जो वि.सं. 1265 से वि.सं. 1591 तक के हैं। इस गच्छ से कई अवान्तर शाखाओं का जन्म हुआ, जैसे -- भर्तृपुरीयशाखा, धारणपद्रीयशाखा, चतुर्दशीयशाखा, चान्द्रसामीयशाखा, सलषणपुराशाखा, कम्बोइयाशाखा, अष्टापदशाखा, शार्दूलशाखा आदि।

जाल्योधरगच्छ विद्याधरगच्छ की द्वितीयशाखा के रूप में इस गच्छ का उदय हुआ। यह शाखा कब और किस कारण अस्तित्व में आयी, इसके पुरातन आचार्य कौन थे, साक्ष्यों के अभाव में ये प्रश्न अनुत्तरित हैं। इस गच्छ से सम्बद्ध मात्र दो प्रशस्तियाँ -- नन्दिपददुर्गवृत्ति की दाताप्रशस्ति [प्रतिलेखनकाल वि.सं. 1226/ई.सन् 1160] और पद्मप्रभचरित [रचनाकाल वि.सं. 1254/ई.सन् 1198] की प्रशस्ति ही मिलती है। पद्मप्रभचरित की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि यह गच्छ विद्याधरगच्छ की एक शाखा थी।²⁵

इस गच्छ से सम्बद्ध कुछ अभिलेखीय साक्ष्य भी मिलते हैं जो वि.सं. 1213 से वि.सं. 1423 तक के हैं।²⁶ ग्रन्थ प्रशस्तियों और अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर इस गच्छ के मुनिजनों के गुरु-परम्परा की एक तालिका बनती है, जो इस प्रकार है --

बालचन्द्रसूरि

|

गुणभद्रसूरि [वि.सं. 1226 की नन्दीदुर्गपदवृत्ति में उल्लिखित]

|

सर्वाणंदसूरि [पार्श्वनाथचरित-अनुपलब्ध के रचनाकार]

|

धर्मघोषसूरि

|

देवसूरि [वि.सं. 1254/ई.सन् 1198 में पद्मप्रभचरित के रचनाकार]

|

हरिभद्रसूरि [वि.सं. 1296/ई.सन् 1240 प्रतिमालेख - घोघा]

|

|
हरिप्रभसूरि

|
चन्द्रसूरि

|

विबुधप्रभसूरि [वि.सं. 1392 प्रतिमालेख]

?

|

|

ललितप्रभसूरि [वि.सं. 1423/ई.सन् 1367 प्रतिमालेख]

जीरापल्लीगच्छ राजस्थान प्रान्त के अर्बुदमण्डल के अन्तर्गत जीरावला नामक प्रसिद्ध स्थान है। यहाँ पार्श्वनाथ का एक महिम्न जिनालय विद्यमान है जो जीरावलापार्श्वनाथ के नाम से जाना जाता है। बृहद्गच्छ

पट्टावली में उसकी एक शाखा के रूप में इस गच्छ का उल्लेख मिलता है। जीरावला नामक स्थान से सम्बद्ध होने के कारण यह शाखा जीरापल्लीगच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस गच्छ से सम्बद्ध कई प्रतिमालेख मिलते हैं जो वि.सं. 1406 से वि.सं. 1515 तक के हैं।²⁶ इसके सम्बन्ध में विशेष अध्ययन अपेक्षित है।

तपागच्छ चैत्रगच्छीय आचार्य भुवनचन्द्रसूरि के प्रशिष्य और देवभद्रसूरि के शिष्य जगच्चन्द्रसूरि को आघाट में उग्र तप करने के कारण वि.सं. 1285/ई.सन् 1229 में 'तपा' विरुद्ध प्राप्त हुआ, इसी कारण उनकी शिष्य सन्तति तपागच्छीय कहलायी।²⁷ अपने जन्म से लेकर आज तक इस गच्छ की अविच्छिन्न परम्परा विद्यमान है और इसका प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा है। इस गच्छ में अनेक प्रभावक आचार्य और विद्वान् मुनिजन हो चुके हैं और आज भी हैं। इस गच्छ से सम्बद्ध बड़ी संख्या में साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्य प्राप्त होते हैं जिनका सम्यक् अध्ययन आवश्यक है। अन्य गच्छों की भाँति इस गच्छ की भी कई अवान्तर शाखायें अस्तित्व में आयीं, जैसे-- वृद्धपोषालिक, लघुपोषालिक, विजयाणंदसूरिशाखा, विमलशाखा, विजयदेवसूरिशाखा, सागरशाखा, रत्नशाखा, कमलकलशाखा, कुतुबपुराशाखा, निगमशाखा आदि।

थारापद्रगच्छ²⁹ प्राक्मध्ययुगीन और मध्ययुगीन निर्गन्धधर्म के श्वेताम्बर आम्नाय के गच्छों में इस गच्छ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। थारापद्र (वर्तमान थराद, बनासकांठा मण्डल - उत्तर गुजरात) नामक स्थान से इस गच्छ का प्रादुर्भाव हुआ। इस गच्छ में 11वीं शती के प्रारम्भ में हुए आचार्य पूर्णभद्रसूरि ने वटेश्वर क्षमाश्रमण को अपना पूर्वज बतलाया है, परन्तु इस गच्छ के प्रवर्तक कौन थे, यह गच्छ कब अस्तित्व में आया, इस बारे में वे मौन हैं। इस गच्छ में ज्येष्ठाचार्य, शान्तिभद्रसूरि 'प्रथम', शीलभद्रसूरि 'प्रथम', सिद्धान्तमहोदधि सर्वदेवसूरि, शान्तिभद्रसूरि 'द्वितीय', पूर्णभद्रसूरि, सुप्रसिद्ध पाइयटीका के रचनाकार वादिवेताल शान्तिसूरि, विजयसिंहसूरि आदि अनेक प्रभावक और विद्वान् आचार्य हुए हैं। षडावश्यकवृत्ति [रचनाकाल वि.सं. 1122] और काव्यालंकारटिप्पण के कर्ता नभिसाधु इसी गच्छ के थे। इस गच्छ से सम्बद्ध अभिलेखीय साक्ष्य भी पर्याप्त संख्या में प्राप्त हुए हैं, जो वि.सं. 1011 से वि.सं. 1536 तक के हैं। इस प्रकार इस गच्छ का अस्तित्व प्रायः 16वीं शती के मध्य तक प्रमाणित होता है। चूँकि इसके पश्चात् इस गच्छ से सम्बद्ध साक्ष्यों का अभाव है। अतः यह माना जा सकता है कि उक्त काल के बाद इस गच्छ का अस्तित्व समाप्त हो गया होगा।

देवानन्दगच्छ देवानन्दसूरि इस गच्छ के प्रवर्तक माने जाते हैं। श्री अगरचन्द्र नाहटा के अनुसार वि.सं. 1194 और वि.सं. 1201 की ग्रन्थ प्रशस्तियों में इस गच्छ का उल्लेख मिलता है।³⁰ श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई और श्री लालचन्द्र भगवान गांधी ने प्रसिद्ध ग्रन्थ संशोधक और समररादित्यसंक्षेप के कर्ता प्रद्युम्नसूरि को देवानन्दगच्छ से सम्बद्ध बताया है जब कि हीरालाल रसिकलाल कापड़िया और श्री गुलाबचन्द्र चौधरी ने उन्हें चन्द्रगच्छीय बतलाया है। क्या देवानन्दगच्छ चन्द्रगच्छ की ही एक शाखा रही या उससे भिन्न थी, इस सम्बन्ध में अध्ययन की आवश्यकता है। चम्पकसेनरास [रचनाकाल वि.सं. 1630/ई.सन् 1574] के रचयिता महेश्वरसूरिशिष्य इसी गच्छ के थे। इस प्रकार वि.सं. की 12वीं शती से 17वीं शती तक इस गच्छ का अस्तित्व सिद्ध होता है³¹, फिर भी साक्ष्यों की विरलता के कारण इस गच्छ के बारे में विशेष विवरण दे पाना कठिन है।

धर्मघोषगच्छ³² राजगच्छीय आचार्य शीलभद्रसूरि के एक शिष्य धर्मघोषसूरि अपने समय के अत्यन्त प्रभावक आचार्य थे। नरेशत्रय प्रतिबोधक और दिगम्बर विद्वान् गुणचन्द्र के विजेता के रूप में इनकी ख्याति रही। इनकी प्रशंसा में लिखी गयी अनेक कृतियाँ मिलती हैं, जो इनकी परम्परा में हुए उत्तरकालीन मुनिजनों द्वारा रची गयीं हैं। धर्मघोषसूरि के मृत्योपरान्त इनकी शिष्यसन्तति अपने गुरु के नाम पर धर्मघोषगच्छ के नाम से विख्यात हुई। इस गच्छ में यशोभद्रसूरि, रविप्रभसूरि, उदयप्रभसूरि, पृथ्वीचन्द्रसूरि, प्रद्युम्नसूरि, ज्ञानचन्द्रसूरि आदि कई प्रभावक और विद्वान् आचार्य हुए, जिन्होंने वि.सं. की 12वीं शती से वि.सं. की 17वीं शती के अन्त तक अपनी

साहित्योपासना, तीर्थोद्धार, नूतन जिनालयों के निर्माण की प्रेरणा, जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा आदि द्वारा मध्ययुग में श्वेताम्बर श्रमण परम्परा को चिरस्थायित्व प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

इस गच्छ से सम्बद्ध लगभग 200 अभिलेख मिले हैं जो वि.सं. 1303 से वि.सं. 1691 तक के हैं। ये लेख जिनमन्दिरों के स्तम्भादि और तीर्थकर प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण हैं, जो धर्मघोषगच्छ के इतिहास के अध्ययन के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं।

नागपुरीयतपागच्छ वडगच्छीय आचार्य वादिदेवसूरि के एक शिष्य पद्मप्रभसूरि ने नागौर में वि.सं. 1174 या 1177 में उग्र तप का 'नागौरीतपा' विरुद् प्राप्त किया। उनकी शिष्य संतति 'नागपुरीयतपागच्छ' के नाम से विख्यात हुई।³³ मुनिजिनविजय द्वारा संपादित विविधगच्छीयपट्टावलीसंग्रह और श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई द्वारा लिखित 'जैनगुरुकविओ भाग-2' में इस गच्छ की पट्टावली प्रकाशित हुई है। इसी गच्छ में 16वीं शती में पार्श्वचन्द्रसूरि हुए जिनके नाम पर पार्श्वचन्द्रगच्छ का उदय हुआ जो वर्तमान में भी अस्तित्ववान है। इन गच्छों का विशिष्ट अध्ययन अपेक्षित है।

नागेन्द्रगच्छ जिस प्रकार चन्द्रकुल बाद में चन्द्रगच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुआ, उसी प्रकार नागेन्द्रकुल भी नागेन्द्रगच्छ के नाम से विख्यात हुआ। पूर्व मध्ययुगीन और मध्ययुगीन गच्छों में इस गच्छ का विशिष्ट स्थान रहा। इस गच्छ में अनेक विद्वान् आचार्य हुए हैं। अणहिलपुरपाटन के संस्थापक वनराज चावड़ा के गुरु शीलगुणसूरि इसी गच्छ के थे। उनके शिष्य देवचन्द्रसूरि की एक प्रतिमा पाटन में विद्यमान है। अकोटा से प्राप्त ई. सन् की सातवीं शताब्दी की दो जिनप्रतिमाओं पर नागेन्द्रकुल का उल्लेख मिलता है।³⁴ महामात्य वस्तुपाल तेजपाल के गुरु विजयसेनसूरि इसी गच्छ के थे। इसी कारण उनके द्वारा बनवाये गये मन्दिरों में मूर्तिप्रतिष्ठा उन्हीं के कर-कमलों से हुई। जिनहर्षगणि द्वारा रचित वस्तुपालचरित [रचनाकाल वि.सं. 1497/ई. सन् 1441] से ज्ञात होता है कि विजयसेनसूरि के उपदेश से ही वस्तुपाल-तेजपाल ने संघयात्रियों की और ग्रन्थभंडार स्थापित किये तथा जिनमंदिरों का निर्माण कराया। इनके शिष्य उदयप्रभसूरि ने धर्माभ्युदयमहाकाव्य [रचनाकाल वि.सं. 1290/ई. सन् 1234] और उपदेशमालाटीका [रचनाकाल वि.सं. 1299/ई. सन् 1243] की रचना की। इनकी प्रशस्ति में उन्होंने अपनी गुरु-परम्परा का सुन्दर विवरण दिया है जो इस गच्छ के इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वासुपूज्यचरित [रचनाकाल वि.सं. 1299/ई. सन् 1243] के रचयिता वर्धमानसूरि और प्रबन्धचिन्तामणि के रचयिता मेरुतुंगसूरि भी इसी गच्छ के थे। इस गच्छ से सम्बद्ध प्रतिमालेख भी बड़ी संख्या में प्राप्त हुए हैं। वि.सं. 1455 के एक धातुप्रतिमालेख के आधार पर श्री अगरचन्दनाहटा ने यह मत व्यक्त किया है कि उस समय तक यह गच्छ उपकेशगच्छ में विलीन हो चुका था।³⁵ इस गच्छ का भी सम्यक् अध्ययन होना अपरिहार्य है।

नाणकीयगच्छ³⁶ श्वेताम्बर चैत्यवासी गच्छों में नाणकीय गच्छ का प्रमुख स्थान है। इसके कई नाम मिलते हैं, जैसे -- नाणगच्छ, ज्ञानकीयगच्छ, नाणावालगच्छ आदि। जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट होता है कि अर्बुदमण्डल में स्थित नाणा नामक स्थान से यह गच्छ अस्तित्व में आया। शातिसूरि इस गच्छ के आदिम आचार्य माने जाते हैं। उनके पट्टपर क्रम से सिद्धसेनसूरि, धनेश्वरसूरि और महेन्द्रसूरि ये तीन आचार्य प्रतिष्ठित हुए। यही 4 नाम इस गच्छ के पट्टधर आचार्यों को पुनः-पुनः प्राप्त होते रहे। इस गच्छ के मुनिजनों की प्रेरणा से वि.सं. 1272 में बृहत्संग्रहणीपुस्तिका और वि.सं. 1592 में षट्कर्मअवचूरि की प्रतिलिपि करायी गयी। यह बात उनकी दातप्रशस्ति से ज्ञात होती है। गच्छ से सम्बद्ध यही साहित्यिक साक्ष्य आज प्राप्त होते हैं। इसके विपरीत इस गच्छ से सम्बद्ध बड़ी संख्या में जिनप्रतिमायें मिली हैं जो वि.सं. 1102 से वि.सं. 1599 तक की हैं। इससे प्रतीत होता है कि इस गच्छ के मुनिजन पठन-पाठन की ओर से प्रायः उदासीन रहते हुए जिनप्रतिमा की प्रतिष्ठा

और चैत्यों की देखरेख में ही प्रवृत्त रहते थे। श्रावकों को नूतन जिनप्रतिमाओं के निर्माण की प्रेरणा देना ही इनका प्रमुख कार्य रहा। सुविहितमार्गीय मुनिजनों के बढ़ते हुए प्रभाव के बावजूद चैत्यवासी गच्छों का लम्बे समय तक बने रहना समाज में उनकी प्रतिष्ठा और महत्त्व का परिचायक है।

निवृत्तिगच्छ निर्गन्थ दर्शन के चैत्यवासी गच्छों में निवृत्तिकुल (बाद में निवृत्तिगच्छ) भी एक है। पर्युषणाकल्प की स्थविरावली में इस कुल का उल्लेख नहीं मिलता। इससे प्रतीत होता है कि यह कुल बाद में अस्तित्व में आया। इस कुल का सर्वप्रथम उल्लेख अकोटा से प्राप्त धातु की दो प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण लेखों में प्राप्त होता है। उमाकान्त पी. शाह ने इन लेखों की वाचना इस प्रकार दी है³⁷ --

1. ॐ देवधर्मोयं निवृ(वृ)तिकुले जिनभद्रवाचनाचार्यस्य।

2. ॐ निवृ(वृ)तिकुले जिनभद्रवाचनाचार्यस्य।

शाह ने इन प्रतिमाओं का काल ई.सन् 550 से 600 के मध्य माना है। दलसुख भाई मालवणिया के अनुसार वाचनाचार्य और क्षमाश्रमण समानार्थक शब्द हैं, अतः जिनभद्रवाचनाचार्य और प्रसिद्ध भाष्यकार जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण एक ही व्यक्ति माने जा सकते हैं।

उपमितिभवप्रपंचाकथा [रचनाकाल वि.सं. 962/ई.सन् 906], सटीकन्यायावतार, उपदेशमालाटीका के रचनाकार सिद्धर्षि, चउपन्नमहापुरुषचरियं [रचनाकाल वि.सं. 925/ई.सन् 869] के रचनाकार शीलाचार्य अपरनाम विमलमति अपरनाम शीलाङ्क, प्रसिद्ध ग्रन्थसंशोधक द्रोणाचार्य, सूरुाचार्य आदि भी इसी कुल से सम्बद्ध थे। यद्यपि इस कुल या गच्छ से सम्बद्ध अभिलेख वि.सं. की 16वीं शती तक के हैं, परन्तु उनकी संख्या न्यून ही है।

इस गच्छ के आदिम आचार्य कौन थे, यह गच्छ कब अस्तित्व में आया, इस बारे में उपलब्ध साक्ष्यों से कोई जानकारी नहीं मिलती। यद्यपि पट्टावलियों में नागेन्द्र, चन्द्र और विद्याधर कुलों के साथ इस कुल की उत्पत्ति का भी विवरण मिलता है, किन्तु उत्तरकालीन एवं भ्रामक विवरणों से युक्त होने के कारण ये पट्टावलियाँ किसी भी गच्छ के प्राचीन इतिहास के अध्ययन के लिये यथेष्ट प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती हैं। महावीर की परम्परा में निवृत्तिकुल का उल्लेख नहीं मिलता, अतः क्या यह पार्श्वपत्त्यों की परम्परा से लाटदेश में निष्पन्न हुआ, यह अन्वेषणीय है।

पल्लीवालगच्छ पल्ली [वर्तमान पाली, राजस्थान] नामक स्थान से पल्लीवाल जाति और श्वेताम्बरों ने, पल्लीवालगच्छ की उत्पत्ति मानी जाती है। इस गच्छ से सम्बद्ध साहित्यिक और अभिलेखीय दोनों प्रकार के साक्ष्य प्राप्त होते हैं। कालिकाचार्यकथा [रचनाकाल वि.सं. 1365] के रचनाकार महेश्वरसूरि, पिंडविशुद्धिदीपिका [रचनाकाल वि.सं. 1627], उत्तराध्ययनबालावबोधिनीटीका [रचनाकाल वि.सं. 1629] और आचारांगदीपिका के रचयिता अजितदेवसूरि इसी गच्छ से सम्बद्ध थे। पल्लीवालगच्छ से सम्बद्ध जो प्रतिमालेख प्राप्त हुए हैं वे वि.सं. 1383 से वि.सं. 1681 तक के हैं।³⁸ इस गच्छ की एक पट्टावली भी प्राप्त हुई है, जिसके अनुसार यह गच्छ चन्द्रकुल से उत्पन्न हुआ है।

पूर्णतल्लगच्छ चन्द्रकुल से उत्पन्न गच्छों में पूर्णतल्लगच्छ भी एक है। इस गच्छ में जिनदत्तसूरि, यशोभद्रसूरि, प्रद्युम्नसूरि, गुणसेनसूरि, देवचन्द्रसूरि, कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्रसूरि, अशोकचन्द्रसूरि, चन्द्रसेनसूरि, रामचन्द्रसूरि, गुणचन्द्रसूरि, बालचन्द्रसूरि आदि कई आचार्य हुए।³⁹ तिलकभंजरीटिप्पण, जैनतर्कवार्तिकवृत्ति आदि के रचनाकार शातिसूरि इसी गच्छ के थे। देवचन्द्रसूरि ने स्वरचित शातिनाथचरित [रचनाकाल वि.सं. 1160/ई.सन् 1104] की प्रशस्ति में अपनी गुरु-परम्परा का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है --

यशोभद्रसूरि

|

प्रद्युम्नसूरि

|

गुणसेनसूरि

|

देवचन्द्रसूरि [वि.सं. 1160/ई.सन् 1104 में
शांतिनाथचरित के रचनाकार]

इसके अतिरिक्त देवचन्द्रसूरि ने स्थानकप्रकरणटीका अपरनाम मूलशुद्धिप्रकरणवृत्ति की भी रचना की। चौलुक्यनरेश कुमारपालप्रतिबोधक, कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्रसूरि, उत्पादादिसिद्धिप्रकरण [रचनाकाल वि.सं. 1205/ई. सन् 1149] के रचयिता चन्द्रसेनसूरि तथा अशोकचन्द्रसूरि उक्त देवचन्द्रसूरि के शिष्य थे। हेमचन्द्रसूरि की शिष्य परम्परा में प्रसिद्धनाट्यकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र, अनेकार्थसंग्रह के टीकाकार महेन्द्रसूरि, स्नातस्या नामक प्रसिद्ध स्तुति के रचयिता बालचन्द्रसूरि, देवचन्द्रसूरि उदयचन्द्रसूरि, यशश्चन्द्रसूरि, वर्धमानाणि आदि हुए।

पिप्पलगच्छ वडगच्छीय आचार्य सर्वदेवसूरि के प्रशिष्य और नेमिचन्द्रसूरि के शिष्य आचार्य शांतिसूरि ने वि.सं. 1181/ई.सन् 1125 में पीपलवृक्ष के नीचे महेन्द्रसूरि, विजयसिंहसूरि आदि आठ शिष्यों को आचार्य पद प्रदान किया। पीपलवृक्ष के नीचे उन्हें आचार्यपद प्राप्त होने के कारण उनकी शिष्यसन्तति पिप्पलगच्छीय कहलायी।⁴⁰ सिंहासनद्वित्रिशिका [रचनाकाल वि.सं. 1484/ई.सन् 1428] के रचनाकाल सागरचन्द्रसूरि, वस्तुपालतेजपालरास [रचनाकाल वि.सं. 1484/ई.सन् 1428], विद्याविलासपवाडो आदि के कर्त्ता प्रसिद्ध ग्रन्थकार हीरानन्दसूरि, कालकसूरिभास के कर्त्ता आनन्दमेरु इसी गच्छ के थे। इस गच्छ की दो अवान्तर शाखाओं का पता चलता है --

1. त्रिभवीयाशाखा
2. तालध्वजीयाशाखा

अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर वि.सं. 1778 तक इस गच्छ का अस्तित्व सिद्ध होता है।

पूर्णिमागच्छ या पूर्णिमापक्ष मध्ययुगीन श्वेताम्बर गच्छों में पूर्णिमागच्छ का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। चन्द्रकुल के आचार्य जयसिंहसूरि के शिष्य चन्द्रप्रभसूरि द्वारा पूर्णिमा को पाक्षिक पर्व मनाये जाने का समर्थन करने के कारण उनकी शिष्य सन्तति पूर्णिमापक्षीय या पूर्णिमागच्छीय कहलायी। वि.सं. 1149 या 1159 में इस गच्छ का आविर्भाव माना जाता है।⁴¹ इस गच्छ में आचार्य धर्मघोषसूरि, देवसूरि, चक्रेश्वरसूरि, समुद्रघोषसूरि, विमलगणि, देवभद्रसूरि, तिलकाचार्य, मुनिरत्नसूरि, कमलप्रभसूरि, महिमाप्रभसूरि आदि कई प्रखर विद्वान् आचार्य हो चुके हैं। इस गच्छ की कई आवन्तरशाखायें अस्तित्त्व में आयीं, जैसे -- प्रधानशाखा या ढंढेरियाशाखा, सार्धपूर्णिमाशाखा, कच्छोलीवालशाखा, भीमपल्लीयशाखा, वटपट्टीयशाखा, बोरसिद्धीयशाखा, भृगुकच्छीयशाखा, छापेरियाशाखा आदि। इस गच्छ के मुनिजनों द्वारा रचित ग्रन्थों की प्रशस्तियों, उनकी प्रेरणा से लिपिबद्ध कराये गये प्राचीन ग्रन्थों की दाताप्रशस्तियों एवं पट्टावलियों में इस गच्छ के इतिहास की महत्त्वपूर्ण सामग्री संकलित है। यही बात इस गच्छ से सम्बद्ध बड़ी संख्या में प्राप्त प्रतिमालेखों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

ब्रह्माणगच्छ अर्बुदमण्डल के अर्न्तगत वर्तमान वरमाण [प्राचीन ब्रह्माण] नामक स्थान से इस गच्छ की उत्पत्ति मानी जाती है।⁴² इस गच्छ से सम्बद्ध बड़ी संख्या में प्रतिमालेख प्राप्त होते हैं जो वि.सं. 1124 से

16वीं शती के अन्त तक के हैं। इन लेखों में विमलसूरि, बुद्धिसागरसूरि, उदयप्रभसूरि, मुनिचन्द्रसूरि आदि आचार्यों के नाम पुनः पुनः आते हैं, जिससे प्रतीत होता है कि इस गच्छ के मुनिजन चैत्यवासी रहे होंगे। इस गच्छ से सम्बद्ध साहित्यिक साक्ष्यों का प्रायः अभाव है, अतः इसके बारे में विशेष बातें ज्ञात नहीं होती हैं।

वडगच्छ सुविहितमार्गप्रतिपालक और चैत्यवासविरोधी गच्छों में वडगच्छ का प्रमुख स्थान है। परम्परानुसार चन्द्रकुल के आचार्य उद्योतनसूरि ने वि.सं. 994 में आबू के निकट स्थित टेलीग्राम में वटवृक्ष के नीचे सर्वदेवसूरि सहित 8 शिष्यों को आचार्यपद प्रदान किया। वटवृक्ष के नीचे उन्हें प्राप्त होने के कारण उनकी शिष्यसन्तति वडगच्छीय कहलायी। वटवृक्ष के समान इस गच्छ की भी अनेक शाखायें-प्रशाखायें अस्तित्व में आयीं, अतः इसका एक नाम बृहद्गच्छ भी पड़ गया।⁴³ गुर्जरभूमि में विधिमार्गप्रवर्तक वर्धमानसूरि, उनके शिष्य जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि, नवाङ्गीवृत्तिकार अभयदेवसूरि, आख्यानकमणिकोश के रचयिता देवेन्द्रगणि अपरनाम नेमिचन्द्रसूरि, उनके शिष्य आम्रदेवसूरि, प्रसिद्ध ग्रन्थकार मुनिचन्द्रसूरि, उनके पट्टधर प्रसिद्ध वादी देवसूरि, रत्नप्रभसूरि, हरिभद्रसूरि आदि अनेक प्रभावक और विद्वान् आचार्य हो चुके हैं। इस गच्छ की कई अंवांतर शाखायें अस्तित्व में आयीं, जैसे वि.सं. 1149 या 1159 में यशोभद्र-नेमिचन्द्र के शिष्य और मुनिचन्द्रसूरि के ज्येष्ठ गुरुभ्राता चन्द्रप्रभसूरि से पूर्णिमागच्छ का उदय हुआ। इसी प्रकार वडगच्छीय शातिसूरि द्वारा वि.सं. 1181/ई. सन् 1125 में पीपलवृक्ष के नीचे महेन्द्रसूरि, विजयसिंहसूरि आदि 8 शिष्यों के आचार्यपद प्रदान करने के कारण उनकी शिष्यसन्तति पिप्पलगच्छीय कहलायी। अभिलेखीय साक्ष्यों द्वारा वि.सं. की 17वीं शती के अन्त तक वडगच्छ का अस्तित्व ज्ञात होता है।

मलधारिगच्छ या हर्षपुरीयगच्छ हर्षपुर (वर्तमान हरसौर) नामक स्थान से इस गच्छ की उत्पत्ति मानी जाती है। जिनप्रभसूरि विरचित कल्पप्रदीप [रचनाकाल वि.सं. 1389/ई.सन् 1333] के अनुसार एक बार चौलुक्यनरेश जयसिंह सिद्धराज ने हर्षपुरीयगच्छ के आचार्य अभयदेवसूरि को मलमालिन वस्त्र एवं उनके मलयुक्तदेह को देखकर उन्हें 'मलधारि' नामक उपाधि से अलंकृत किया। उसी समय से हर्षपुरीयगच्छ मलधारिगच्छ के नाम से विख्यात हुआ।⁴⁴ इस गच्छ में अनेक ग्रन्थों के प्रणेता हेमचन्द्रसूरि, विजयसिंहसूरि, श्रीचन्द्रसूरि, लक्ष्मणगणि, विबुधप्रभसूरि, जिनभद्रसूरि, मुनिचन्द्रसूरि, देवप्रभसूरि, नरचन्द्रसूरि, नरेन्द्रप्रभसूरि, राजशेखरसूरि, सुधाकलश आदि प्रसिद्ध आचार्य और विद्वान् मुनिजन हो चुके हैं। इस गच्छ के मुनिजनों द्वारा बड़ी संख्या में रची गयी कृतियों की प्रशस्तियों एवं गच्छ से सम्बद्ध वि.सं. 1190 से वि.सं. 1699 तक के प्रतिमालेखों में इतिहास सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त होती है।

मोढगच्छ गुजरात राज्य के मेहसाणा जिले में अवस्थित मोढेरा [प्राचीन मोढेर] नामक स्थान से मोढज्ञाति एवं मोढगच्छ की उत्पत्ति मानी जाती है। ई.सन् की 10वीं शताब्दी की धातु की दो प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण लेखों में इस गच्छ का उल्लेख प्राप्त होता है। इससे प्रमाणित होता है कि उक्त तिथि के पूर्व यह गच्छ अस्तित्व में आ चुका था।⁴⁵ प्रभावकचरित से भी उक्त मत की पुष्टि होती है। ई.सन् 1171/वि.सं. 1227 के एक लेख में भी इस गच्छ का उल्लेख मिलता है। श्री पूरनचन्द नाहर ने इसकी वाचना इस प्रकार दी है --

सं. 1227 वैशाख सुदि 3 गुरौ नंदाणि ग्रामेन्या भ्राविकया आत्मीयपुत्र लूणदे श्रेयर्थं चतुर्विंशति पट्टः कारिताः ॥ श्रीमोढगच्छे बप्पभट्टिसंताने जिनभद्राचार्यैः प्रतिष्ठितः । जैनलेखसंग्रह भाग 2, लेखांक 1694

वि.सं. 1325 में प्रतिलिपि की गयी कालकाचार्यकथा की दाता प्रशस्ति में मोढगुरु हरिप्रभसूरि का उल्लेख प्राप्त होता है। यद्यपि इस गच्छ से सम्बद्ध साक्ष्य सीमित संख्या में प्राप्त होते हैं, फिर भी उनके आधार पर इस गच्छ का लम्बे काल तक अस्तित्व सिद्ध होता है। प्रो. एम.ए. ढांकी का मत है कि जैनधर्मानुयायी मोढ ज्ञाति द्वारा स्थानकवासी (अमूर्तिपूजक) जैनधर्म अथवा वैष्णवधर्म स्वीकार कर लेने से इस श्वेताम्बर मूर्ति पूजक

परम्परा में गच्छ का अस्तित्व समाप्त हो गया।

राजगच्छ चन्द्रकुल से समय-समय पर अनेक गच्छों का प्रादुर्भाव हुआ, राजगच्छ भी उनमें एक है। वि. सं. की 11वीं शती के आस-पास इस गच्छ का प्रादुर्भाव माना जाता है। चन्द्रकुल के आचार्य प्रद्युम्नसूरि के प्रशिष्य और अभयदेवसूरि के शिष्य धनेश्वरसूरि 'प्रथम' दीक्षा लेने के पूर्व राजा थे, अतः उनकी शिष्य-सन्तति राजगच्छ के नाम से विख्यात हुई।⁴⁶ इस गच्छ में धनेश्वरसूरि 'द्वितीय', अनेक कृतियों के कर्ता पार्श्वदेवगणि अपरनाम श्रीचन्द्रसूरि, सिद्धसेनसूरि, देवभद्रसूरि, माणिक्यचन्द्रसूरि, प्रभाचन्द्रसूरि आदि कई प्रभावक और विद्वान् आचार्य हुए हैं। इसी गच्छ के वादीन्द्र धर्मघोषसूरि की शिष्य सन्तति अपने गुरु के नाम पर धर्मघोषगच्छीय कहलायी।

यद्यपि राजगच्छ से सम्बद्ध अभिलेखीय साक्ष्य भी मिलते हैं जो वि. सं. 1128 से वि. सं. 1509 तक के हैं, तथापि उनकी संख्या न्यून ही है। साहित्यिक साक्ष्यों द्वारा इस गच्छ का अस्तित्व वि. सं. की 14वीं शती तक ही ज्ञात हो पाता है किन्तु अभिलेखीय साक्ष्यों द्वारा वि. सं. की 16वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक इस गच्छ का अस्तित्व प्रमाणित होता है।

रुद्रपल्लीयगच्छ यह खरतरगच्छ की एक शाखा है जो वि. सं. 1204 में जिनेश्वरसूरि से अस्तित्व में आयी। रुद्रपल्ली नामक स्थान से इस गच्छ की उत्पत्ति हुई। इस गच्छ में देवसुन्दरसूरि, सोमसुन्दरसूरि, गुणसमुद्रसूरि, हर्षदेवसूरि, हर्षसुन्दरसूरि आदि कई आचार्य हुए हैं। वि. सं. की 17वीं शताब्दी तक इस गच्छ की विद्यमानता का पता चलता है।⁴⁷

वायडगच्छ गुजरात राज्य के पालनपुर जिले में अवस्थित डीसा नामक स्थान के निकट वायड नामक ग्राम है जहाँ से छठवीं-सातवीं शती में वायडज्ञाति और वायडगच्छ की उत्पत्ति मानी जाती है। इस गच्छ में पट्टधर आचार्यों को जिनदत्त, राशिल्ल और जीवदेव ये तीन नाम पुनः पुनः प्राप्त होते थे, जिससे पता चलता है कि इस गच्छ के अनुयायी चैत्यवासी रहे। बालभारत और काव्यकल्पलता के रचनाकार अमरचन्द्रसूरि, विवेकविलास व शकुनशास्त्र के प्रणेता जिनदत्तसूरि वायडगच्छ के ही थे। सुकृतसंकीर्तन का रचनाकार ठक्कुर अरिसिंह इसी गच्छ का अनुयायी एक श्रावक था।⁴⁸

विद्याधरगच्छ नागेन्द्र, निर्वृत्ति और चन्द्र कुल की भौति विद्याधरकुल भी बाद में विद्याधर गच्छ के रूप में प्रसिद्ध हुआ। इस गच्छ से सम्बद्ध कुछ प्रतिमालेख प्राप्त हुए हैं। जालिहरगच्छीय देवप्रभसूरि द्वारा रचित पद्मप्रभघरित [रचनाकाल वि. सं. 1254/ई. सन् 1198] की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि काशहृद और जालिहर ये दोनों विद्याधर गच्छ की शाखायें हैं।⁴⁹ विद्याधरगच्छ के सम्बन्ध में विशेष विवरण अन्वेषणीय हैं।

संडेरगच्छ मध्ययुगीन श्वेताम्बर चैत्यवासी गच्छों में संडेरगच्छ का भी प्रमुख स्थान है। जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट होता है संडेर (वर्तमान सांडेराव - राजस्थान) नामक स्थान से यह गच्छ अस्तित्व में आया। ईश्वरसूरि इस गच्छ के आदिम आचार्य माने जाते हैं। शालिसूरि, सुमत्तिसूरि, शांतिसूरि और ईश्वरसूरि ये चार नाम पुनः पुनः इस गच्छ के पट्टधर आचार्यों को प्राप्त होते रहे। संडेरगच्छीय मुनिजनों द्वारा लिखित ग्रन्थों की अन्त्य प्रशस्तियों एवं उनकी प्रेरणा से लिखाये गये ग्रन्थों की दाता प्रशस्तियों में इस गच्छ के इतिहास की महत्त्वपूर्ण सामग्री संकलित है। यही बात इस गच्छ से सम्बद्ध प्रतिमालेखों -- जो वि. सं. 1039 से वि. सं. 1732 तक के हैं, के बारे में भी कही जा सकती है।⁵⁰ सागरदत्तरास [रचनाकाल वि. सं. 1550], ललितांगघरित, श्रीपालचौपाइ, सुमित्रघरित्र आदि के रचनाकार ईश्वरसूरि इसी गच्छ के थे। प्राचीन ग्रन्थों के प्रतिलेखन की पुष्पिकाओं के आधार पर ई. सन् की 18वीं शती तक इस गच्छ का अस्तित्व ज्ञात होता है।

सरवालगच्छ पूर्वमध्ययुगीन श्वेताम्बर चैत्यवासी गच्छों में सरवालगच्छ भी एक है। चन्द्रकुल की एक शाखा

के रूप में इस गच्छ का उल्लेख प्राप्त होता है। इस गच्छ से सम्बद्ध वि.सं. 1110 से वि.सं. 1283 तक के कुछ प्रतिमालेख प्राप्त हुए हैं। पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति [रचनाकाल वि.सं. 1160/ई.सन् 1104] के रचयिता वीरगणि अपरनाम समुद्रघोषसूरि इसी गच्छ के थे। इस गच्छ के प्रवर्तन कौन थे, यह गच्छ कब अस्तित्व में आया, इस बारे में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती।⁵¹ सरवाल जैनों की कोई ज्ञाति थी अथवा किसी स्थान का नाम था जहाँ से यह गच्छ अस्तित्व में आया, यह अन्वेषणीय है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. भगवतीसूत्र, 15/1/539-61.
2. वही, 9/33/386-7.
3. कल्पसूत्रस्थविरायली, 205-223.
4. नन्दीसूत्रस्थविरायली, 25-48.
5. विशेषावश्यकभाष्य 3053 और आगे, आवश्यकभाष्य 145 और आगे, आवश्यकघूर्णी, प्रथम भाग, पृ. 427,586.
6. कल्पसूत्रस्थविरायली, 216-221.
7. वही,
8. सम्बोधप्रकरण,
9. खरतरगच्छबृहद्गुर्वावली संपा. जिनविजय, [सिंघी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक 42, बम्बई 1956 ई.], पृ.2-3.
10. द्रष्टव्य, संदर्भ संख्या 12.
11. श्रीपार्श्व -- अंचलगच्छदिग्दर्शन [बम्बई, 1980 ई.], पृ. 10.
12. अगारचन्दनाहटा -- "जैन श्रमणों के गच्छों पर संक्षिप्त प्रकाश" यतीन्द्रसूरि अभिनन्दनग्रन्थ [आहोर, 1958 ई.], पृ.141.
13. शिवप्रसाद -- "आगमिकगच्छ अपरनाम (प्राचीन) त्रिस्तुतिकगच्छ का इतिहास" पं. दलसुखभाई मालवणिया अभिनन्दन ग्रन्थ, वाराणसी 1991 ई.स., पृष्ठ 241-284.
14. शिवप्रसाद -- "उपदेशगच्छ का संक्षिप्त इतिहास" श्रमण वर्ष 42, अंक 7-12, पृ. 91-182.
15. वही, पृ. 181-182.
16. C.D. Dalal -- A Descriptive Catalogue of Manuscripts in the Jain Bhandars at Pattan, Gaekwad's Oriental Series No. LXXVI, Baroda, 1937 A.D., pp.210-213.
17. H.D. Velankar -- Jinaratnakosa, Bhandarkar Oriental Research Institute, Government Oriental Series, Class C No. 4, Poona, 1944 A.D., pp. 349-350.
18. "कृष्णर्षिगच्छ का संक्षिप्त इतिहास" नामक मेरा एक शोध-निबन्ध लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित होने वाली वार्षिक शोध-पत्रिका सम्बोधि के आगामी नये अंक में प्रकाशनार्थ स्वीकृत हो चुका है.
19. शिवप्रसाद -- "कोरंटगच्छ का संक्षिप्त इतिहास", श्रमण, वर्ष 40, अंक 5, पृ.15-43.
20. शिवप्रसाद -- "भावडारगच्छ का संक्षिप्त इतिहास", श्रमण, वर्ष 40, अंक 3, पृ.15-33.
21. नाहटा, पूर्वोक्त, पृ. 145-146.
22. मुनि जिनविजय -- संपा. खरतरगच्छबृहद्गुर्वावली, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक 42, बम्बई 1956 ई., भूमिका, पृ.6-12.

23. भोगीलाल सांडेसरा -- "महामात्य वस्तुपाल का साहित्यमंडल और संस्कृत साहित्य में उसकी देन, जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, सन्मति प्रकाशन नं. 15, वाराणसी, 1959 ई., पृ. 106-109.
 24. वेलणकर, पूर्वोक्त, पृ. 288 और 423-424.
 25. द्रष्टव्य संदर्भ संख्या 16.
 26. शिवप्रसाद -- "जालिहरगच्छ का संक्षिप्त इतिहास" भ्रमण, वर्ष 43, अंक 4-6, पृ. 41-46.
 27. नाहटा, पूर्वोक्त, पृ. 148.
 28. वही, पृ. 148-149.
- एवं
- मुनिकान्तिसागर -- शत्रुंजयवैभव, कुशल संस्थान, पुष्प 4, जयपुर 1990 ई., पृ. 369-270.
 29. शिवप्रसाद -- "थारापद्रगच्छ का संक्षिप्त इतिहास" निर्गन्थ, वर्ष 1, अंक 1, अहमदाबाद 1994 ई.
 30. नाहटा, पूर्वोक्त, पृ. 148-149.
 - मोहनलाल दलीचन्द देसाई -- जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, बम्बई, 1933 ई., पृ. 384.
 - पं. लालचन्द भगवानदास गांधी -- ऐतिहासिकलेखसंग्रह, बडोदरा - 1963 ई., पृ. 162.
 - हीरालाल रसिकलाल कापड़िया -- जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास भाग 2, बडोदरा, 1968 ई., पृ. 132.
 - गुलाबचन्द्र चौधरी -- जैन साहित्य का बृहद्इतिहास, भाग 6, वाराणसी 1973 ई., पृ. 270-71.
 31. नाहटा, पूर्वोक्त, पृ. 150.
 32. शिवप्रसाद -- "धर्मघोषगच्छ का संक्षिप्त इतिहास" भ्रमण, वर्ष 41, अंक 1-3, पृ. 45-103.
 33. नाहटा, पूर्वोक्त, पृ. 151.
 34. U.P. Shah -- Akota Bronzes, [Bombay 1959] pp. 34-35.
 - सांडेसरा, पूर्वोक्त, पृ. 96-100.
 35. नाहटा, पूर्वोक्त, पृ. 151.
 36. शिवप्रसाद "नाणकीयगच्छ" भ्रमण, वर्ष 40, अंक 7, पृ. 2-34.
 37. शाह, पूर्वोक्त, पृ. 29, 33-34.
 - इस गच्छ के सम्बन्ध में विचार के लिये द्रष्टव्य -- शिवप्रसाद " निवृत्तिकुल का संक्षिप्त इतिहास" निर्गन्थ वर्ष 1, अंक 1, अहमदाबाद 1994 ई.
 38. अगरचन्द नाहटा -- "पल्लीवाल्मगच्छपट्टावली" श्री आत्मारामजी शताब्दी ग्रन्थ, पृ. 182-196.
 39. भोगीलाल सांडेसरा -- हेमचन्द्राचार्य का शिष्य मण्डल, जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, पत्रिका नं. 31, वाराणसी, 1951 ई., पृ. 3-20.
 40. पिप्पलगच्छ और पूर्णिमागच्छ तथा उनकी शाखाओं के उद्भव एवं विकास पर इन पंक्तियों के लेखक ने विस्तृत शोध-निबन्ध लिखा है, जो अद्यावधि अप्रकाशित है.
 41. वही,
 42. नाहटा, पूर्वोक्त, पृ. 153.
 43. शिवप्रसाद -- "बृहद्गच्छ का संक्षिप्त इतिहास" पं. दलसुख भाई मालवणिया अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ. 105-117.
 44. मुनिजिनविजय, संपा. कल्पप्रदीप अपरनाम विविधतीर्थकल्प सिंघी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक 10, शांतिनिकेतन - 1934 ई., पृ. 51.

45. M. A. Dhaky -- "Modhera, Modha - Vansa, Modha Gaccha and Modha-Caityas", Journal of the Asiatic Society of Bombay Volumes 56-59/1981-84 (Combined) [New Series], Bombay-1986 A.D., pp. 144-159.
46. अन्यान्य गच्छों की भाँति मैंने राजगच्छ का भी इतिहास लिखा है, जो प्रकाशनाधीन है.
47. नाहटा, पूर्वोक्त, पृ. 155-156.
48. सांडेसरा, पूर्वोक्त, पृ. 90-91.
49. द्रष्टव्य -- सन्दर्भ संख्या 16.
50. शिवप्रसाद -- "संडेरगच्छ का संक्षिप्त इतिहास" पं. दलसुख भाई मालवणिया अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ. 194-217.
51. शिवप्रसाद -- "सरवालगच्छ का संक्षिप्त इतिहास" सन्धान, वर्ष 4, वाराणसी 1992 ई., पृ. 51-56.

* शोध अध्येता, प्रा. इ. सं. एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

दिगम्बर जैन परम्परा में संघ, गण, गच्छ, कुल और अन्वय

- डॉ. फूलचन्द जैन "प्रेमी"

श्रमण परम्परा का भारतीय संस्कृति के विकास में महनीय योगदान है। अतः श्रमण परम्परा के अध्ययन के बिना भारतीय संस्कृति का अनुशीलन अपूर्ण ही कहा जायेगा क्योंकि श्रमणसंस्कृति भारत की पुरातन संस्कृतियों में से है। वेदों में इस परम्परा का उल्लेख स्वयं प्राचीनता का प्रमाण है। अतः इसे वैदिक परम्परा से प्राचीन कहना भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। पुरातात्विक, भाषावैज्ञानिक एवं साहित्यिक आदि अन्वेषणों के आधार पर विशिष्ट विद्वानों ने यह स्वीकार भी किया है कि आर्यों के आगमन के पूर्व भारत में जो संस्कृति थी वह श्रमण, निर्गन्ध, व्रात्य या अर्हत् संस्कृति ही होनी चाहिए। यह संस्कृति सुदूर अतीत में जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा प्रवर्तित होकर अन्तिम अर्थात् चौबीसवें तीर्थंकर महावीर के माध्यम से परम्परा द्वारा सहस्रों समर्थ आचार्यों द्वारा अविच्छिन्न चली आ रही है।

श्रमण संस्कृति अपनी जिन विशिष्ट विशेषताओं के कारण गरिमा-मण्डित रही है। उनमें श्रम, संयम, त्याग, अहिंसा और आध्यात्मिक मूल्य जैसे आदर्शों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन आदर्शों के कारण इस संस्कृति ने अपनी विशेष पहचान बनाई तथा अपना गौरवपूर्ण अस्तित्व अक्षुण्ण रखा।

जब हम सभी तीर्थंकरों के जीवन और उनके मुनि, आर्यिक, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ के विषय में जानकारी प्राप्ति हेतु तद्विषयक उपलब्ध साहित्य का अवलोकन करते हैं, तो प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थंकर महावीर तक प्रत्येक के समय में हमें एक सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित श्रमण संघ की झलक दिखलाई देती है, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से अध्यात्मसाधना का संघीकरण तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय से स्पष्ट दिखलाई देता है। तीर्थंकर महावीर ने तत्कालीन अपेक्षाओं को ध्यान में रखते हुए श्रमणसंघ का जो लोकतन्त्रात्मक स्वरूप प्रतिष्ठित किया वह अप्रतिम तो था ही साथ ही इसमें व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास के पूर्ण अवसर भी उपलब्ध थे। संघीय अनुशासन उसके संचालन की प्रविधियाँ और व्यवस्थायें उस युग की सर्वोच्च उपलब्धियाँ थीं।

श्रमणसंघ की व्यवस्था गणतन्त्रीय पद्धति पर आधारित थी और यही परम्परा आज तक चली आ रही है। संघ व्यवस्था का मूल लक्ष्य अहिंसा, स्वतन्त्रता, सापेक्षता और संयम के आधार पर आत्मकल्याण करना है। जैन शास्त्रों में संघ के पाँच आधार बताये गये हैं -- आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर। जहाँ ये आधार न हों, वहाँ रहना उचित नहीं है। संघ संचालन का सम्पूर्ण दायित्व इन्हीं आधारों पर होता था। आचार्य शिष्यों को दीक्षा, व्रताचरण और अनुशासन आदि रूप अनुग्रह करने का कार्य करते, उपाध्याय शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन एवं धर्मोपदेश देने का कार्य करते, प्रवर्तक संघ का प्रवर्तन करते, स्थविर का कार्य मर्यादा का उपदेश एवं आचरण में स्थिर रखना तथा गणधर का कार्य गण की रक्षा करना था। इस तरह इन पाँच स्तम्भों से ही श्रमण संघ की परिपूर्ण प्रतिष्ठा दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र के पथ का निरन्तर विकास और मुक्ति पथ की साधना सम्भव होती है।

श्रमणाचार का विकास क्रमिक हुआ है। इसके पीछे मानव स्वभाव, देश की परिस्थितियाँ और काल का प्रभाव प्रमुख कारण रहे हैं। इन्हें हम उपलब्ध साहित्य, ग्रन्थ, प्रशस्तियों, पट्टावलियों और उत्कीर्ण-लेख सामग्री द्वारा समझ सकते हैं।

साहित्य पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि तीर्थंकर महावीर ने अपने जीवनकाल में श्रमणसंघ के कोई भेद नहीं किये थे। उसका एक सुव्यवस्थित रूप था और इसमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं था। भगवान् महावीर

स्वयं कठिन चर्या का पालन करने वाले थे। इनके निर्वाण के काफी समय तक अर्थात् श्रुतकेवली भद्रबाहु (वीर नि.सं. 492) तक निर्गन्थ महासंघ का सुसंगठित रूप अविच्छिन्न रहा। किन्तु क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार प्रत्येक व्यवस्था में परिवर्तन भी होता है। अखण्ड निर्गन्थ महाश्रमण भी इनसे अछूता नहीं रहा। अतः वीर निर्वाण के 6-7 सौ वर्ष बाद सर्वप्रथम निर्गन्थ महाश्रमण संघ दो परम्पराओं -- दिगम्बर और श्वेताम्बर में विभक्त हो गया। इस विभाजन के पीछे मत-वैभिन्न्य की लम्बी कहानी है, किन्तु हम यहाँ उसमें न उलझकर अपने प्रतिपाद्य विषय का विवेचन करना ही अभीष्ट समझते हैं।

इस निबन्ध का मूल प्रतिपाद्य विषय दिगम्बर जैन परम्परा के अन्तर्गत संघ, गण, गच्छ, अन्वय, कुल आदि की परम्परा और उसके स्वरूप का विवेचन एवं प्रतिपादन करना है। किसी भी संघ में गण, गच्छ आदि विभिन्न इकाइयों मूलतः विशाल संघ के सुचारु रूप से संचालन हेतु निर्मित हुई थीं। क्योंकि विशाल संघ के सुचारु रूप से संचालन हेतु संघ के कार्यों को विभाजित करके उनका व्यवस्थित कार्यान्वयन करना होता है। किन्तु देश, काल आदि के कारण इनकी आचार व्यवस्था में अन्तर पड़ता गया, जिन्होंने विभिन्न परम्पराओं अर्थात् संघों, गणों, कुलों, गच्छों आदि का रूप ले लिया। इनके विवेचन हेतु संघ, गच्छ आदि का स्वरूप प्रस्तुत है।

मूलतः इन इकाइयों में "गच्छ" से तात्पर्य साथ-साथ रहने वाले श्रमणों के एक निश्चित समूह से था। जितने श्रमण एक साथ रहकर विहार एवं चातुर्मास करते हैं उनके समूह को "गच्छ" कहते हैं। विभिन्न गच्छ मिलकर "कुल" का रूप धारण करते हैं। अतः एक ही आचार्य के शिष्य-प्रशिष्यों के समूह को "कुल" कहा जाता है। कुलों में एक ही प्रकार की आचार-विहार प्रणाली का अनुसरण करने से ये सब मिलकर "गण" कहलाते हैं अर्थात् "गण" का रूप धारण कर लेते हैं और गणों का समूह "संघ" कहलाता है। इनका विवेचन प्रस्तुत है --

संघ

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र्य रूप रत्नत्रय से युक्त श्रमणों के समूह को संघ कहते हैं¹ अथवा जो श्रम अर्थात् तपस्या करते हैं उन्हें श्रमण कहा जाता है तथा ऐसे श्रमणों के समुदाय को श्रमण संघ कहते हैं।²

मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ अथवा ऋषि, मुनि, यति और अनगार रूप चातुर्वर्ण्य संघ चारों गतियों (नरक, तिर्यक, देव और मनुष्य) में भ्रमण का नाशक होता है, अतः नव-प्रसूता गाय जैसे अपने बच्चे पर वात्सल्य करती है, वैसे ही प्रयत्नपूर्वक संघ पर वात्सल्य भाव रखना चाहिए।³ नन्दिसूत्र में संघ को कमल की तरह बतलाया गया है। क्योंकि यह कमल स्त्री संघ कर्मरज स्त्री जलराशि से अल्पित ही रहता है। श्रुतरत्न (ज्ञान या आगम) उसका दीर्घनाल है। पंचमहाव्रत उसकी स्थिर कर्णिका तथा उत्तरगुण उसका मध्यवर्ती केशर (पराग) है, जो श्रावक स्त्री भ्रमणों से सदा घिरा रहता है, जिनदेव स्त्री सूर्य के तेज से प्रसूद्र होता है तथा जिसमें श्रमणगण स्त्री सहस्र पत्र होते हैं।⁴ यह "संघ" का स्वरूप है। इसके प्रमुख को "आचार्य" कहा जाता है।

गण

स्थविर-मर्यादा के उपदेश या श्रुत में वृद्ध श्रमणों (स्थविरों) की सन्तति (परम्परा) या उनके समूह को 'गण' कहते हैं।⁵ गण के प्रधान गणाचार्य, गणी या गणधर कहलाते हैं। आचारांग की शीलांकवृत्ति में कहा है कि जो आचार्य नहीं है किन्तु बुद्धि से आचार्य के सदृश हों एवं गुरु की आज्ञा से साधु समूह (श्रमणगण) को लेकर पृथक् विहार करते हों, वे गणधर कहलाते हैं।⁶

इस प्रकार विशालसंघ से आचार्य की आज्ञानुसार निर्धारित श्रमणों के साथ अपने सम्यक् उद्देश्यों की पूर्ति हेतु अलग विचारण करे, वह श्रमणों का समूह तथा उनकी परम्परा को "गण" कहते हैं तथा उनके प्रधान गणधर, गणाचार्य या गणी कहे जाते हैं। डॉ. गुलाबचन्द चौधरी के अनुसार गण का अर्थ बड़ी इकाई था, जिसका प्रबन्ध वे

डॉ. फूलचन्द जैन "प्रेमी"

आचार्य करते थे जो कि अत्यन्त श्रद्धालु, सत्यवान, मेधावी, स्मृतियानु, बहुश्रुत एवं समभाव वाले होते थे। गणों का नाम प्रायः आचार्य के नाम से होता था।⁷

मूलाचार में गण, गच्छ एवं कुल -- इन शब्दों के ही उल्लेख और उसकी परिभाषाएँ मिलती हैं। परन्तु आचार्य बट्टकेर ने गण आदि निर्माण के प्रति बड़ा क्षोभ प्रकट करते हुए कहा है -- "गण में प्रवेश करने की अपेक्षा विवाह कर लेना अच्छा है। विवाह से राग की उत्पत्ति होती है पर गण तो अनेक दुःखों की खानि है।⁸ (इस युक्ति के पीछे भी शायद यही भाव है कि -- "हंसों की पंक्ति नहीं होती और साधु जमात बनाकर नहीं चलते")।

डॉ. गुलाबचन्द चौधरी के अनुसार दक्षिण भारत में इसलिए दीर्घ काल तक भद्रबाहु के बाद किसी संघ, गण या गच्छ का निर्माण नहीं हो सका। इसलिए दक्षिणी जैनधर्म की मान्यता में महावीर के बाद की गुरु परम्परा में वीर नि.सं. 683 अर्थात् लोहाचार्य तक एक-एक आचार्य शिष्य परम्परा से चले आये हैं और उनकी किसी शाखाओं, प्रशाखाओं का उल्लेख नहीं मिलता। बाद में संघ एवं गणादि की उत्पत्ति में भी उन्होंने अपने पूर्वाचार्यों को नहीं लपेटा।⁹

गच्छ

गच्छ (गाछ के वृक्ष अर्थ में) ऋषियों के समूह को कहते हैं।¹⁰ सात या तीन पुरुषों के समुदाय को भी "गच्छ" कहा जाता है।¹¹ बाद में गच्छ का अर्थ शाखा भी माना जाने लगा। गच्छ के प्रमुख गच्छाचार्य कहलाते हैं। इनका कार्य गच्छ के आचार की रक्षा करते हुए स्वयं श्रेष्ठ आचार का पालन करना है।

कुल

एक ही आचार्य की शिष्य सन्तति (परम्परा) का नाम कुल है। सर्वार्थसिद्धि के अनुसार दीक्षा देने वाले आचार्य की शिष्य परम्परा को 'कुल' कहते हैं।¹² स्थानांग टीका के अनुसार कई गच्छों के समूह से "कुल" का निर्माण होता है।¹³ मूलाचार में कहा गया है कि जब कोई श्रमण अन्य आचार्य के पास विशेष अध्ययन आदि के निमित्त जाता था तो वे आचार्य सर्वप्रथम उस नवामन्तुक श्रमण से नाम, गुरु आदि के साथ ही "कुल" की जानकारी भी प्राप्त करते थे।¹⁴ डॉ. चौधरी के अनुसार "कुल" आचार्य के शिष्यों के क्रम से चले थे और शाखायें कुलों का प्रभेद थीं।¹⁵ प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति में कहा है कि लौकिक दोषों से रहित जो जिनदीक्षा के योग्य होता है वह कुल है।¹⁶

अन्वय

अन्वय का सामान्यतः तात्पर्य "वंश" है। यह प्रायः स्थान विशेष के नाम से स्थापित होता था। जैसे -- कोण्डकुण्डान्वय और चित्रकूटान्वय। वर्तमान में दिगम्बर परम्परा में नवीन मूर्तियाँ प्रतिष्ठित होती हैं तो उनके लेख में प्रायः कुन्दकुन्दान्वय लिखने की परम्परा है। क्योंकि इन्हें मूलसंघ का प्रतिष्ठापक प्रमुख आचार्य माना जाता है। परवर्तीकाल में आचार्य कुन्दकुन्द के आचार की विशुद्धता, प्रभावक व्यक्तित्व और उनके द्वारा रचित समयसार, प्रवचनसार, पंचस्तिकाय, नियमसार, अष्टपाहुड आदि उत्कृष्ट आध्यात्मिकता से भरपूर ग्रन्थों से लोग इतने प्रभावित हुए कि दिगम्बर परम्परा के अधिकांश संघ, गण, गच्छ आदि के प्रमुखों ने अपने को आचार्य कुन्दकुन्द, कुन्दकुन्दान्वय या कुन्दकुन्दान्माय से सम्बन्धित करने में गौरवान्वित समझा। लगभग 12वीं शती के बाद के मूर्ति लेखों के अध्ययन में तो मूलसंघ और कुन्दकुन्दान्वय एक प्रतीत होते हैं।¹⁷

श्रीमती कुरुम पटोरिया ने लिखा है कि जब दिगम्बर परम्परा में कुछ शिथिलाचारी संघों का अविभावि हो

गया, तब आचार्य कुन्दकुन्द की भाँति आचरण की विशुद्धता के पक्षपाती आचार्यों ने शिथिलाचार के विरोध में अपने संघ को तीर्थंकर महावीर के मूलसंघ के निकट (या उनकी सीधी परम्परा का) घोषित करने के लिए "मूलसंघ" नाम दिया। क्योंकि दिगम्बरों में आचार्य कुन्दकुन्द आचरण की विशुद्धता के प्रबल समर्थक थे। अतः मूलसंघ का सम्बन्ध आचार्य कुन्दकुन्द के साथ स्थापित कर दिया तथा अपने से अतिरिक्त जैन संघों को जैनाभासी घोषित कर दिया, क्योंकि इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार में गोपुच्छिक, श्वेतवसना, द्राविड, यापनीय और निर्पिच्छिक -- इन पाँच संघों को जैनाभास कहा है।¹⁸ इनके अतिरिक्त "बलि" नामक अन्य के एक उपभेद का भी उल्लेख मिलता है, जिसका अर्थ है 'परिवार'।

इस तरह हम देखते हैं कि संघ के अन्तर्गत उपर्युक्त इकाइयाँ कार्य कर रही थीं, इनमें पहले परस्पर भेद या अन्तर का ही पता नहीं चलता था, किन्तु बाद में क्रमशः इनमें दूरियाँ बढ़ती गईं।

पद्मचरित्र¹⁹ के रचयिता रविषेणाचार्य (वि.सं. 834) ने अपने ग्रन्थ में गुरुपरम्परा दी है, किन्तु अपने किसी संघ या गण का उल्लेख नहीं किया। इससे भी यह ज्ञात होता है कि दिगम्बर परम्परा में तब तक देव, नन्दि, सेन, सिंह, संघों की उत्पत्ति नहीं हुई थी, कम से कम ये भेद स्पष्ट नहीं हुए थे। शक सं. 1355 के मंगराज कवि के शिलालेख में इस बात का उल्लेख है कि भट्ट अकलंकदेव के स्वर्गावास के बाद यह संघ-भेद हुआ।²⁰

दिगम्बर जैन परम्परा में संघ, गण, गच्छ, अन्य आदि की परम्पराएँ

भगवान् महावीर का संघ, जो उनके बाद निर्गन्ध महाश्रमण संघ के रूप में प्रसिद्ध था, वही भद्रबाहु श्रुतकेवली के समय उत्तर भारत में बारह वर्षीय दुर्भिक्ष के कारण दक्षिण भारत गया था और यह निर्गन्ध संघ ही बाद में "मूलसंघ" के नाम से प्रसिद्ध हुआ और दूसरा श्वेतपट्ट महाश्रमण संघ के नाम से विख्यात हुआ।²¹ श्वेताम्बर परम्परा के कल्पसूत्र स्थविरावली में इस परम्परा के विविध भेदरूप गण तथा शाखाओं के नाम उल्लिखित हैं।

विविध भेदरूप गण, कुल, शाखाएँ आदि चाहते दिगम्बर परम्परा की हों अथवा श्वेताम्बर परम्परा की -- इन सब अन्तर्भेदों का कारण आचार-विचार भेद रहा है। यहाँ दिगम्बर परम्परा के संघ, गण, गच्छों आदि की परम्पराओं का विवेचन प्रस्तुत है --

इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार ग्रन्थ में लिखा है²² कि वीर नि.सं. 565 वर्ष बाद पुण्डवर्धनपुरवासी आचार्य अर्हद्बली प्रत्येक पाँच वर्षों के बाद में सौ योजन की सीमा में बसने वाले मुनियों को युग प्रतिक्रमण के लिए बुलाते थे। एक समय उन्होंने ऐसे प्रतिक्रमण के अवसर पर समागत मुनियों से पूछा कि क्या सभी आ गये ? तो मुनियों ने उत्तर दिया -- हाँ, हम अपने संघ के साथ आ गये हैं। इस उत्तर को सुनकर उन्हें लगा कि जैनधर्म अब गण-पक्षपात के साथ ही रह सकेगा। अतः उन्होंने नन्दि, वीर, अपराजित, देव, पंचस्तूप, सेन, भद्र, गुणधर, गुप्त, सिंह, चन्द्र आदि नामों से विभिन्न संघ स्थापित किये, ताकि परस्पर में धर्म वात्सल्य भाव वृद्धिगत हो सके।

आचार्य अर्हद्बलि ने समागत निर्गन्ध संघ में से जो मुनियों का समूह गुफा से आया था उन्हें "नन्दि" नाम दिया। जो अशोक वाटिका से आये थे उनमें से किन्हीं को "वीर", किन्हीं को "अपराजित" और कुछ को "देव" नाम दिया। जो पंचस्तूप निवास से आये थे उनमें से कुछ को "सेन" तो कुछ को "भद्र" नाम दिया। जो शात्मलिवृक्ष मूल से आये थे, उनमें से किन्हीं को "गुणधर", तो कुछ को "गुप्त" नाम दिया। जो खण्डकेशर वृक्ष के मूल से आये थे, उनमें से कुछ को "सिंह" तथा किन्हीं को "चन्द्र" नाम दिया।²³

संघ के पाँच भेद

उपर्युक्त सभी संघ "मूलसंघ" के अन्तर्गत ही हैं। डॉ. चौधरी जी ने लिखा है कि "मूलसंघ" के पुनर्गठन

काल में 9-10वीं शताब्दी के लगभग सभी गणों को मूलसंघ के एक छत्र के नीचे एकत्रित किया गया तथा मूलसंघ को चार शाखाओं में विभाजित किया गया -- सेन, नन्दि, देव और सिंह। इस संघ में स्थान आदि के नाम पर विशेषकर दक्षिण भारत के स्थानों के नाम से स्थापित विभिन्न संघ, गण, गच्छ आदि के अग्र लिखित उल्लेख मिलते हैं।²⁴ जैसे --

1. संघ -- इसके अन्तर्गत मुख्यरूप में मूलसंघ, नन्दिसंघ, नविलूरसंघ, मयूरसंघ, किचूरसंघ, किट्टूरसंघ, कोल्लतूरसंघ, गनेश्वरसंघ, गौडसंघ, श्रीसंघ, सिंहसंघ, परलूरसंघ आदि।
2. गण -- बलात्कारगण (प्रारम्भिक नाम बलिहारी या बलगारगण), सूरस्थगण, कोलाग्रगण, उदार, योगरिय, पुन्नागवृक्ष, मूलगण, पकुर आदि।
3. गच्छ -- चित्रकूट, होत्तगे, तिगरिल, होगरि, पारिजात, मेषपाषाण, त्रिंणीक, सरस्वती, पुस्तक, वक्रगच्छ आदि।
4. अन्वय -- कौण्डकुन्दान्वय, श्रीपुरान्वय, कित्तूरान्वय, चन्द्रकवाटान्वय, चित्रकूटान्वय आदि।²⁵

सामान्यतः दिगम्बर परम्परा में प्रमुख चार संघ हैं -- मूलसंघ, द्रविडसंघ, काष्ठासंघ और यापनीयसंघ। इनमें प्राचीन मूल, द्राविड व यापनीय तीनों संघों में कतिपय गणों व गच्छों के समान नाम मिलते हैं। मूलसंघ में द्रविडान्वय तथा द्रविडसंघ में कौण्डकुन्दान्वय का उल्लेख मिलता है। मूलसंघ के सेन व सूरस्थगण द्राविडसंघ में भी प्राप्त होते हैं। नन्दिसंघ तीनों में ही है। मूलसंघ के बलात्कारगण, क्राणूरगण यापनीयसंघ में भी हैं। इनमें इन संघों की शाखाओं के संक्रमण का भी पता चलता है।²⁶

नन्दिसंघ

डॉ. चौधरी के अनुगण²⁷ ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि नन्दिसंघ या गण बहुत प्राचीन है। इय संघ की एक प्राकृतफट्टानली मिली है। नन्दिसंघ यापनीय और द्राविडसंघ में भी पाया जाता है। सम्भव है कि प्रारम्भ में नन्दान्त नामधारी (यथा - देवनन्दि, विद्यानन्दि आदि) मुनियों के नाम पर इसका संगठन किया गया हो अथवा नन्दिसंघ की परम्परा में दीक्षित होने के कारण इनके नाम के साथ "नन्दि" जुड़ गया हो। मूलसंघ के साथ इसका उल्लेख यापनीय एवं द्राविड संघ के बाद 12वीं शताब्दी के लेखों में पाते हैं, पर 14-15वीं शताब्दी में नन्दिसंघ एवं मूलसंघ एक-दूसरे के पर्यायवाची बन जाते हैं। इस संघ की उत्पत्ति प्रारम्भ में गुफावासी मुनियों से कही गई है, जिससे प्रतीत होता है कि इस संघ के मुनिगण कठोर तपस्या प्रधान निर्लिप्त वनवासी थे, पीछे तो युगधर्म के अनुसार वे बहुत बदल गये।

देवसंघ -- देवसंघ का संगठन देवान्त नामधारी (नाम के साथ देव नामक संघ परम्परा के होने वाले) मुनियों पर से हुआ था, पीछे इसका प्रतिनिधि देशीगण उपलब्ध होता है।

सेनसंघ -- सेनसंघ का नाम भी सेनान्त अपने नाम के साथ "सेन" लिखने वाले, जैसे जिनसेन आदि मुनियों से हुआ है और इसके प्रतिष्ठापक "आदिपुराण" के कर्ता जिनसेन भट्टारक माने जाते हैं। पर इन्होंने अपने गुरु वीरसेन को पंचस्तूपान्वय का लिखा है। इस अन्वय का उल्लेख पाँचवीं शताब्दी के पहाड़पुर (बंगाल) के लेखों में मिलता है। मथुरा के पंचस्तूपों का वर्णन हरिवंश कथाकोष में आया है। लगता है यह बहुत प्राचीन मुनिसंघ था। सेन गण का पीछे बहुत नाम हुआ, प्रायः सभी भट्टारक सेन गण के ही हुए हैं। इनके मठ कोल्हापुर, मद्रास, पांगोड (आंध्र) और कारंजा में हैं सेनान्वय बड़ा प्रभावशाली रहा है।

द्राविडसंघ -- द्राविडदेश के साधु समुदाय का नाम द्राविडसंघ है। दर्शनसार ग्रन्थ में लिखा है कि आचार्य

पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दि ने वि. सं. 526 में दक्षिण के मदुरा में द्राविडसंघ की स्थापना की।²⁸ शिलालेखों में द्राविडसंघ का पहले कुन्दकुन्दान्वय तथा मूलसंघ के साथ फिर नन्दिसंघ के साथ सम्बन्ध दिखाई पड़ता है। बाद में यह यापनीय सम्प्रदाय के विशेष प्रभावशाली नन्दिसंघ में, इस सम्प्रदाय में अपना व्यावहारिक रूप पाने के लिए उससे सम्बन्ध रखा और द्राविडगण के रूप में उक्त संघ के अन्तर्गत हो गया। बाद में यह द्राविडगण इतना प्रभावशाली हुआ कि उसे ही संघ का रूप दे दिया गया और नन्दिसंघ को नन्दिगण के रूप में निर्दिष्ट किया गया।²⁹

काष्ठासंघ-- यह अन्यसंघों की अपेक्षा अर्वाचीन है। इसकी स्थापना आचार्य जिनसेन के सतीर्थ विनयसेन के शिष्य कुमारसेन द्वारा वि. सं. 753 में हुई, जो नन्दितट में रहते थे। पं. नाथुराम प्रेमी ने इस तिथि को निश्चित नहीं माना। वि. सं. 1734 के पं. बुलाकीचन्द्र के अनुसार काष्ठासंघ की उत्पत्ति उमास्वामी के पट्टाधिकारी लोहाचार्य द्वारा अगरोहा नगर में हुई और काठ की प्रतिमा की पूजा का विधान करने से उसका नाम काष्ठासंघ पड़ा।³⁰ इस संघ का सर्वप्रथम शिलालेखीय उल्लेख सं. 1088 के दूककुण्ड से प्राप्त लेख में है।

बलात्कारगण -- नाम साम्य को देखते हुये यापनीयों के बलहारि या बलगार गण से यह निकला है। क्योंकि दक्षिणपथ के नन्दिसंघ में "बलिहारी या बलगार" गण के नाम पाये जाते हैं, किन्तु उत्तरपथ के नन्दिसंघ में सरस्वती गच्छ और बलात्कार गण ये दो ही नाम मिलते हैं। "बलगार" शब्द दक्षिण भारत के एक ग्राम विशेष का द्योतक है। बलगार गण का पहला उल्लेख सन् 1071 का है। मूलसंघ नन्दिसंघ का बलगार गण ऐसा नाम दिया है।³¹

दूसरा मत यह है कि "बलात्कार" शब्द स्थानवाची नहीं है, अपितु बलात् (जबरदस्ती) धार्मिक यौगिक क्रियाओं में अनुरक्त होने या लगे रहने आदि के कारण इसका नाम "बलात्कार" हुआ जान पड़ता है।³² इसके लिए एक मूर्ति-लेख का उदाहरण (शक सं. 1277 का) इस प्रकार है -- "कुन्दकुन्दान्वय, सरस्वतीगच्छ, बलात्कारगण, मूलसंघ के अमरकीर्ति आचार्य के शिष्य, माघनन्दि व्रती के शिष्य भोगराज द्वारा शान्तिनाथ की मूर्ति की स्थापना की गई।"

यापनीय संघ

एक समय ऐसा आया कि तत्त्वज्ञान एक होने पर भी आचारगत भिन्नता के कारण दिगम्बर-श्वेताम्बर परम्परा की दूरी उत्तरोत्तर दूर होती जा रही थी। अतः इन दोनों में सामंजस्य लाने का श्रेय "यापनीयसंघ" को है। इसके प्रादुर्भाव के पीछे काफी मतभेद है किन्तु यह काफी प्राचीन है। कदम्ब नरेश मृगेशवर्मा के एक ताम्रपत्र (सन् 470 ई.) में इस मतभेद का एक उल्लेख श्वेतपट महाश्रमण संघ और निर्गन्थ महाश्रमणसंघ के रूप में भी किया गया है। इसी नरेश के एक-दूसरे लेख में यापनीय और कूर्चक संघ के साथ निर्गन्थ संघ का उल्लेख है। वस्तुतः यापनीयसंघ दिगम्बर परम्परा के काफी नजदीक है। एक समय यापनीयसंघ बड़ा ही राज्यमान्य था। इसका प्रधान केन्द्र कर्नाटक देश का उत्तरीय-प्रदेश रहा है। इसमें अनेकों श्रेष्ठ प्रतिभाशाली विद्वान् आचार्य हुये हैं। इस सम्प्रदाय के कई ग्रन्थ दिगम्बर, श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में मान्य हैं और कृष्ण संशोधन के साथ पढ़े जाते हैं। शिवार्यकृत भगवतीआराधना और इसकी विजयोदयाटीका के कर्ता आचार्य अपराजित सूरि तथा शाकटायन आदि अनेक आचार्य यापनीय परम्परा से सम्बद्ध श्रेष्ठ आचार्य माने जाते हैं।

संघभेद

इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार में भद्रबाहु एवं लोहाचार्य तक की गुरु परम्परा के पश्चात् विनयदत्त, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हदत्त -- इन चार आचार्यों का उल्लेख किया गया है। ये सभी आचार्य अगों और पूर्वों के

एकदेश जाता थे। दिगम्बर परम्परा के अनुसार भ. महावीर के निर्वाण के पश्चात् 62 वर्ष में तीन अनुबद्ध केवलज्ञानी हुए। उसके पश्चात् 100 वर्ष तक पाँच श्रुतकेवली हुए, उसके बाद 181 वर्ष तक दस पूर्वधारी रहे। फिर 123 वर्ष तक ग्यारह अंगधारी रहे। उसके बाद 99 वर्ष तक दस, नव एवं आठ अंगधारी रहे। इन्हें शेष अंगों व पूर्व के एकदेश का भी ज्ञान था। ये आचार्य और इनका समय इस प्रकार है --

अहिबल्लि माघनन्दि य धरसेणं पुष्पयंत भूदबली ।

अडबीसं इगबीसं उगणीसं तीस बीस बास पुणो ।।

-- नन्दि आम्नाय की पट्टावली 16

अर्थात् 62+100+181+123+99 = 565 वर्ष पश्चात् एक अंगधारी अर्हद्बलि आचार्य हुये, जिनका काल 28 वर्ष था। इनके बाद एक अंगधारी माघनन्दि आचार्य हुये, इनका काल 21 वर्ष रहा। इसके पश्चात् आचार्य धरसेन हुये जिनका काल 19 वर्ष रहा। इनके बाद पुष्पदन्त और भूतबलि जिनका काल क्रमशः 30 वर्ष एवं 20 वर्ष रहा। अर्हद्बलि अपने समय के विशाल संघ के नायक थे, इनका दूसरा नाम गुप्तिगुप्त था। इन्हें पूर्वदेश के पुण्डवर्धनपुर का निवासी माना जाता है। इन्होंने पंचवर्षीय युगप्रतिक्रमण के समय एक विशाल यति सम्मेलन किया। इस सम्मेलन में सौ योजन तक के यति सम्मिलित हुए। उन्हें इन यतियों की भावनाओं से ज्ञात हुआ कि अब पक्षपात का समय आ गया है। अतएव उन्होंने नन्दि, वीर, अपराजित, देव, पंचरतूप, सेन, भद्र, गुणधर, गुप्त सिंह, चन्द्र आदि जिनका उल्लेख पहले किया गया है इन नामों से भिन्न-भिन्न संघ स्थापित किये, ताकि गणतन्त्रात्मक स्वरूप सुरक्षित रहे और अलग-अलग इकाइयों में रहकर भी सभी आचार-विचार और मर्यादाओं में समान रूप से संरक्षित होकर आत्मकल्याण में निर्विघ्न संलग्न रह सकें तथा एक स्थान की अपेक्षा देश के सभी क्षेत्रों में जा-जाकर नैतिकता आदि का प्रसार अधिकता से कर सकें।

इस प्रकार संघों के इस विवेचन से स्पष्ट है कि अनुशासन, आचार-विचार और संयम की निरन्तर प्रगति हेतु सभी संघ कुछ इकाइयों में अलग-अलग बँटकर भी विभिन्न क्षेत्रों में अनेक बाधाओं और कठिनाईयों के बावजूद जैनधर्म-दर्शन और उसकी संस्कृति तथा साहित्य की मूल परम्पराओं को सुरक्षित रखकर सम्पूर्ण भारत में अहिंसा, अनेकान्तवाद और सर्वोदय की अलख जगाए हुए थे। परन्तु तीर्थंकर महावीर ने श्रमणसंघ को जो गणतन्त्रात्मक स्वरूप दिया था उसकी रक्षा करते हुए आत्मकल्याण के मार्ग पर सुदृढ़ रहने की सभी को समान रूप से चिन्ता ही नहीं रही फलतः किंचित् शिथिलाचार भी आया। किन्तु उसका खुलकर विरोध भी किया गया और यही कारण है कि आज भी सम्पूर्ण भारत में जैन श्रमण संघों के प्रति समान रूप से सभी की परम आस्था है। इस आस्था की रक्षा हेतु सभी संघ सदा सचेष्ट भी रहते हैं।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. रत्नत्रयोपेतः श्रमणगतः संघः -- सर्वार्थसिद्धि, 6/13, पृ. 331
2. श्रमयन्ति तपस्यन्ति इति श्रमणाः तेषां समुदायः श्रमणसंघः
-- भगवतीआराधना, विजयोदयाटीका, 510, पृ. 730
3. मूलाचार, 5/66
4. नन्दिसूत्र स्थविरावली, 7-8
5. सर्वार्थसिद्धि, 9/24, पृ. 442, त. 2, श्लोक वा., 9/24, भावपाहुड टीका, 78
6. आचारांगशीलाकवृत्ति, 2,1,10,279, पृ. 322
7. आ. भिक्षु स्मृति ग्रन्थ -- द्वितीय खण्ड, पृ. 291
8. वरं गणपवेसादो विवाहरस पवेसणं।
विवाहे राग उत्पत्ति गणो दोसाणमागरो।। -- मूलाचार, 10.92
9. आचार्यभिक्षु स्मृतिग्रन्थ, पृ. 292
10. गच्छ ऋषिकुलं -- मूलाचार वृत्ति 4/185
11. सप्तपुरुषकस्त्रिपुरुषको वा गच्छः, वही, 4/174
12. सर्वार्थसिद्धि, 9/24, पृ. 442
13. स्थानांग टीका (अभयदेवसूरी), पृ. 516
14. मूलाचार, 4/166
15. आचार्य भिक्षु स्मृतिग्रन्थ, पृ. 291
16. प्रवचनसार ता. वृत्ति, 203, पृ. 276
17. यापनीय और उनका साहित्य, पृ. 42
18. गोपुच्छिका श्वेतवासा द्राविडो यापनीयकाः।
निपिच्छकाश्चेति पंचैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः।। -- इन्द्रनन्दिश्रुतावतार, 10
19. पद्मचरितम् - भाग 1, श्री नाथूराम प्रेमी का प्राक्कथन, सन् 1928
20. तरिमन्वाते स्वर्गभुवं महर्षो दिवःपतिं नर्तुमिवप्रकृष्टां।
तदन्वयोद्भूत मुनीश्वराणां बभूवुरित्यं भुवि संघभेदाः।।19।। जैन सिद्धान्त भाष्कर अंक 2-3 में प्रकाशित
शिलालेख।
21. जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, भाग 2, पृ. 55
22. इन्द्रनन्दि श्रुतावतार श्लोक, 91-95
23. आयातौ नन्दिवीरौ प्रकटगिरिगुहावासतोऽशोकवाटा-
ददेवाश्वान्योऽपरादिजित इतियतयो सेन-भद्राद्यू च।
पंचस्ताप्यात्सगुप्तौ गुणधरवृषभः शाल्मलीवृक्षमूलात्
निर्यातौ सिंहचन्द्रौ प्रथितगुणगणौ केसरात्खण्डपूर्वात्।।
- इन्द्रनन्दि कृत श्रुतावतार श्लोक 96
24. आचार्य भिक्षु स्मृतिग्रन्थ, पृ. 295
25. वही,
26. यापनीय और उनका साहित्य, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी, पृ. 41,
27. आचार्य भिक्षु स्मृतिग्रन्थ, पृ. 294

डॉ. फूलचन्द जैन "प्रेमी"

28. दर्शनसार, 24-28
29. जैनशिलालेखसंग्रह, भाग 2, पृ. 213-214 (यापनीय और उसका साहित्य, पृ. 56 से उद्धृत)
30. पं. बुलाकीचन्दकृत वचनकोश (यापनीय और उसका साहित्य, पृ. 59 से उद्धृत)
31. जैनशिलालेख संग्रह, भाग 3, प्रस्तावना, पृ. 62
32. जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, भाग 2, पृ. 57

* फूलचन्द जैन "प्रेमी", अध्यक्ष, जैन दर्शन विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी-2.

जैनधर्म में अमूर्तिपूजक सम्प्रदायों का उद्भव एवं इतिहास

- प्रो. नरेन्द्र भानावत

जैनधर्म का वैशिष्ट्य

जैनधर्म मूलतः आत्मवादी धर्म है। इसमें ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता, भर्त्ता और हर्त्ता न मानकर, उसे आत्म-चेतना की चरम विकास की स्थिति में देखा जाता है। व्यक्ति को सुख-दुःख ईश्वर के द्वारा देय नहीं है। आत्मा स्वयं ही अपने सुख-दुःख का कर्त्ता है। सदप्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा मित्र रूप है जबकि दुष्प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा शत्रु रूप है --

"अप्या कर्त्ता विकर्त्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्या मित्तममित्तं च, दुपाट्ठियसुप्पाट्ठिओ" ॥ ११ ॥

- उत्तराध्ययनसूत्र, 20/37

भगवान महावीर ने साधना के केन्द्र में प्रतिष्ठित देवी-देवताओं के स्थान पर मनुष्य की पुरुषार्थ-साधना को प्रतिष्ठित किया और यह उद्घोषणा की कि मनुष्य में अनन्त-शक्ति विद्यमान है। उसे साधना के द्वारा जाग्रत कर वह परमात्मदशा को प्राप्त हो सकता है। परमात्मा कहीं बाहर नहीं है, वह मनुष्य के अन्तर्जगत में प्रतिष्ठित है। अतः बाहरी युद्धों की निरर्थकता घोषित करते हुए उन्होंने अपने ही विकारों से युद्ध करने को, उसमें विजय प्राप्त करने को परम विजय बताया। अन्तिम देशना में उन्होंने स्पष्ट कहा -- जो पुरुष दुर्जेय संग्राम में दस लाख योद्धाओं पर विजय प्राप्त करे, उसकी अपेक्षा जो अपने आपको जीतता है, वह परम विजय है --

"जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे।
एयं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ" ॥ १२ ॥

- उत्तराध्ययनसूत्र, 9/34

आत्मविजय में सबसे बड़ी बाधा व्यक्ति के स्वयं के मनोविकार हैं, जिन्हें राग-द्वेष कहा गया है। अनुकूल के प्रति राग और प्रतिकूल के प्रति द्वेष के कारण व्यक्ति संकल्प-विकल्प करता रहता है। मन, वचन, काया के द्वारा राग और द्वेष की वृत्तियों से बंधकर व्यक्ति अपनी आत्म-शक्तियों को आच्छादित कर लेता है। शास्त्रीय भाषा में इसे कर्मों का आवरण कहा गया है। राग की अभिव्यक्ति माया, मोह, भोग, लोभ आदि में होती है और द्वेष की अभिव्यक्ति क्रोध, मान, ईर्ष्या आदि में इन्हें कषाय कहा गया है। काषायिक वृत्तियों द्वारा मनुष्य सांसारिक प्रपंचों में कसता जाता है। परिणामस्वरूप उसकी आत्म-शक्तियाँ मन्द और कुंठित हो जाती हैं, वह पराधीन होकर जड़ पदार्थों से बंधता चलता है। जब तक वह इन कर्म-आवरणों से अपनी आत्मा को अलग नहीं कर लेता, विकारों को नष्ट नहीं कर लेता, तब तक अखण्ड, अक्षय, आनन्द का अनुभव नहीं कर पाता। जब वह संयम द्वारा नये आने वाले पाप कर्मों को रोक देता है और तप के द्वारा संचित पुराने कर्मों को नष्ट कर देता है, तब वह वीतराग बन जाता है। वीतरागता की प्राप्ति ही सच्ची मुक्ति है। सम्यक्-ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की आराधना कर वह आत्म-शक्ति का घात करने वाले ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्मों को नष्ट कर देता है। इन घाती कर्मों के नष्ट होने पर साधक की आत्मा अत्यन्त, निर्मल, विशुद्ध हो परमात्मदशा को प्राप्त कर लेती है। यही अर्हत् अथवा जीवनमुक्त अवस्था है, जिसमें मन, वचन, काया की प्रवृत्ति रहते हुए भी कर्म बन्ध नहीं होता। शरीर छोड़ने पर जिस निर्वाण-दशा की प्राप्ति होती है, वह सिद्ध-अवस्था है। जैनधर्म साधना का अन्तिम लक्ष्य इसी अर्हत् और सिद्ध अवस्था की प्राप्ति है।

2. उपासना की विविध साधना पद्धतियाँ

आत्मा और परमात्मा, जिन और शिव के पारस्परिक सम्बन्धों और स्वरूप को लेकर विविध उपासना पद्धतियों का विकास हुआ है। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि प्रारम्भ में जब सृष्टि के प्रांगण में जीव ने आँखें खोली होंगी तो विविध प्राकृतिक दृश्यों और शक्तियों को देखकर वह आश्चर्यचकित रह गया होगा। प्राकृतिक घटनाओं और बदलते हुए दृश्यों को उसने उत्सुकता, जिज्ञासा और कुतूहल भरी दृष्टि से देखा होगा। इसी मनःस्थिति में उसने पंच तत्त्वों -- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश की शक्तियों के रूप में विभिन्न देवों की कल्पना की होगी। ज्यों-ज्यों उसका सम्पर्क विविध शक्तियों से होता गया, उसकी देव कल्पना विस्तार पाती गयी और बहुदेववाद की धारणा पुष्ट होती गयी, पर जब बहिर्मुखी उत्सुकता और जिज्ञासा कम होने लगी, तर्क और ज्ञान सूक्ष्म होने लगा तो बहुदेववाद से पंचदेव उपासना और त्रिदेव -- ब्रह्मा, विष्णु, महेश की प्रतिष्ठा के क्रम में एक ब्रह्म-एकेश्वरवाद, एकत्ववाद, निर्गुण-निराकार, निरंजनशक्ति जो सर्वोपरि है, सर्व शक्तिमान है, की धारणा पुष्ट बनी। यह निर्गुण-निराकार ब्रह्म कहीं बाहर नहीं। इसकी उपासना ने बहिर्मुखी प्रवृत्ति को अन्तर्मुखी बनाया। ज्ञान, योग, ध्यान और सदाचार उपासना के मुख्य अंग बने, पर सर्व साधारण के लिए निर्गुण-निराकार उपासना सहज-सरल न थी। अतः अवतारवाद के रूप में सगुण-साकार उपासना सामने आयी, जिसमें विभिन्न अवतार परमात्मा की अभिव्यक्ति के रूप में प्रकट हुए। भक्ति, समर्पण, स्तुति, स्तवन इस उपासना के मुख्य अंग बने। दोनों उपासनाओं का मुख्य उद्देश्य विकारों को दूर कर शुद्ध और निर्मल बनकर परमात्मा से साक्षात्कार करना रहा है। सगुण-साकार रूप में आलम्बन की प्रवृत्ति होने से मन की एकाग्रता साधने में विशेष सहायता मिलती है। यह सगुण-साकार आलम्बन प्रारम्भ में मंगल चिह्न स्वस्तिक, ध्वज, कलश, वृक्ष आदि के रूप में सामने आया। कालान्तर में इसने स्मृति चिह्न का रूप ग्रहण किया। चिन्ता पर बनाये जाने वाले ऐसे स्मृति चिह्न आगे चलकर स्तूप और चैत्य कहे जाने लगे। मथुरा व अन्यत्र हुई खुदाई से प्राप्त पुरातात्विक अवशेष आयागपट्ट इसी प्रकार के प्रतीक चिह्न हैं। इनके साथ सम्बन्धित महापुरुषों के जीवन की विशिष्ट घटनाओं की स्मृति जुड़ी हुई थी। उसका स्मरण कर जीवन में विशेष प्रेरणा जगे, यह अभीष्ट था। इनके साथ किसी चमत्कार, अतिशय या पूज्य भाव का जुड़ाव नहीं था, न उनकी पूजा होती थी। फोटोग्राफी का विकास होने पर जिस प्रकार आज हम अपने पूर्वजों या परिचितों के चित्र संचित-संरक्षित करते हैं, ताकि उनकी स्मृति बनी रहे, पर हम उनकी न पूजा करते हैं, न किसी प्रकार की अभ्यर्थना करते हैं। प्राचीन जैन शास्त्रों में, अंग सूत्रों में चैत्य आदि के जो संकेत मिलते हैं, वे इसी रूप में स्मृति चिह्न होने सम्भावित हैं। चैत्य का अर्थ मूल रूप में उस अवस्था या स्थान से है, जहाँ साधक अपनी चित्तवृत्ति का, चेतना का अन्तरावलोकन, ध्यान करता है। इसी अर्थ में इसे ज्ञान से जोड़ा जा सकता है। बाद में चैत्य शब्द का अर्थ अपनी आन्तरिकता को छोड़कर बहिर्मुखी बन गया और उसका अर्थ मन्दिर किया जाने लगा।

भगवान् महावीर का युग बौद्धिकजागरण का युग था। चली आती हुई गतानुगतिक पारम्परिकता को उन्होंने झकझोरा। कहा जाता है उनके समय में 363 दार्शनिक मत प्रचलित थे। आजीवक मत का प्रवर्तक गोशालक अपने को तीर्थंकर मानता था। पूरण काश्यप, संजय वैलट्टीपुत्र, पकुध कात्यायान, अजित केशकम्बल आदि प्रमुख दार्शनिक अपनी-अपनी विचारधारा का प्रचार कर रहे थे। महावीर ने इन सबका आलोड़न-विलोड़न कर शुद्ध चेतना के स्तर पर आत्मवादी धर्म की प्रतिष्ठा की, जिसमें इन्द्रियजयता और आत्मानुभव प्रमुख थे, पर महावीर के साथ ही तीर्थंकर परम्परा समाप्त हो गयी।

उनके प्रथम एवं ज्येष्ठ शिष्य गणधर इन्द्रभूति गौतम को उसी रात्रि केवलज्ञान हो गया, जिस रात्रि महावीर निर्वाण को प्राप्त हुए। इस कारण इन्द्रभूति गौतम महावीर के धर्म संघ के उत्तराधिकारी न बन सके और गणधर सुधर्मा प्रथम पट्टधर- उत्तराधिकारी बने। सुधर्मा के बाद जम्बूस्वामी द्वितीय पट्टधर हुए। जम्बूस्वामी के साथ केवलज्ञान की परम्परा समाप्त हो गयी। जम्बू अन्तिम केवली थे। केवली काल के बाद भ्रुतकेवली काल प्रारम्भ होता है। यह काल दीर निर्वाण सं. 64 से 170 तक कुल 106 वर्ष तक चलता है। इस काल में आचार्य

प्रभवस्वामी, आचार्य शय्यंभव, आचार्य यशोभद्र, आचार्य संभूतिविजय और आचार्य भद्रबाहु ये पाँच श्रुतकेवली हुए। उसके बाद वीरनिर्वाण सं. 170 से 584 (414 वर्ष) का काल 10 पूर्वधर काल कहलाता है। इस काल में आचार्य स्थूलभद्र, आचार्य महागिरि, आचार्य सुहस्ती जैसे आचार्य हुए। वीरनिर्वाण सं. 584-1000 तक (416 वर्ष) का काल सामान्य पूर्वधर काल है। इस काल में आर्यरक्षित, आचार्य वज्रसेन, आचार्य नागार्जुन, आचार्य भूतदिन्न, आचार्य देवर्धिक्षमाश्रमण जैसे महान् आचार्य हुए। इस युग तक आते-आते स्मृति दोष के कारण श्रुत परम्परा से चले आये आगम पाठों में मतभेद हो गया। आचार्य देवर्धिक्षमाश्रमण की अष्टयक्षता में श्रमण संघ की एक समिति वल्मी (गुजरात) में हुई और स्मृति के आधार पर जैन आगम लिपिबद्ध किये गये। वर्तमान में जो जैन आगम प्रचलित हैं, वे इसी समिति की देन हैं।

पारम्परिक दृष्टि से यह माना जाता है कि महावीर के निर्वाण के लगभग 609 वर्षों के बाद जैनधर्म दो भागों में विभाजित हो गया -- दिगम्बर और श्वेताम्बर। जो मत साधुओं की नग्नता का पक्षधर था, वह दिगम्बर कहलाया अर्थात् दिशाये ही जिनके वस्त्र हैं। जो मत साधुओं के वस्त्र-पात्र आदि का समर्थक रहा, वह श्वेताम्बर कहलाया अर्थात् श्वेत हैं वस्त्र जिनके। आगे जाकर दिगम्बर मत कई संघों में बँट गया। इनमें मुख्य हैं -- द्वाविडसंघ, काष्ठासंघ और माथुरसंघ। श्वेताम्बर संघ भी दो भागों में बँट गया -- चैत्यवासी और वनवासी।

कालप्रवाह के साथ भगवान् महावीर ने जिस शुद्ध आत्मिक क्रांतिमूलक धर्म साधना का मार्ग प्रस्तुत किया, उसमें शुद्धता का भाव गौण होता चला गया और देववाद, मूर्तिवाद तथा उससे उत्पन्न विकृतियाँ घर करती गयीं। इन विकृतियों के कई ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक और नैतिक कारण हैं। ऐतिहासिक कारणों से दक्षिण भारत में पनपने वाला शैवमत, लिंगायत सम्प्रदाय तथा शंकराचार्य का अद्वैतवाद प्रमुख हैं। व्यापक स्तर पर जैनधर्म और उसके अनुयायियों के खिलाफ विद्रोह का वातावरण बना और इस संघर्ष ने सामूहिक हिंसा तक का रूप ले लिया। अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए जैन आचार्यों ने हिन्दू धर्म की पूजा-पद्धति, क्रियाकाण्ड और संस्कार विधि को अपना लिया। यहाँ तक कि जनेऊ भी धारण कर ली। भगवान् बुद्ध के मध्यम मार्ग को अपना कर जैनधर्म की कठोर तपश्चर्या विधि का भी सरलीकरण किया गया। इसके फलस्वरूप भी आचार-विचार में शिथिलता आयी। बौद्धधर्म की महायानशाखा में मूर्तिपूजा को स्थान मिला। धीरे-धीरे स्तुति, स्तवन एवं प्रेरणारूप भक्ति ने मूर्तिपूजा का स्थान लिया और कालान्तर में मूर्तिपूजा गुणानुराग भक्ति का प्रेरणा रूप न रह कर द्रव्य पूजा और तज्जन्य आडम्बरों, प्रदर्शनों में उलझकर रह गयी। साधु और श्रावक के लिए आगम ग्रन्थों में जो षट्कर्म संकेतित है। वे हैं-- सामायिक चौबीस स्तव, वंदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। ये षट्कर्म षष्ठावश्यक कहे गये हैं। इनका मुख्य उद्देश्य पर-पदार्यों से हट कर अन्तर्मुखी होना है। इनमें वीतराग प्रभु की स्तुति और स्तवन का उल्लेख है। मूर्ति प्रतिष्ठा और मूर्तिपूजा का संकेत नहीं है। उपासकदशांग, भगवतीसूत्र, आचारांग, सूत्रकृतांग, ज्ञाताधर्मकथा, समवायांग, ठाणांग आदि आगम ग्रन्थों में जहाँ श्रावकाचार का वर्णन आया है, वहाँ कहीं भी मूर्तिपूजा का उल्लेख नहीं है। चैत्य और यक्षायतन का जहाँ उल्लेख है उसका अर्थ जिन-मूर्तिप्रतिष्ठित मन्दिरों से नहीं है। साधुओं के लिए तो आज भी व्यापक रूप में मन्दिर निर्माण और मूर्तिपूजा का प्रचलन होने पर भी मूर्तिपूजन व्यवहार में नहीं है।

3. मूर्तिपूजा के नाम पर विकृतियाँ

जब जैनधर्म अपने आत्म केन्द्र से हट कर परिधि-की ओर मुड़ा तो उसमें नाना प्रकार की विकृतियाँ घर कर गयीं। यही नहीं मूल आगम ग्रन्थों की निर्युक्ति, भाष्य, चूर्ण, वृत्ति, टीका, वचनिका आदि रूप में जो व्याख्यायें प्रस्तुत की गयीं, उस साहित्य में आचार्यों और भाष्यकारों ने विभिन्न कथाओं, घटनाओं और चरित्र का इस प्रकार विवेचन-विश्लेषण किया, जिनसे जिन-मन्दिर निर्माण, मूर्तिपूजा और विभिन्न प्रतिष्ठा समारोह की पुष्टि होती है। यह लेखन परवर्ती द्रव्य पूजा के प्रभाव का परिणाम लगता है। नवांगीवृत्तिकार अभयदेक्सूरि द्वारा रचित "आगम अट्ठोत्तरी" की निम्नलिखित गाथा इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है --

**"देवडिड खमासमण जा, परंपरं भावओ वियाषेमि।
सिदिलायारे ठविया, दव्वेण परंपरा बहुहा।।**

अर्थात् -- देवद्वि क्षमाश्रमण तक जो भाव परम्परा (भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित मूल परम्परा) अक्षुण्ण रूप से चलती रही। यह मैं जानता हूँ पर देवद्विगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ होने के अनन्तर साधु प्रायः शिथिलाचारी बन गये और उसके परिणामस्वरूप अनेक प्रकार की द्रव्य परम्पराएँ स्थापित कर दी गयीं।

इसके परिणामस्वरूप साधुचर्या में कई प्रकार की शिथिलता घर कर गयी। विक्रम की 12वीं शती के प्रभावक आचार्य जिनवल्लभसुरि ने "संघपट्टक" नामक एक ग्रन्थ की रचना की, जिसमें चैत्यवासी परम्परा के साधुओं के 10 नियमों का संकेत मिलता है। इन नियमों में मुख्य हैं-- श्रमण-श्रमणियों के लिए बनाये गये आहार को ग्रहण करना, उसमें दोष न मानना, जिन मन्दिरों में साधु-साधवियों का सदा के लिए नियतवास करना, साधु द्वारा धनसंग्रह करना, गृहस्थों को उपदेश, गुरु-मन्त्र आदि देकर अपने पीढ़ी-प्रपीढ़ी के श्रावक बनाना, जिन मन्दिरों को अपनी सम्पत्ति के रूप में स्वीकार करना। ऐसे सिंहासनों पर बैठना जिनका प्रतिलेखन-प्रमार्जन सम्भव नहीं है। इनके पूर्व आचार्य हरिभद्रसुरि ने 'संबोध प्रकरण' में इसकी कड़ी आलोचना की थी।

द्रव्य पूजा की परम्परा बहिर्मुखी वृत्ति से जुड़ने के कारण धीरे-धीरे सभी वर्ग के लोगों में, अधिकाधिक प्रिय होती चली गयी। इसके प्रचार-प्रसार में दक्षिण के गंग, कदम्ब, राष्ट्रकूट, होयसल्ल आदि राजवंशों से भी उल्लेखनीय योगदान मिला। आचार्यों द्वारा मूर्तिपूजा को दैनिक धार्मिक कर्तव्यों में स्थान दिया गया। परिणामस्वरूप देवी-देवताओं के स्थान पर तीर्थकरों की मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित की जाने लगीं और बड़ी संख्या में जिन-बिम्ब एवं जिन-मन्दिरों का निर्माण हुआ। मंदिरों में मूर्तियों की प्रतिष्ठा करने के लिए बड़े-बड़े समारोह आयोजित होने लगे। इन समारोहों के साथ विविध प्रकार के चमत्कार, अतिशय आदि जुड़ गये और जड़मूर्ति को सचेतन करने की भावना से बड़े-बड़े हवन और मंत्रोच्चार होने लगे। यह माना जाने लगा कि इन सब के पुण्य प्रभाव से ही मूर्ति में पूज्यता का भाव आता है और उसकी पूजा-उपासना हमारी कामनापूर्ति में सहायक बनती है। समय-समय पर मुनियों और आचार्यों की प्रेरणा से पंचकल्याणक, अंजनशलाका जैसे महोत्सव आयोजित किये जाने लगे। इन महोत्सवों में अलग-अलग पूजा विधानों के लिए बड़ी-बड़ी बोलियाँ बोल कर धन इकट्ठा किया जाने लगा। यथा जन्मकल्याणक महोत्सव पर इन्द्र-इन्द्राणी बन कर लोग जिन प्रतिमा को अभिषेक का लाभ लेकर अपने को धन्य मानते। विभिन्न पर्व और त्योहारों पर जिन-मूर्ति को रजत, स्वर्ण, हीरे, रत्न जड़ित विविध आकर्षक और मोहक बहुमूल्य आभूषणों से अलंकृत किया जाता और उनकी पूजा में अष्ट द्रव्य-जल, चंदन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल चढ़ाये जाते और पंचामृत से उनका प्रक्षालन किया जाता। इन सबके लिए प्रतिस्पर्धात्मक बोलियाँ बोली जातीं। जिनसे विपुल राशि के रूप में देव-द्रव्य इकट्ठा होता रहा। इस प्रकार मूर्तिपूजा-आत्मशुद्धि और वीतराग भाव की प्रेरणा देने के प्रतीक से हट कर वैभव और प्रदर्शन की प्रतीक बन गयी। पूजा-पद्धति और उपासना विधि के नाम पर कई गच्छ और सम्प्रदाय बन गये तथा तीर्थ क्षेत्रों को लेकर परस्पर संघर्ष और विग्रह पैदा हो गया। परिणामस्वरूप मंदिर और मूर्ति राग-द्वेष को दूर करने के बजाय राग-द्वेष की वृद्धि करने के कारण बन गये।

आत्मशुद्धि और कषाय उपशान्तता का उद्देश्य गौण होकर जब भौतिक कामना पूर्ति का लक्ष्य प्रधान बन गया तो न केवल वीतरागप्रभु की मूर्ति को भौतिक पदार्थों से सजाया-संवारा जाने लगा वरन् भौतिक पदार्थों की प्राप्ति के लिए तीर्थकरों के शासन देव-देवियों की पूजा उपासना की जाने लगी। यहाँ तक कि शासन देव-देवियाँ ही पूजा के मुख्य केन्द्र बन गये। पार्श्वनाथ गौण हो गये और उनके भैरव तथा पद्मावती देवी प्रधान बन गयी। देव मन्दिरों का परिवेश, विधि-विधान, व्यवस्था क्रम किसी सामन्तशाही विधि विधान से कम न रहा। चमत्कार और ईश्वर कर्तृत्व के खिलाफ क्रांति फूँकने वाला जैनधर्म स्वयं चमत्कार में उलझ गया और जिनेन्द्र भगवान के सामने उन्हें अपने सुख-दुःख का कर्त्ता मानकर गिड़गिड़ाने लगा। दीन-हीन बनकर उनके सामने याचना करने लगा। भौतिक सुख के लिए, इन्द्रिय भोगों के लिए, सांसारिक कामनाओं की पूर्ति के लिए जन्म-मन्त्र और टोने-टोटकों

के आकर्षण ने जन-साधारण के पुरुषार्थ भाव को सुषुप्त कर दिया। कर्मवादी जैन धर्मानुयायी देवीयकृपा का दास बनकर रह गया।

4. अमूर्तिपूजक सम्प्रदायों का उद्भव और विकास

मूर्तिपूजा के नाम पर बढ़ती हुई इन विकृतियों के फलस्वरूप न केवल जैन धर्म में वरन् अन्य धार्मिक परम्पराओं में भी जबरदस्त क्रांति की लहर आयी। सभी धर्मों में मोटे तौर पर निर्गुण ब्रह्म को ही सर्वोपरि शक्ति के रूप में माना गया है। गुण का एक अर्थ है रस्सी। रस्सी बाँधने के काम में आती है। अतः रस्सी का लक्ष्यार्थ हुआ बंधन। निर्गुण अर्थात् नहीं बंधना, बन्धन रहित, मुक्त। निर्गुण उपासना में मुख्य लक्ष्य सांसारिक बन्धनों से रहित होना है। सगुण उपासना में आराध्य के गुणों से बाँधने का भाव रहता है। आराध्य के गुण जब साधक में स्वयं आविर्भूत हो जाते हैं तब निर्गुण और सगुण उपासना के लक्ष्य में कोई गुणात्मक अन्तर नहीं रहता। मंहाकवि तुलसीदास ने "निगुणहिं सगुणहिं, नहिं कुछ भेदा" कह कर इसी ओर संकेत किया है, पर जब सगुण उपासना के नाम पर परमात्मा के गुणों को आत्मसात् करने की दृष्टि और प्रवृत्ति लुप्त हो जाती है तथा बाह्य सांसारिक वैभव और भौतिक समृद्धि की प्राप्ति प्रमुख लक्ष्य बन जाती है, तब धर्म, धर्म नहीं रहता, वह व्यवसाय बन जाता है। मूर्तिपूजा के नाम पर जब व्यावसायिक वृत्ति और भोग प्रवृत्ति फनफने लगी तब आत्मवादी धर्म-चिन्तकों और अध्यात्म योगी सन्तों ने इसका डटकर विरोध किया। अरब देशों में जब जाति और कबीलों के मुख्य पुरुषों की मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित कर उनकी पूजा होने लगी और बड़ी संख्या में हर जाति व कबीले के अलग-अलग देव खड़े हो गये तो मुहम्मद साहब ने मूर्तिपूजा के खिलाफ जिहाद छेड़ा। सिखधर्म में मूर्ति के स्थान पर गुरुग्रन्थ पूज्य है। विश्नोई सम्प्रदाय के प्रवर्तक जामोजी (सं. 1508-93), जसनाथी सम्प्रदाय के प्रवर्तक जसनाथजी (सं. 1539-63) निरंजनी सम्प्रदाय के प्रवर्तक हरिदासजी (सं. 1512-95) तथा प्रसिद्ध सन्त कबीर अमूर्तिपूजक परम्परा के ही आध्यात्मिक पुरुष थे। 15वीं-16वीं शती में मूर्तिपूजा के खिलाफ जो तीव्र लहर उठी, उसकी आहट के स्वर बराबर सुने जाते रहे हैं।

जैन परम्परा में भगवान महावीर के बाद जो विभिन्न गच्छ और सम्प्रदाय अस्तित्व में आये, उनमें मोटेतौर पर उत्तरोत्तर सुधारक प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने "अष्टपाहुड" के अन्तर्गत "बोधपाहुड" में आयतन, चैत्यगृह, जिनप्रतिमा, दर्शन, जिनबिम्ब, जिनमुद्रा, देव, तीर्थ आदि का जो वर्णन किया है, वह एक प्रकार से निर्गन्थ साधुओं के स्वरूप का ही वर्णन है। उनके अनुसार जिन मार्ग में संयम के धनी मुनिराज ही आयतन हैं। षट्काय के जीवों की रक्षा करने वाले संयमी, आत्मज्ञानी मुनिराज ही चैत्यगृह हैं। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य से युक्त निर्गन्थ वीतरागी मुनियों की चलती-फिरती जंगम देह ही जंगम प्रतिमा है। अष्टकर्म रहित अनन्त चतुष्टय सहित देह रहित अचल सिद्धभगवान ही स्थावर प्रतिमा हैं। कर्म क्षय के कारण ही शुद्ध शिक्षा और दीक्षा देने वाले वीतरागी, संयमी आचार्य देव ही वस्तुतः जिन देव के प्रतिबिम्ब हैं। जिनकी मुद्रा इन्द्रिय-विषयों और कषाय भावों का मर्दन करने वाली है ऐसे आचार्य देव ही वास्तव में जिन मुद्रा हैं, जिसका मोह नष्ट हो गया है, वह देव है। जिससे तिरा जाए, वह तीर्थ है।

चैत्यवासी परम्परा के आचार्यों ने भी इन विकृतियों के खिलाफ क्रियोद्धार का शंखनाद किया था। 11वीं शती के वर्धमान सूरि, उनके शिष्य जिनेश्वरसूरि, जिनदत्तसूरि, जगदन्द्रसूरि आदि उल्लेखनीय हैं। खरतरगच्छ, तपागच्छ, अंचलगच्छ, आगमिकगच्छ, बड़गच्छ आदि अपनी सीमा में इन विकृतियों का विरोध करते रहे हैं। पर इनका विरोध अधिक प्रभावी नहीं बन सका और मूर्तिपूजा के नाम पर आयी हुई विकृतियाँ बढ़ती रहीं।

जैन परम्परा में मूर्तिपूजा के खिलाफ जबरदस्त विरोध करने, वाले 15वीं-16वीं शताब्दी में दो महापुरुष हुए। लोकाशाह और तारणस्वामी। लोकाशाह से लोकागच्छ और तारणस्वामी से तारणपंथ विकसित हुआ। लोकाशाह की विचारधारा पर आधारित स्थानकवासी सम्प्रदाय का वर्तमान में काफी प्रभाव है। स्थानकवासी सम्प्रदाय से ही 18वीं शती में तेरापन्थ सम्प्रदाय का उद्भव हुआ। इसके प्रवर्तक सन्त भीखणजी थे। इन सम्प्रदायों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है --

1. लोकाशाह और स्थानकवासी सम्प्रदाय

लोकाशाह एक क्रांतिकारी, अध्ययनशील, निर्भीक और साहसी श्रावक थे। इनकी जन्मतिथि, जन्म-स्थान, दीक्षा आदि के सम्बन्ध में विद्वान एकमत नहीं हैं। इनके जन्म के सम्बन्ध में मोटेतौर से तीन मत प्रचलित हैं -- सं. 1472, 1475 और 1482। कार्तिक पूर्णिमा इनकी जन्म तिथि मानी जाती है। जन्म स्थान के सम्बन्ध में भी मतभेद हैं। अर्हट्टवाड़ा (सिरोही), पाटन, अहमदाबाद, लिंबडी और जालोर का नाम लिया जाता है। बहुत सम्भव है "अर्हट्टवाड़ा" इनकी जन्म भूमि रही हो। धार्मिक क्रांति का विशेष कार्य अहमदाबाद से ही हुआ। इनके माता-पिता के नाम के सम्बन्ध में भी मतभेद है। अधिकांश विद्वानों का मत है कि अर्हट्टवाड़ा के चौधरी हेमाभाई इनके पिता थे और माता का नाम था गंगाबाई था। इनका विवाह सिरोही के प्रसिद्ध सेठ शाह औधवजी की सुपुत्री सुदर्शना के साथ हुआ, जिनसे पूर्णचन्द्र नामक एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ। जब ये 23 वर्ष के थे इनकी माता का और 25वें वर्ष में पिता का देहान्त हो गया। इनका निधन सं. 1546 में चैत्र शुक्ला एकादशी को हुआ माना जाता है।

लोकाशाह मधुरभाषी, अध्यवसायी और प्रभावशाली व्यक्ति थे। सिरोही और चन्द्रावती इन दोनों राज्यों के बीच युद्धजन्य स्थिति के कारण अराजकता और व्यापारिक अव्यवस्था फैल जाने से ये अहमदाबाद आ गये और जवाहरात का व्यापार करने लगे। अल्पसमय में ही इन्होंने अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली। कहा जाता है कि अहमदाबाद के तत्कालीन शासक मोहम्मदशाह के दरबार में सूरत का एक जौहरी दो मोती लेकर आया। बादशाह ने इनकी परख के लिए शहर के प्रमुख जौहरियों को बुलाया। सभी जौहरियों ने दोनों मोतियों को सच्चा बताया, पर लोकाशाह ने एक मोती को सदीप और दूसरे को नकली बताया। मोती की इस परीक्षा को देखकर बादशाह इनकी विलक्षण बुद्धि से अत्यन्त प्रभावित हुआ और इन्हें अपना कोषाध्यक्ष बना दिया। इस पद पर वे दस वर्ष तक रहे। पर जब मोहम्मदशाह को उसके पुत्र कुतुबशाह ने, जहर देकर मार डाला तो इस क्रूर हत्या से लोकाशाह का हृदय प्रसीज गया और राग-रंग से उन्होंने मुक्ति ले ली। लोकाशाह सत्यान्वेषक और तत्त्व चिन्तक थे। उनके अक्षर बड़े सुन्दर थे। एक बार ज्ञानसुन्दर नामक एक यति इनके यहाँ गोचरी के लिए आये। इनके सुन्दर अक्षरों को देखकर उन्होंने लोकाशाह को शास्त्रों की नकल करने के लिए कहा। शास्त्रों की नकल करते हुए जब इनका ध्यान दशवैकालिकसूत्र की निम्नलिखित प्रथम गाथा पर गया तो वे चिन्तन में डूब गये--

"धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।"

देवा वि तं नमसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥ १ ॥

वे विचार करने लगे कि भगवान महावीर ने अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म को सर्वश्रेष्ठ मंगल कहा है और इस धर्म का आचरण करने वाले को देवता भी नमस्कार करते हैं, पर वर्तमान में तो लोग पाषाण-प्रतिमारूप देवताओं को नमन करने में लगे हुए हैं। ज्यों-ज्यों उनका शास्त्राभ्यास बढ़ता गया, धर्म के नाम पर बढ़ती हुई विकृति को देखकर वे आश्चर्यचकित रह गये। उन्हें लगा कि धर्म में अहिंसा का स्थान हिंसा ने ले लिया है। उसके विधि-विधान या द्रव्य पूजा आदि के बाहरी संस्कार में उन्हें हिंसा दिखाई दी। आत्म-संयम की बजाय मनौती के नाम पर इन्द्रियभोग की कामना का प्रवाह उमड़ता हुआ दिखाई दिया। तप के नाम पर उन्हें लगा कि साधु वर्ग सुख-सुविधाओं का आदी बनता जा रहा है। लोकाशाह ने अहिंसा, संयम और तप रूप शुद्ध आत्मधर्म की आराधना के लिए पाषाण-प्रतिमारूप जड़ पूजा का आलम्बन छोड़कर समताभावरूप सामायिक-प्रतिक्रमण को महत्त्व दिया, आत्मगुणवृद्धिरूप पौषध व्रत पर विशेष बल दिया। भक्ति के स्थान पर ज्ञान का, ध्यान का महत्त्व प्रतिष्ठापित किया और मूर्ति के सामने हाथ जोड़कर ऐहिक कामनाओं की पूर्ति के लिए भगवान से कुछ माँगने के बजाय परिग्रह-वृत्ति से मुक्त होने के लिए भूखों को भोजन, रोगियों को औषधि, भयग्रस्त प्राणियों को अभय एवं अशिक्षितों को ज्ञान देने की महत्ता प्रतिपादित की। उन्होंने मूर्तिपूजा के स्थान पर गुरुवन्दन, सत्संग, स्वाध्याय और सदाचरण पर बल दिया। सजे-सजाये मन्दिरों में रहने की बजाय साधारण स्थानकों में ठहरने की बात कही। जंत्र-मंत्र, टोने-टोटके, आडम्बर-प्रदर्शन आदि विधि-विधानों का विरोध किया।

इनके क्रांतिमूलक विचारों से लोग बड़े प्रभावित हुए। कहा जाता है कि अर्हट्टवाडा, पाटन, सूरत आदि संघों के जागजी, दुलीचन्द्रजी, मोतीचन्द्रजी तथा शंभूजी, ये चारों संघपति जब लोकाशाह से मिले, उनके विचार सुने तो विशेष प्रभावित हुए। कहा जाता है कि सं. 1531 में 45 व्यक्तियों ने इनके विचारों से प्रेरित-प्रभावित होकर जैन दीक्षा अंगीकृत की।

इनके नाम पर इनका मत लोकागच्छ कहा जाने लगा। पर यह शीघ्र ही तीन भागों में बँट गया। गुजराती लोकागच्छ, नागोरी लोकागच्छ, लाहोरी उत्तरार्द्ध लोकागच्छ। आगे चलकर इस मत में भी धर्म के नाम पर शिथिलता बढ़ी। तब मुनि जीवराजजी, लवजी, धर्मसिंहजी और धर्मदासजी ने क्रान्ति की और स्थानकवासी सम्प्रदाय अस्तित्व में आया। धर्मदासजी के हरजी धन्नाजी आदि २२ शिष्यों के नाम पर यह सम्प्रदाय बाईस टोला भी कहलाता है। वर्तमान में इस सम्प्रदाय में भ्रमण संघ के आचार्य श्री आनन्दऋषिजी, आचार्य श्री रतनचन्द्रजी म. के सम्प्रदाय के आचार्य हस्तीमलजी एवं आचार्य श्री हुकमीचन्द्रजी म. की परम्परा के आचार्य नानालालजी म. मौजूद हैं। ज्ञातव्य है कि आचार्य आनन्दऋषिजी एवं आचार्य हस्तीमलजी का अब स्वर्गवास हो गया है। मुनियों के स्थानक में रहने के कारण यह सम्प्रदाय स्थानकवासी कहा जाता है। आध्यात्मिक दृष्टि से आत्म-गुण ही जिसका स्थान है, वह स्थानकवासी है।

लोकाशाह का अपने समय में बड़ा विरोध हुआ। उनके सम्बन्ध में अधिकांश जानकारी उनके विरोध में लिखे गये साहित्य से ही प्राप्त होती है। लोकाशाह ने जिस साहित्य की रचना की, वह आज पूरे रूप में उपलब्ध नहीं है। उनके चौतीस बोल, अट्ठावन बोल तथा उनसे पूछे गये तेरह प्रश्नों के उत्तर आदि उपलब्ध हैं।

2. श्वेताम्बर तेरापन्थ

श्वेताम्बर तेरापन्थ सम्प्रदाय के प्रवर्तक सन्त भीखणजी हैं। इनका जन्म जोधपुर राज्य के कंटालिया ग्राम में सं. 1783 की आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी को हुआ। इनके पिता का नाम शाह बल्लूजी संकलेचा और माता का नाम दीपाबाई था। ये सत्यशोधक, दम्भविरोधी, सुधारवादी प्रवृत्ति के धर्म जिज्ञासु व्यक्ति थे। इनके माता-पिता गच्छवासियों (यतियों) के अनुगामी थे। वहाँ इनकी जिज्ञासा शान्त नहीं हुई तो ये पोतियाँबन्ध सम्प्रदाय के साधुओं के पास व्याख्यान आदि सुनने जाया करते, पर वहाँ भी इनको संतोष नहीं हुआ तो ये स्थानकवासी सम्प्रदाय के आचार्य श्री रघुनाथजी के अनुगामी बन गये और सं. 1808 में उनसे बगड़ी में दीक्षा अंगीकृत कर ली। सं. 1815 में इनका चातुर्मास राजनगर (मेवाड़) में हुआ। इनके साथ टोकरजी, हरनाथजी, वीरभानजी और भारमलजी ये चार साधु थे। राजनगर के श्रावकों में साधु समाज के आचार-विचार को लेकर कई शंकाएँ थीं। स्थान, वस्त्र-पात्र सम्बन्धी मर्यादा, शिष्य मोह आदि को लेकर ये वर्तमान आचार व्यवस्था से संतुष्ट नहीं थे। सन्त भीखणजी की उनके साथ ज्ञान चर्चा हुई और अन्ततः उन्हें लगा कि वर्तमान आचार-व्यवस्था में सुधार की अपेक्षा है।

आचार्य रघुनाथजी के सान्निध्य में पहुँचकर सन्त भीखणजी ने राजनगर के श्रावकों की शंकाओं को सही बताया और उसमें सुधार के लिए आग्रह किया। कहा जाता है कि रघुनाथजी के साथ मतभेद होने के कारण उन्होंने उनसे बगड़ी में सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। यह घटना सं. 1817 चैत्र शुक्ला नवमी की है। सन्त भीखणजी के साथ 12 अन्य साधु थे। उनके नाम हैं --- थिरपालजी, फतेहचन्द्रजी, वीरभाणजी, टोकरजी, हरनाथजी, भारमलजी, लक्ष्मीचन्द्रजी, बख्तरामजी, गुलाबचन्द्रजी, भारमलजी (दूसरे), रूपचन्द्रजी और प्रेमजी।

कहा जाता है कि एक दिन जोधपुर के श्रावक बाजार में एक दुकान पर सामायिक कर रहे थे। उस दिन जोधपुर राज्य के दीवान श्री फतेहमलजी सिंघी ने उन श्रावकों को बाजार में सामायिक करते देखा तो कुछ आश्चर्य हुआ, पूछने पर पता चला कि सन्त भीखणजी आचार्य रघुनाथजी से अलग हो गये हैं इनका मानना है कि साधुओं के निमित्त बने हुए स्थानक में नहीं ठहरना चाहिये। अतः स्थानक छोड़कर वे यहाँ सामायिक कर रहे हैं।

पूछने पर यह भी ज्ञात हुआ कि स्वामीजी की इस विचारधारा का समर्थन करने वाले 13 साधु हैं। इस पर उस समय सिंघीजी के साथ सेवक जाति का एक कवि भी था। उसने 13 की संख्या के आधार पर स्वामीजी के संघ को "तेरापंथी" नाम से संबोधित करते हुए निम्न दोहा कहा --

"साध साधको गिलो करै, ते आप आपरो मंत ।
सुणज्यो रे शहर रा लोकां, ए तेरापंथी संत ।।

जब यह घटना सन्त भीखणजी के पास पहुँची तो उन्होंने तेरापंथी शब्द को नया अर्थ देते हुए कहा-- हे प्रभु ! यह तेरा (तुम्हारा) पंथ है। हम सब निध्रान्त होकर इस पर चलने वाले हैं। अतः तेरापंथी हैं। तेरह संख्या का औचित्य प्रकट करते हुए उन्होंने यह भी कहा कि पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति, इस तरह तेरह नियमों की पूर्णरूप से श्रद्धा तथा पालन करने वाले व्यक्ति तेरह-पंथी हैं।

सन्त भीखणजी ने स्थानकवासी सम्प्रदाय की तरह ही मूर्तिपूजा का विरोध किया, पर दया, दान सम्बन्धी जो प्रवृत्ति स्थानकवासी समाज में प्रचलित थी, उसका उन्होंने आत्मधर्म के रूप में समर्थन नहीं किया और इन्से होने वाले पुण्य को लौकिक धर्म कहा। उन्होंने अहिंसा के नकारात्मक पक्ष अर्थात् "मत मारो" पर विशेष बल दिया। मरते हुए को बचाओ, जीवों की रक्षा करो, इसे उन्होंने मोक्ष का कारण नहीं माना। अपने धर्म के प्रचार में इन्हें कई प्रकार के विरोधों का सामना करना पड़ा। मारवाड़, मेवाड़ तथा कच्छ इनका धर्म प्रचार का क्षेत्र रहा। कच्छ प्रदेश में ये स्वयं न जा सके पर इनके श्रावक टीकम डोसी ने इनके मत का प्रचार किया। भीखणजी ने अपने जीवनकाल में 49 साधुओं और 56 साधवियों को दीक्षित किया। जैन तत्त्व की इन्होंने काव्यमय अभिव्यक्ति की। इनकी शताधिक रचनाओं का संकलन 'भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर' में दो भागों में हुआ है। इनकी कविता में दार्शनिकता और लोकतत्त्वों का अनुठा संगम है। इनका निधन सं. 1860 में माघ सुदी तेरस को हुआ। इनके बाद इस पन्थ में जो आचार्य हुए वे हैं -- आचार्य भारमलजी, आचार्य रायचन्द्रजी, आचार्य जीतमलजी (जयाचार्य), आचार्य मधवागणी, आचार्य मणिकगणी, आचार्य डालगणी, आचार्य कालगणी और आचार्य तुलसी। आचार्य तलुसी ने इस पंथ में कई नये आयाम जोड़े और कई क्रांतिकारी परिवर्तन किये -- आचार-विचार दोनों स्तरों पर। आचार्य तुलसी ने अणुव्रत आन्दोलन के रूप में नैतिक उत्थान और चरित्र निर्माण के उद्देश्य से राष्ट्रव्यापी अभियान चलाया और जैनधर्म को केवल जैनकुल में जन्मे लोगों तक सीमित न रखकर उसे राष्ट्रव्यापी बनाया। रामाज के विभिन्न वर्गों में सद-संस्कार जागृत हों, इसके लिए अणुव्रत के रूप में छोटे-छोटे व्यावहारिक नियम प्रस्तुत किये। विगत वर्षों में तनाव-मुक्ति, मानसिक स्वास्थ्य और जीवन में आन्तरिक स्पान्तरण के लिए प्रेक्षाध्यान के कई नये प्रयोग किये हैं। वर्तमान शिक्षा पद्धति केवल जीव-विज्ञान बनकर न रहे, वह जीवन-विज्ञान बने, इस दृष्टि से शिक्षा को साधना, अहिंसा, ध्यान और सेवा से संयुक्त करने के लिए लाडनूँ में "जैन विश्व भारती" की स्थापना की है।

3. तारणपंथ

जैन श्वेताम्बर परम्परा में चैत्यवासी यति परम्परा के समानान्तर जैन दिगम्बर परम्परा में भट्टारक सम्प्रदाय द्वारा धर्म-प्रचार, साहित्य-निर्माण एवं साहित्य-संरक्षण में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया गया, पर धर्म का जो अहिंसा, संयम और तपनिष्ठ रूप था, उसमें विकृति आई और भक्ति के नाश पर प्रदर्शन व आडम्बर बढ़ा। भट्टारक वैभवशाली सामन्त से बन गये और लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति मठ-मन्दिरों में इकट्ठी हो गई। आन्तरिक पवित्रता और सदाचरण का स्थान मन्दिर-निर्माण, प्रतिष्ठा-समारोह और द्रव्य पूजा ने ले लिया। पंच कल्याणकों के बड़े-बड़े आयोजन आन्तरिक शुद्धि की बजाय लोक-प्रतिष्ठा के माध्यम बन गये। हवन, मंत्र-मंत्र, टोने-टोटकों में ही धर्माचार उलझकर रह गया। भक्ति के केन्द्र में धर्माचरण नहीं, धन प्रमुख बन गया। इसकी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। श्वेताम्बर परम्परा में जिस प्रकार लोकाशाह ने मूर्तिपूजा का विरोध किया, उसी प्रकार दिगम्बर परम्परा में तारण स्वामी ने मूर्तिपूजा का विरोध किया। इन्हीं के द्वारा तारणपन्थ का प्रवर्तन हुआ।

तारणस्वामी का जन्म पुहुपावती नगरी में विक्रम संवत् 1505 (ई.स. 1448) में हुआ। इनके पिता का नाम गढ़ासाब था। वे दिल्ली के बादशाह बहलोल लोदी के दरबार में किसी पद पर काम करते थे। बाद में वे दिल्ली छोड़कर पुहुपावती आ गये। तारणस्वामी बचपन से ही बड़े मेधावी और अध्ययनशील थे। इनकी शिक्षा श्री श्रुतसागर मुनि के पास हुई। ये आजन्म ब्रह्मचारी रहे और धर्म ग्रन्थों का गहन अध्ययन कर मूर्तिपूजा के नाम पर प्रचलित बाह्य आडम्बर का विरोध कर इन्होंने आत्मशुद्धि मूलक धर्म का स्वरूप प्रस्तुत किया।

तारणस्वामी ने बराबर यह बात कही कि यदि हृदय पवित्र भावना से रिक्त है तो जड़ पूजा से क्या लाभ? पूजा पद्धति में ऊँच-नीच के भेद-भाव का इन्होंने विरोध किया और कहा -- महावीर के शासन में मनुष्य तो क्या पशु-पक्षी तक को समान अवसर और स्थान प्राप्त है। इन्होंने सभी जाति और वर्ण के लोगों को आत्मधर्म का उपदेश दिया और मूर्तिपूजा के स्थान पर ग्रन्थपूजा की प्रतिष्ठा की। इनके शिष्यों में प्रमुख थे -- चिदानन्द चौधरी, लक्ष्मण पाण्डेय, परमानन्द विलासी और लुकमान शाह, जो मुसलमान था। इनके प्रभाव से कई राजाओं ने भी इनके मत को स्वीकार किया। इनमें गुजरात के राजा शिवकुमार, शाहकुमार तथा रायसेनागढ़ के राजा मुख्य थे। लाखों की संख्या में इनके अनुयायी हुए। तारणपन्थ को मानने वालों में चरणागार, समैया, असेदी, अयोध्या, गोलापूरब आदि जाति के लोग मुख्य हैं।

तारणस्वामी द्वारा रचित 14 ग्रन्थों का उल्लेख डॉ. तेजसिंह गौड़ ने किया है। उनके नाम हैं -- 1. श्रावकाचार 2. मालाजी, 3. पंडितपूजा, 4. कमल बत्तीसी, 5. न्यायसमुच्चसार, 6. उपदेशशुद्धरार, 7. त्रिभंगीसार, 8. चौबीस ढाला, 9. मम्मल पाहुड, 10. सुन्न स्वभाव, 11. सिद्ध स्वभाव, 12. खातका विशेष, 13. छद्मस्थवाणी, 14. नाममाला। ये ग्रन्थ 15वीं शती में प्रचलित संस्कृत-हिन्दी मिश्रित भाषा के हैं। इनमें पूजा के नाम पर होने वाले बाह्य क्रिया-काण्ड का विरोध करते हुए आन्तरिक शुद्धता, बाह्य-अभ्यन्तर तपस्या आचरण की पवित्रता और चित्त वृत्ति की निर्मलता पर विशेष बल दिया गया है। शुद्ध आत्मस्वरूप के वर्णन में आपकी गहरी आध्यात्मिक अनुभूति और तत्त्वचिन्तना का पता चलता है।

पारम्परिक धार्मिक भक्तों ने तारणस्वामी का जबरदस्त विरोध किया। कई प्रकार के दबाव डाले गये, प्रलोभन दिये गये। यहाँ तक कि जान से मारने के प्रयत्न किये गये पर ये इन सबसे अप्रभावित रहे। बेनवा नदी के घाट से पार उतरने के लिये नौका का उपयोग किया जाता था। इस कारण वहाँ नौकाएँ तथा मल्लाह भी रहते थे। विरोधियों ने चिदानन्द चौधरी नामक एक मल्लाह को अपनी और मिलाकर यह सिखा दिया कि वह तारणस्वामी को अपनी नाव में बिठाकर ले जावे और गहरे जल में ले जाकर छोड़ दे। चिदानन्द चौधरी ने ऐसा ही किया। उसने स्वामीजी को एक-एक कर तीन बार गहरे जल में ले जाकर डुबाने का प्रयत्न किया पर तीनों बार स्वामीजी जल के बीच चबूतरे पर बैठे हुए पाये गये। इस चमत्कार से प्रभावित होकर चिदानन्द इनका शिष्य बन गया। इस प्रकार इनका प्रभाव बढ़ता गया।

तारणस्वामी का निधन सं. 1572 में ज्येष्ठ कृष्ण 6 शुक्रवार को निसई क्षेत्र (मल्हारगढ़, मध्यप्रदेश) में हुआ। विदिशा जिले की सिरोंज तहसील के जंगलों में स्थित सेमरखेड़ी भी आपका साधना स्थल रहा है। कहा जाता है कि यही इन्होंने मुनि दीक्षा ली थी।

4. वर्तमान स्थिति

इस प्रकार पन्द्रहवीं, सोलहवीं एवं सत्रहवीं शती में मूर्तिपूजा की विकृतियों के खिलाफ जो क्रांति की लहर उठी और उसके परिणामस्वरूप जिन अमूर्तिपूजक सम्प्रदायों का उद्भव और विकास हुआ, उनके द्वारा आत्मशुद्धि हेतु ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की आराधना व सदाचरण का पथ प्रस्तुत किया गया, उससे जागृति अवश्य आयी पर उसका जीवन पर परिवर्तनकारी, स्थायी व्यापक प्रभाव नहीं पड़ा ऐसा प्रतीत होता है। मूर्तिपूजा के स्थान पर सामायिक, प्रतिक्रमण, दया, पौषध, दान आदि जिन सद्प्रवृत्तियों पर बल दिया गया, वे अपने मूल लक्ष्य

को पूरी तरह प्राप्त नहीं कर सकीं। वे यांत्रिक बन गईं। अपनी सीमा में अधिकांशतः क्रिया (Doing) बनकर रह गईं, "होना" (Becoming) रूप न ले सकीं। परिणामस्वरूप मूर्ति का स्थान इन सम्प्रदायों में भी चित्र, कल्लेण्डर, पैडल आदि लेते जा रहे हैं। दिखावा, आडम्बर और प्रदर्शन भी विभिन्न धार्मिक उत्सवों, तपस्या के जुलूसों आदि में देखा जा सकता है, गुणपूजा गौण होकर व्यक्ति पूजा प्रधान हो गई है। महावीर पीछे कूट गये हैं और अलग-अलग सम्प्रदायों के गुरु व आचार्य मुख्य बन गये हैं। साम्प्रदायिक कट्टरता और आम्नायभेद से अमूर्तिपूजक सम्प्रदाय भी ग्रस्त हैं।

मूर्तिपूजक मूर्ति के सामने याचना कर अपनी मनोकामना पूरी करना चाहते हैं तो लगता है, अमूर्तिपूजक भी अपनी धर्मकरणी का फल भौतिक समृद्धि की प्राप्ति मानने लगे हैं। धन और सम्पत्ति यहाँ भी धर्म-साधना के केन्द्र में धर करती जा रही है। परिग्रह और वैभव को पुण्य का फल माना जाने लगा है। वहाँ भगवान को भोग लगाया जाता है तो यहाँ स्वयं भोग भोगने की लालसा है। सच्चा धर्म भोग से कूटने में है, त्याग में है, पर त्याग अन्तर से न होकर दिखावे के लिए, नाम के लिये होने लगा है। मूर्ति अपने आप में जड़ है, तटस्थ है, राग-द्वेष से परे है, हम उसके साथ अपना सांसारिक सम्बन्ध जोड़कर उसे विकृत करते हैं। पर जहाँ मूर्ति नहीं है, व्यक्ति है, यदि उसकी भोगवृत्ति छूटी नहीं है, यशलिप्सा मिटी नहीं है तो वह अपने को भगवान बनाकर, भक्तों से पूजा-सत्कार करवा कर भ्रांति प्रैदा कर सकता है। वर्तमान में बनने वाली इस स्थिति से प्रत्येक आत्म-साधक को सावधान रहने की आवश्यकता है।

श्रावकाचार का मूल्यात्मक विवेचन

- डॉ. सुभाष कोठारी*

भारतीय सभ्यता और संस्कृति का विश्व के इतिहास में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। यहाँ के धार्मिक और आध्यात्मिक वातावरण ने हमेशा दुनियाँ को प्रभावित किया है। जैनधर्म में इस आध्यात्मिक साधना का मूल आधार आचार माना गया है।

यहाँ आचार से तात्पर्य उन व्रतों और नियमों से है, जिनका पालन करने से व्यक्ति के जीवन में अहिंसा, क्षमा, अपरिग्रह आदि प्रवृत्तियों का समावेश होता है।

हमारे ऋषियों, महर्षियों, आचार्यों और तीर्थकरों ने इस आचार साधना को दो भागों में विभाजित किया है। पहला, उन व्यक्तियों के लिए, जो समस्त सांसारिक बंधनों से मुक्त और त्यागी हैं और दूसरा उन व्यक्तियों के लिए, जो गृहस्थावस्था को त्यागकर समस्त सांसारिक बंधनों से मुक्त तो नहीं हो सकते हैं परन्तु मुक्त होने की दिशा में आंशिक रूप से प्रयत्न करते हैं। जिससे उनके मानस में कुछ व्रत, नियम एवं त्याग की भावना उत्पन्न होती है। जैन दर्शन की भाषा में इन्हें क्रमशः साध्याचार और श्रावकाचार कहते हैं। चूँकि मेरा विषय श्रावकाचार से सम्बन्धित है अतः मैं अपने आपको उसी तक सीमित रखूँगा।

श्रावक शब्द का अर्थ एवं स्वरूप

श्रावक शब्द जैन दर्शन का एक "टैक्निकल" शब्द है जो संस्कृत की धातु से बना है जिसका अर्थ श्रवण करना होता है। अर्थात् व्यक्ति निष्ठापूर्वक निर्गन्ध वचनों को सुनता है और अपनी क्षमता के अनुसार उन पर अमल करता है, वह श्रावक है।

वैसे देखा जाय तो श्रावक शब्द तीन अक्षरों के योग से बना है और उन तीनों के अपने-अपने अर्थ हैं। "श्रा" शब्द तत्त्वार्थ श्रद्धान की सूचना देता है। "व" शब्द विवेकयुक्त दान की प्रेरणा करता है और "क" शब्द कर्मरूपी पाप को सेवा भावना द्वारा नष्ट करने का संकेत प्रदान करता है। इस प्रकार श्रद्धा विवेक और क्रिया का सम्मिश्रण जिस व्यक्ति में होता है, वह श्रावक है।

जैन आगम ग्रन्थों में श्रावक-आचार का प्रारम्भ सूत्रकृतांगसूत्र से होता है जहाँ इसमें श्रावक और श्रमणोपासक नामों का उल्लेख मिलता है।¹ इसके बाद स्थानांगसूत्र में श्रावक के पालन करने योग्य पाँच अणुव्रतों और तीन मनोरथों का वर्णन किया गया है।² तदन्तर समवायांगसूत्र में श्रावक के आध्यात्मिक विकास की ग्यारह प्रतिमाओं का उल्लेख देखा जा सकता है।³ उपासकदशांगसूत्र, जो कि जैन आगम साहित्य में श्रावक-आचार का प्रतिपादन करने वाला एक मात्र प्रतिनिधि ग्रन्थ है, उसमें श्रावकों की जीवन चर्या, बारह व्रत, नियम, प्रतिमाओं आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है।⁴

इसके बाद परवर्ती श्वेताम्बर और दिगम्बर अनेक ग्रन्थकार हुए हैं जिन्होंने अपने ग्रन्थों में श्रावक आचार का संक्षेप और विस्तार से वर्णन किया है। जिनमें उमास्वाति का तत्त्वार्थसूत्र, हेमचन्द्र का योगशास्त्र, आ. जवाहरलाल जी म.सा. का गृहस्थ धर्म, आ. समन्तभद्र का रत्नकरण्डक-श्रावकाचार, सोमदेवसूरि का उपासकाध्ययन और पं. आशाधर का सागारधर्मामृत मुख्य हैं।

श्रावक आचार के सामान्य नियम

प्रस्तुत पत्र में, मैं श्रावक शब्द का अधिकारी होने के लिए किन्-किन गुणों और नियमों का पालन करना आवश्यक होता है, उस पर संक्षेप में प्रकाश डालते हुए, उन व्रतों और नियमों का हमारे सामाजिक, व्यवहारिक और राष्ट्रीय जीवन में क्या महत्त्व है उस पर भी कुछ कहना चाहूँगा।

यह शाश्वत सत्य है कि जो व्यक्ति व्यावहारिक जीवन के व्यवहारों में कुशल नहीं है वह आध्यात्मिक साधना में आगे नहीं बढ़ सकता है।⁵ इसी मनोवैज्ञानिक दृष्टि को ध्यान में रख कर हमारे आचार्यों ने व्रतों की साधना की पूर्व भूमिका के रूप में ऐसे अनेक गुणों का निर्देश अपने ग्रन्थों में किया है जिनमें न्याय, नीतिपूर्वक धन का उपार्जन, पाप कर्मों का त्याग, सदाचार का पालन, धर्म श्रवण करने की जिज्ञासा, अतिथि आदि का यथोचित सत्कार, विवेकशील, किन्त्र और करुणाशील होना मुख्य है।

उपरोक्त कार्यों को करने से स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति व्यावहारिक जीवन में सफलतापूर्वक कार्य कर रहा है इसलिये तीर्थकरों ने व्यक्ति के व्यावहारिक जीवन को बहुत मनोवैज्ञानिक ढंग से जांचा, परखा और उसे ही धार्मिकता का रूप देकर व्यक्ति को सामाजिक बना डाला। ये गुण आध्यात्मिक साधना के प्रवेश द्वार हैं। इनके सफल आचरण के बाद ही व्यक्ति व्रतों की आराधना में आगे कदम बढ़ा सकता है।

बारह व्रत और उनकी उपयोगिता

बारह व्रत श्रावक आचार के मूल आधार माने जाते हैं। इन बारह व्रतों को आचार्यों ने तीन वर्गों में विभाजित किया है -- पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत।

(1) अहिंसा अणुव्रत

जैन शास्त्रों में संकल्पी, आरम्भी, उद्योगी और विरोधी इन चार प्रकार की हिंसाओं का उल्लेख प्राप्त होता है। उन चारों हिंसाओं में से श्रावक संकल्पी हिंसा का त्याग करता है। संकल्पी हिंसा से तात्पर्य "मैं किसी को मारूँ" इस भावना से की गयी हिंसा से है। चूँकि श्रावक गृहस्थावस्था में रहता है अतः कभी मकान निर्माण के प्रसंग से, कभी दुष्ट व्यक्ति को दण्ड देने के रूप में, कभी समाज व्यवस्था सुचारु रूप से चलाने में सूक्ष्म जीवों की हिंसा हो जाती है या यूँ कहें कि करनी पड़ती है। अतः इस हिंसा से वह पूर्ण रूप से विरत नहीं हो पाता है। हाँ ! इतना आवश्यक है कि वह इन सब कार्यों में विवेकयुक्त होकर कार्य करता है।

अतिचार

अतिचारों का तात्पर्य उन खण्डनों से है जिनसे व्रत में दोष लगने की सम्भावना रहती है। श्रावक को इन अतिचारों को ध्यान में रखना चाहिये और इनसे बचकर अपने व्रतों का पालन करना चाहिये। प्रत्येक व्रत के पाँच-पाँच अतिचार हैं। अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार बन्ध, वध, छविच्छेद, भक्तपान व्यवच्छेद व अतिभार हैं। किसी को बांधना, मारना, अंगों को काट देना, खाने-पीने में बाधा उपस्थित करना एवं व्यक्ति की सामर्थ्य से अधिक भार डालना, व्रत भंग के कारण हैं। यह पाँचों अतिचार वर्तमान सामाजिक जगत में भी पूर्ण प्रासंगिक हैं। ये राज्य व्यवस्था की दृष्टि से अपराध हैं।

इस प्रकार अहिंसाणुव्रत व्यक्ति को नैतिक और सामाजिक बनाता है और समाज और राष्ट्र की आत्मसुरक्षा एवं औद्योगिक प्रगति में सहयोगी बन कर चलता है।

(2) सत्य अणुव्रत

कन्या, पशु, भूमि, धरोहर आदि के सम्बन्ध में असत्य भाषण का त्याग करना सत्य अणुव्रत है। इस व्रत में श्रावक ऐसे स्थूल असत्य का त्याग करता है जिससे समाज, देश और राष्ट्र की हानि होती है और व्यक्ति के आत्म-सम्मान को ठेस पहुँचती है। इसके साथ ही साथ इस व्रत में श्रावक ऐसे सत्य का भी त्याग करता है जो सत्य होते हुए भी दूसरे व्यक्ति को पीड़ा का अहसास कराता हो। भगवान् महावीर के अनन्य श्रावक महाशतक का कथानक इसका सर्वोत्तम शास्त्रीय उदाहरण है।

अतिघार

सत्य व्रत में किसी पर बिना सोच-विचार किये दोषारोपण करना, एकान्त में बातचीत करते हुए व्यक्तियों पर झूठा आक्षेप लगाना, भूठा उपदेश देना, जाली चेक, ड्राफ्ट आदि जारी करना, अतिघार माने गये हैं। वर्तमान में भी इन सभी पर राज्य द्वारा रोक लगायी जाती है। आज भी न्यायालय में धर्मग्रन्थ पर हाथ रख कर आपसे सत्य बोलने को कहा जाता है, पद और गोपनीयता की शपथ दिलाई जाती है और जाली चेक, ड्राफ्ट लेन-देन पर कठोर दण्ड दिया जाता है।

इस प्रकार सत्य अणुव्रत में श्रावक सत्य, तथ्य और प्रीतिपूर्ण वचनों का ही प्रयोग करता है, जो समाज को उन्नत और पवित्र बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।

(3) अस्तेय अणुव्रत

स्वामी की अनुमति के बिना किसी भी वस्तु को ग्रहण नहीं करना अस्तेय है। सार्वजनिक रूप से प्रकृति द्वारा प्रदत्त वस्तुओं को छोड़कर अन्य वस्तु का बिना अनुमति ग्रहण नहीं करना ही श्रावक का अस्तेय अणुव्रत है।

अतिघार

चोरी की वस्तु खरीदना, चोर को सहायता करना, राज्य नियमों के विरुद्ध आचरण करना, वस्तुओं में मिलावट करना व नाप-तौल में बेईमानी करना अस्तेय व्रत के अतिघार हैं, दोष हैं।

वर्तमान जगत में भी उपरोक्त सभी अपराध की श्रेणी में माने जाते हैं। आये दिन पढ़ रहे इन्कम-टैक्स व सेल्स-टैक्स के ह्रापे इन अतिघारों के सेवन का ही एक रूप है। आज खाद्य पदार्थों से लगाकर औषधियों तक में मिलावट पायी जाती है। हम अक्सर समाचार पत्रों में देखते व पढ़ते ही हैं कि कभी फूडपोइजनिंग से, कभी जहरीली दवाइयों से एवं कभी जहरीली शराब से हजारों लोग मर जाते हैं। यह सब हमारी प्रामाणिकता पर एक प्रश्नचिन्ह लगाते हैं ?

इस प्रकार अस्तेय अणुव्रत का निरतघार पालन करने से हम मानव जाति व राष्ट्र के प्रति अपने दायित्व को भली प्रकार निभा सकते हैं।

(4) ब्रह्मचर्य अणुव्रत

काम प्रवृत्ति पर, अंकुश श्रावक का चौथा ब्रह्मचर्य अणुव्रत है। गृहस्थावस्था में रह कर व्यक्ति पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता है। अतः श्रावक एक मात्र विवाहिता पत्नी (स्वपत्नी) में पूर्ण सन्तोषी बनकर शेष सभी स्त्रियों के साथ मैथुन सेवन का त्याग करता है। श्राविकाओं के लिए एक पतिव्रत (स्वपति) का विधान किया गया है।⁵

अतिचार

यहाँ यह स्पष्ट कर दिया गया है कि वेश्या आदि अन्य स्त्रियों से काम व्यवहार रखना, अनंगक्रीडा करना, अपने पुत्र-पुत्री को छोड़कर अन्य का विवाह कराना, काम सेवन की तीव्र भावना रखना व्रत भंग का कारण है, अतिचार है। एक आचार्य ने तो यहाँ तक कह दिया है कि अपनी विवाहिता स्त्री से भी अगर वह अल्पवयस्क है तो उससे काम व्यवहार नहीं करना चाहिये।

परन्तु जब इन संयमित विचारों को छोड़कर मानव अपना दृष्टिकोण दूसरा बना लेता है तो हत्या, व्यभिचार, बलात्कार जैसी भावनाएँ सहज ही प्रस्फुटित हो जाती हैं। प्रसंगानुकूल वर्तमान परिप्रेक्ष्य में इस व्रत के सन्दर्भ में कुछ लिखना अनुचित नहीं होगा। अब्रह्म को बढ़ावा देने के लिए स्वयं स्त्री जाति भी बहुत हद तक जिम्मेवार है। वे सीता, सुभद्रा आदि के चरित्रों को भूलकर, कम से कम वस्त्र धारण कर, शरीर का प्रदर्शन करती हैं। फैशन और कृत्रिम प्रसाधन सामग्री ने औरत को नुमाईश की चीज बना दिया है। पुरुष वर्ग भी इसमें बहुत हद तक दोषी होता है क्योंकि इस सब नुमाईशों के पीछे उसका मस्तिष्क व व्यावसायिक बुद्धि कार्य करती है, जिससे वह अपनी संस्कृति को किसी भी रूप में प्रयोग करने में नहीं चूकता है।

आज व्यक्ति का खान-पान, आचार-विचार, रहन-सहन सब तामसिक और अमर्यादित हो गया है। पिकचर, अश्लील साहित्य, बेहुदे विज्ञापन से समाज का नैतिक व मानसिक पतन हो रहा है। आज हर गली मोहल्ले में 8-8, 10-10 वर्षों के नौनिहालों के मुँह से प्यार मोहब्बत के अश्लील गाने व भद्दी गालियाँ सुनी जा सकती हैं।

आज जो एड्स नामक रोग अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर फैल रहा है वह स्वेच्छिक यौन सम्बन्ध, कामसुख की तीव्र अभिलाषा और ब्रह्मचर्य नाश का ही परिणाम है। पाश्चात्य देशों में जो समलैंगिक सम्बन्ध (होमो) की प्रवृत्ति बढ़ रही है वह अनंगक्रीडा का ही दूसरा नाम है, जिसका हमारे आचार्यों ने हजारों वर्षों पूर्व ही निषेध कर दिया था।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य अणुव्रत पारिवारिक शान्ति और आपसी विश्वास की भावना को सुदृढ़ करता है। उपासकदशांग में पत्नी के लिए जो धर्मसहायिका, धर्मवेद्या, धर्म-आराधिका आदि विश्लेषण प्राप्त होते हैं, वे सब इस व्रत के सफल पालन के ही परिणाम थे। आज भी हम लोगों में अपनी पत्नी के लिए "धर्मपत्नी" शब्द का प्रयोग किया जाता है, वह ब्रह्मचर्य की विशेषता का ही संकेत है।

(5) अपरिग्रह अणुव्रत

खान-पान, धन-धान्य, दास-दासी, खेत, वस्तु आदि के उपयोग की मर्यादा निश्चित कर लेना अपरिग्रह अणुव्रत है। गृहस्थावस्था में रहने के कारण व्यक्ति सामाजिक बन्धनों से बंधा होता है, अतः भविष्य की सुरक्षा व दुर्भिक्ष की आशंका से प्रत्येक व्यक्ति को कुछ न कुछ संग्रह करना आवश्यक होता है। इस कारण वह पूर्णपरिग्रही तो नहीं बन सकता है परन्तु उस परिग्रह की एक सीमा जरूर निश्चित कर लेता है। यह सीमा निर्धारण ही व्यक्ति को अपरिग्रही बनाती है।

अपरिग्रह जैनधर्म की एक महत्त्वपूर्ण विचारधारा है। जैन दर्शन में कहा गया है कि परिग्रह से वैमनस्यता, वर्गसंघर्ष व विषमता बढ़ती है क्योंकि यह सीधे-सीधे समाज को प्रभावित करता है। जब एक व्यक्ति के पास अधिक धन-सम्पत्ति होती है तब दूसरे के पास उसका अभाव स्वाभाविक है। यह अभाव और आधिक्य ही वर्ग संघर्ष का कारण है।

जैन मतावलम्बियों में अपवाद को छोड़ दें, बाकी के पास जो सम्पत्ति है वह उनके परिश्रम व बुद्धि विलास से प्रार्दुभूत है। इसलिए सम्पत्ति का अर्जन और संग्रह बुरा नहीं है किन्तु जब इसका आधार शोषण या विषमता हो जाय तो वह समाज और राष्ट्र के लिए जहर बन जाता है। परिग्रह अणुव्रत हमें इन सब कठिनाइयों से बचा लेता है। महात्मा गांधी का ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त और विनोबा भावे का विश्वस्थ वृत्ति का सिद्धान्त महावीर के इसी अपरिग्रह अणुव्रत से सम्बन्धित है।

इस प्रकार अपरिग्रह अणुव्रत वर्तमान समाजवाद-सहअस्तित्व और समानता की दिशा में बहुत महत्त्वपूर्ण कदम सिद्ध हो सकता है।

गुणव्रत

पाँच अणुव्रत के विकास क्रम को व्यवस्थित आधार प्रदान करने के लिए गुणव्रत और शिक्षाव्रतों का विधान किया गया है। इनमें दिशाव्रत, उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत एवं अनर्थदण्ड तीन गुणव्रत हैं।

(6) दिशाव्रत

सभी दिशाओं में गमनागमन की मर्यादा निश्चित करने को दिशाव्रत कहा गया है। दसों दिशाओं में कितना आवागमन रखना है इसकी सीमा इस व्रत में तय की जाती है। इसमें ऊंची, नीची, तिरछी दिशा का उल्लंघन, निश्चित की हुई सीमा में वृद्धि करना, सीमा मर्यादा का विस्मरण होने पर उस मर्यादा क्षेत्र से आगे जाना व्रत भंग के कारण माने गये हैं।

(7) उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत

खाने-पीने, पहनने, ओढ़ने आदि दैनिक व्यवहार में काम में आने वाली वस्तुओं की मर्यादा निश्चित करना उपभोग-परिभोग परिमाण-व्रत है। उपासकदशांगसूत्र में ऐसी 21 वस्तुओं की सूची दी है जिनकी इस व्रत में मर्यादा निश्चित की जानी चाहिये। श्रावक-प्रतिक्रमणसूत्र में इन वस्तुओं की संख्या छब्बीस बताई गयी है।⁸

अतिचार

सचित्त वस्तु खाना, सचित्त के साथ लगी हुई वस्तु का उपयोग करना, कच्ची वनस्पति का सेवन, अधपकी वनस्पति को खाना एवं ऐसी वस्तु खाना जिसमें खाने योग्य पदार्थ कम हो, फेंकने योग्य अधिक हो तो वह सब व्रत भंग के कारण हैं।

कर्मादान

उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत में उपर्युक्त पाँच अतिचारों के अतिरिक्त कर्म के अनुसार 15 अतिचार और बताये हैं। ये 15 ऐसे कार्य हैं जिनके करने से भयंकर जीवों की हिंसा व समारम्भ करना पड़ता है, अतः श्रावक को इन व्यवसायों को नहीं करना चाहिये। इनके नाम इस प्रकार हैं -- कोयले का व्यवसाय, जंगल का काटना, लकड़ी बेचना, रथ आदि बेचना, पशुओं को भाड़े पर देना, खान आदि खोदना, हाथी दाँत का व्यापार, लाख का व्यापार, मदिरा आदि का व्यापार, विषादि का व्यवसाय, दास-दासी का व्यापार, घाणी आदि से पैरने का व्यापार, बैल आदि को नपुसक बनाना, जंगल में आग लगाना, तालाब, झील आदि सुखाना, व्यभिचार आदि के लिए वेश्या आदि रखना।

इन पन्द्रह व्यवसायों में त्रस जीवों का घात, सामाजिक असुरक्षा, पर्यावरण संकट, संस्कृति का विनाश किसी न किसी रूप में होता है। अतः श्रावकों को ये व्यापार नहीं करने चाहिये।

(8) अनर्थदण्ड विरमणव्रत

निष्प्रयोजन किसी की हिंसा करना अनर्थदण्ड है। हिंसा के कार्य का, हिंसात्मक शस्त्रों का, पापकर्म का उपदेश एवं कुमार्ग की ओर प्रेरित करने वाले साधनों का त्याग करता है, उसका अनर्थदण्ड विरमणव्रत सम्यक् रूप से होता है।

अतिचार

हास्यमिश्रित अशिष्टवचन बोलना, शरीर की विकृत चेष्टा करना, निरर्थक बकवाद करना, उपभोग, परिभोग का अधिक संग्रह इस व्रत के दोष हैं, अतिचार हैं।

इस प्रकार अनर्थदण्ड विरमणव्रत अनर्थकारी हिंसा पर रोक लगाता है। निरर्थक पानी फेंकना व राह चलते वनस्पति तोड़ना भी इस व्रत के दोष माने गये हैं।

(9-12) शिक्षाव्रत

ये व्यक्ति के आत्मिक अत्यान के द्योतक हैं, सामायिक, देशवकाशिक, प्रोषधीपवास और अतिथिसंविभाग -- ये चार इसके भेद हैं। एक निश्चित समय के लिये साधु तुल्य व्यवहार सामायिक है। सीमा मर्यादा का सुक्ष्मीकरण व सीमा के बाहर के आश्रव सेवन का त्याग देशवकाशिक, पूर्ण उपवास व धर्म स्थान पर जाकर सम्यक् आराधना, पौषध और सुपात्र को यथाशक्ति निर्दोष आहार प्रदान करना अतिथिसंविभाग है।

ये सभी शिक्षाव्रत आत्मा के आध्यात्मिक विकास से सम्बन्धित हैं, इनसे मानव सेवा, सहभागिता, सहयोग अभावग्रस्त के प्रति सामाजिक कर्तव्य का बोध प्राप्त होता है।

इस प्रकार इन बारह व्रतों की संक्षेप में चर्चा करने से स्पष्ट है कि ये बारह व्रत व्यक्ति के लिए कितने महत्त्वपूर्ण हैं। ये व्रत व्यक्ति का व्यक्ति के प्रति प्रेम, सहयोग, सहकार व बन्धुत्व की भावना को उत्पन्न करते हैं। ये व्यक्ति को सामाजिक बनाते हैं। समाज में गृहस्थ वर्ग की भूमिका वैसे भी दोहरी है। एक ओर वह स्वयं साधना करता है। दूसरी ओर पूर्णसाधना करने वाले साधु-साध्वियों के साधना का पर्यवेक्षक भी है। अतः हम अपने कर्तव्य को पहचानें और इन व्रतों की उपयोगिता को समझ कर जीवन में अपनाने का प्रयास करें तो निश्चित ही हम उस सामाजिक सौहार्द को ला सकेंगे, जिसकी हमें अभी प्रतीक्षा है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. सुत्तागणे... सूत्रकृतांगसूत्र, संपा. मुनि मधुकर, सूत्र 8
2. स्थानांगसूत्र, संपा. मुनि मधुकर, 5/1/389
3. वही, 11/5
4. उवासगदसो, संपा. मुनि मधुकर 1 से 10 अध्ययन
5. श्रावकधर्म की प्रासंगिकता का प्रश्न -- डॉ. सागरमल्ल जैन, पृ. 19
6. श्रावक प्रतिक्रमणसूत्र - चौथा अणुव्रत
7. उवासगदसाओं, 1/22-42
8. श्रावक प्रतिक्रमणसूत्र - अणुव्रत 7

✻ शोध्याधिकारी, आगम, अहिंसा, समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर

Contribution of Jainism to Indian History

- Dr. A.K. Chatterjee*

Jainism is one of the World's major religious systems and it is older than either Buddhism and Christianity. Its contribution to the progress of our civilization is immense and there is no aspect of Indian history, which has not been enriched directly by the religion of the Jinas. For the purpose of discussion, let us divide the entire topic into five main divisions namely, religious, cultural, social, economic and political.

We have already said that Jainism is older than Buddhism and I have shown elsewhere that the first historical prophet of Jainism was Pārśvanātha, who probably flourished in the 9th-8th century B.C. A few earlier Tīrthaṅkaras like Adinatha and Neminatha, also probably were actual historical figures, but unfortunately we do not have much historical evidences about their religious system.

Both Jainism and Buddhism, as well as the *Lokāyatas* were against the Brahmanical religious system which was based on sacrifice or *Yajña*. But the three religious systems, which we have just mentioned, being anti-Vedic, were dubbed as *Nāstika* by the Brahmanical philosophers. The word *Nāstika* does not necessarily mean an atheist, but that which is anti-Vedic or in other words, anti-Brahmanical. The Jaina philosopher Pārśvanātha, who probably had invented the word *nirgrantha*, it is quite significant to note, was born at Varanasi, the great citadel of Hinduism and had the courage to challenge the ancient Brahmanical philosophical system, and his teaching based on fourfold truth or vows (*C āturyāma*), was quite simple, yet practical and was readily acceptable to the poor and common people. It should further be remembered that the Vedic form of sacrifice, was very expensive and majority of the common people could not afford the expenses connected with those elaborate sacrifices and only the kings and rich householders could perform these sacrifices. Another factor, which made this new religious system, very popular, was its emphasis on non-violence or *Ahiṃsā*, which was also advocated by the Upanishadic *Rishis*, whose emphasis was on *Jñāna* (knowledge) and not *Karman*.

Another factor which should be considered as a definite contribution of the Jainas in the progress of civilization in this sub-continent, was the importance, which it gave, to the role of women in religious practices. It is however, true that even in the Vedic period, women used to participate in religious ceremonies and in the *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad* we find Maitreya accompanying her husband the celebrated Yājñavalkya to forest, when the latter wanted to renounce to worldly life. Lord Pārśvanātha was the first non-Brahmanical saint to permit women to renounce the worldly life and thus paving the way for the actual emancipation of women. It is significant to note, in this connection that even Lord Buddha himself was against admitting women into his order. And only after he was requested by his favourite disciple Ānanda, that he allowed the entry of women in his order. Therefore we can, say without hesitation, that Lord Pārśvanātha was a truly rational philosopher of his time. Since he had to popularise his teachings in a place, which was considered to be the chief seat of orthodox Brahmanism, we can easily comprehend the nature of his success.

Lord Pārśvanātha gave India the doctrine of *Ahimsā* and Lord Mahāvīra taught his countrymen, the doctrine of chastity (*Brahma-carya*). He never cared for royal patronage and lived in absolute penury, It was because of his towering personality that Jainism became an all-India religion, even in the pre-Mauryan period.

The present writer is of the opinion that the *Yakṣapūjaks* of Eastern India were first to accept the religious system, propounded by Pārśva and Mahāvīra; and these *Yakṣa*-worshippers belonged to the lower strata of the society and the *deva-pūjaks* were the upper caste *Brahmins* and *Kṣatriyas*. It is however true that all the immediate disciples or *Gaṇadhars* of Lord Mahāvīra were *Brahmins* by caste, but most of his followers were common people and this is also proved by early Jaina epigraphs, found from Mathura and other places.

From the cultural point of view also, Jainism has left its contribution on all aspects of the great Indian civilization. The Jaina Agamic texts often refer to 72 *Kalas* and 64 *gaṇiyaguṇas* and there is no doubt that all types of Arts and crafts received tremendous patronage from the devoted Jainas. As a matter of fact the Jaina narrative literature contains hundreds of stories about ladies, who were well-versed in all these Arts and the dramatic Art was particularly popular from the earliest times among the Jainas.

If literature is considered to be an intergral part of culture, then we must say that the literature of Jainas is extremely rich and extensive. The Agamic texts themselves have great literary value and the works like the *Bhagavatī*, *Jñātādharmakathā*, *Vipākasruta*, *Uttarādhyayanasūtra* and *Daśavaikālika* are great and original literary products and the last one, composed by Brahmin Sayyambhava at Campa, around 400 B.C. can be compared with the *Bhagavadgītā* and the *Dhammapada*.

The story literature of the Jainas can be compared with the literature of the Hindus. Even the Agamic texts are extremely attractive story-texts and the *Jñātādharmakathā*, *Vipākasruta* and the *Antagaḍadasā* etc., have innumerable stories and even love-stories are also abundant. The two epics and the missing *Bṛhatkathā* have deeply influenced the Jaina narrative literature and hundreds of Śvetāmbara and Digambara works were composed in imitation of the above mentioned Brahmanical texts.

The earliest non-Agamic Jaina literary work, is the *Paumacariyam* of Vimala, composed in all probability, in the 1st century A.D. It is, in our opinion the earliest Prakrit work of India and probably somewhat earlier than the missing *Bṛhatkathā* of Guṇāḍhya. It is the Jaina version of the *Rāmāyaṇa* and the poet has shown considerable originality in his treatment of the Rāma-story. Although Vimala has not cared to mention Vālmiki by name, he has scrupulously followed the original work; however, everywhere there is a Jaina bias. Later Jaina *Ramayanas* like those composed by Raviṣeṇa, Svayambhū, Hemacandra etc., are all based on Vimala's admirable work.

The *Mahābhārata* saga also has influenced the Jainas, and we have in the *Vasudevahiṇḍī*, the *Harivaṃśa* (by Jinasena II) and the later *Paṇḍavapurāṇas*, the stories from the *Mahābhārata* and even Hemacandra, the great Kalikālasarvajña was influenced by the original *Mahābhārata* in his celebrated *Triṣaṭṭiśālākāpuruṣacaritra*. The *Bṛhatkathā* literature has left its mark on the works like the *Vasudevahiṇḍī*, the *Harivaṃśas*, *Bṛhatkathākośa* etc. However, in all their literary works, the Jaina writers have shown great skill and maturity.

However, the most original among the Jaina writers of the medieval period was Somadeva, the celebrated author of the *Yaśastilakacampū*, written in the middle of the 10th century A.D. It is a great novel, composed by a writer, who was probably a native of Bengal. In some respect, we can call him the Bāṅbhaṭṭa of the Jaina literature. He has wit and a keen sense of human and

his knowledge of human character is unsurpassed in Sanskrit literature. His *Nītivākyaṃṛta* proves his knowledge of the science of polity. It is the third great work on political science after the *Arthasāstra* and *Kāmandakīya Nītisāra*. We have also Jaina writers, who have written on Astronomy, Mathematics and other branches of science. They have surely enriched our knowledge of different branches of science.

The Jaina writers have surely contributed to our knowledge of Indian society in different periods. One great advantage of Jaina works, is that, they are mostly dated. This enables us to know the state of society in different periods. For example, the *Paumacaryam*, written 530 years after the *Nirvāṇa* of Lord Mahavira, gives us invaluable details regarding Indian Society the caste system, the family life etc. of the first century A.D. It also proves that cousin-marriage was quite popular and particularly the marriage with the daughter of maternal uncle. This particular type of marriage, though censured by the authors of *Madhyadeśa*, was unusually popular in Deccan, the whole of Gujarat, Maharashtra and the Far South and even the Hindu Vedāṅga writers have taken note of this. The *Vasudevahiṇḍī*, a unique Prakrit work, written in the Gupta period, as Alsdorf has shown, throws welcome light on the society of this golden period of Indian history. Again, the *Padmapurāṇa* of Raviṣeṇa, a dated work of the 7th century A.D., also throws welcome light on the social life of the post-Gupta period. The *Varāṅgacarita* of almost the same period, the *Harivaṃśa* of Jinasena II, written in 783 A.D., the *Kuvalayamāla* of Udyotana, written five years earlier in Rajasthan, the *Upamitibhavaprapaṅcakathā* of Siddharṣi written in 906 A.D., the *Dharmopadesamāla* of Jayasimha, written in the third quarter of the 9th century, the 10th century texts like the *Tilakamañjarī* and the *Yaśastilakacampū* all give us invaluable information regarding the Indian society of the early medieval period. We get details regarding, social customs, popular festivals, the family-life, and above all, details regarding the position of women, the high degree of freedom, they enjoyed in life.

The Jaina authors have at the same time, supplied us information on economic life of ancient India. We have also information on various aspects of economic life in the *Aṅgavijjā*, a third-century text, written in Mahārāṣṭrī Prakrit. It is indeed impossible to overemphasise the great importance of this wonderful Jaina work. A number of ancient coin-names, not found elsewhere are preserved in this text. The two names here are particularly interesting, namely *Kṣatrapaka* and *Sateraka*. The first is the type of coins, introduced by

the *Kṣatrapa* kings of Ujjayinī and the second, refers to the Indo-Greek coins of stater-type. There are very interesting references to the names of ships like *Koṭṭima*, *Ṭappaka* and *Sanghada*, which are first mentioned in the *Periplus*, a Greek work, written by an unknown sailor, in the second half of the first century A.D. The *Aṅgavijjā* also gives details regarding the economic activities of that period. Other Jaina works like the *Niśīthacūrṇi*, written in the 7th century, the *Harivaṃśa*, of the 8th century and the *Yaśastilakacampū* of the 10th century, throw a flood of light on the economic activities of the post-Gupta and early medieval periods. The extremely interesting text the *Dravyapaṛikṣā*, written during the time of Ala-Ud-din Khilji by Ṭhakkura Pheru, is undoubtedly the only Indian work dealing exclusively with coins of the Guptas, but also of various early medieval dynasties like the Pratihāras, Candellas, almost all Caulukya kings of Gujarat and also the coins of the Tomaras of Delhi. The coins of the Tomara king like Anaṅgapāla, Madanapāla etc., are particularly interesting, because not much is known regarding these kings except that given in Pheru's work and the *Kharataragacchabhṛhadgurvāvalī*, another valuable Jaina work.

But the most important contribution of the Jainas was in the field of historical studies and they have produced a number of first-class historians like Hemacandra, Merutuṅga, Rājaśekhara etc. and other writers of *Prabandhas*. Hemacandra (12th century) *Dvyāśrayakāvya* is one of the greatest works on Gujarat history and it is the earliest. The first twenty chapters, written in Sanskrit are on Kumārapāla's predecessors and the last eight chapters, in Prakrit are on Kumārapāla's activities. Welcome light has also been thrown on great kings, ruling outside Gujarat, like the Mālavā king Bhoja, Cedi king Karṇa, etc. Being a contemporary and *guru* of Kumārapāla, the author has given us minutest details regarding the religious and political activities of that great Jaina emperor. Much more comprehensive, in scope, is the history of Merutuṅga, called *Prabandhacintāmaṇi*, written in 1305 A.D. It is undoubtedly a great historical work after Kalhaṇa's *Rājataranṅgiṇī*, although its worth has often been underestimated. The account of earlier kings like Vikramāditya of tradition, is somewhat fanciful, but from V.S. 802, which is the accession date of Vanarāja, his history is authentic and is confirmed by other literary and epigraphic sources. The name of Muṅja's minister, namely Rudrāditya, given by him, is confirmed by contemporary epigraphs and the details on the struggle between the Mālavas and *Cāulukyas* Kalyāṇa are also fully confirmed by epigraphs. The tragic end of great Munja has been recorded

by him. Another interesting information is regarding the Bengal king Lakṣamaṇasena and his poet-minister Umāpati, whose name is found in the famous *Deopara Praśasti* of the Senas. The defeat of Paramardīn by Prthvīrāja has been mentioned by him and is confirmed by epigraphy. However the date of the destruction of Valabhī has been incorrectly given by him as V.S. 375, the actual date V.S. 845, has been supplied by another Jaina work, namely the *Vividhatīrthakalpa* of Jinaprabha. His account of the Caulukya and Vaghela dynasties is flawless, and so is his account of the two great ministers, namely Vastupāla and Tejapāla. The *Prabandhakośa* of Rājaśekhara, written in 1347 A.D., is another interesting work of history, although its author does not stand in comparison with either Hamacandra or Merutunga. There are some fanciful details. However, interesting light has been thrown on the political relationship between Jayacandra of Kānyakubja and Lakṣamanasena of Bengal. It however incorrectly makes the great Bhadrabāhu, the son of a Brāhmin of Pratisthāna, the correct information is found in much earlier work, namely the *Bṛhatkathākośa*, written in 931 A.D., which represents this savant as the son of a Brahmin of Devokotta in Bengal.

A very interesting work, which is actually a geographical treatise, is the *Vividhatīrthakalpa* of Jinaprabha, written between V.S. 1364 and 1389. Its great importance has been discussed by the present speaker in the second volume of his comprehensive history of Jainism. It is of great significance to note that Jinaprabha was honoured by even the Muslim emperor Muhammad Bin Tughlaq. Some dates, given by him are absolutely correct, namely the date of the destruction of Valabhi, of Somnath and of the date of Prthviraja's defeat and death has also been correctly given and because of the information supplied by him, that we have been able to correctly identify the ancient city of Mithila.

Another medieval Jaina work, namely the *Kharataragacchabṛhadgurvavali* is of supreme importance, for both the students of history and geography and it also yields the details regarding the activities of some little-known kings and it also tells us about the atrocities, committed by the Muslim rulers in Northern India and the details regarding them given in this and other Jaina text, fully tally with those given by the Muslim historians themselves. Those modern historians who have tried to whitewash these Muslim invaders, must go through these contemporary Jaina accounts and only then they will be able to comprehend the enormities committed by those perfidious Muslim conquerors.

The Jaina epigraphs also contribute not a little to our knowledge of ancient and medieval India. We have Jaina inscriptions from the days of Khāravēla (1st century B.C.) to the days of Akbar, the great, and even afterwards. Among the important Jaina inscriptions, we may mention the Hāthīgumpha inscription of Kharavela, the Mathurā inscription, Pahārpur Digambar inscription, from Rajsahi district, Bangladesh, the Aihole *Prasasti* of Ravikīrti etc. More than five thousand Jaina epigraphs have so far been published and nearly 100,000 epigraphs still remain unpublished.

In the field of Art also, the Jainas have contributed a lot. The earlier temples have almost disappeared, but thousands of medieval Jaina temples still exist with all their glory in Gujarat, Rajasthan and parts of other states of Northern India. In South India, we still have many standing Jaina temples, especially in Karnatak and Tamilnadu. We have Jaina sculptures from the 1st century B.C. upto the present time and a few thousand such sculptures are preserved in different museums of India.

The present-day Jainas have still maintained their separate identity and fortunately the two warring sects, namely the Digambaras and the Śvetāmbaras have come closer to one another. Their relationship with the Hindus is also quite warm and cordial. The present speaker wishes them a very bright future.

* Professor, Dept. of A.I.H. & C., University of Calcutta, Calcutta

Jahangir and Non-Violence

- R.N. Mehta*

In 1610 A.D. (V.S. 1666) the Jaina *Samgha* of 90 representatives with P. Vivek and Udehi met *Pādsāh* Jahāngīr at Āgrā and requested him to pass an order prohibiting slaughter of animals during the *Paryuṣana* festival. *Pādsāh* Jahāngīr complied with the request and a decree for prohibition of slaughter of animals during the *Paryuṣana* festival was promulgated. This information was sent to Vijayasena Sūri in 1610 (V.S. 1667, Second day of Bright half of *Kārtika*) by Sohakasuta of *Tapāgaccha*.

This interesting letter was published by Hīrānand Śāstrī in '*Ancient Vijñapti Patras*' in 1942. In this work Hīrānand Śāstrī has commented on p. 20 that "Jahāngīr was not so tolerant as his father. That Jahāngīr also forbade animal slaughter under similar influence for some days is proved by the present document".

This statement by Hīrānand Śāstrī suggests two lines of thought.

- (1) Jahāngīr was not as tolerant as his father Akbar.
- (2) He forbade animal slaughter under the influence of the Jainas.

These points require an examination. It is significant to raise a few questions to understand the situation. If Hīrānand Śāstrī's view that Jahāngīr was less tolerant be examined then one has to find out whether Jahāngīr had any traumatic experience that led him towards the path of non-violence as is noted by Aśoka Maurya Did P. Vivek and P. Udehi and the Jaina *Samgha* went to preach Jahāngīr? Was Jahangir influenced by this teaching and he declared the decree or Jahāngīr was thoughtful and had an innate desire for spreading non-violence.

An examination of these points would require the study of the life of Jahāngīr. Fortunately Jahāngīr is credited to have maintained autobiographic notes for either twelve or eighteen years after he became the ruler. After that the notes were maintained by Mahammad Hāji and Mutmmadkhān under Jahāngīr's instructions. This Persian account is variously known as '*Tuzuka-e-Jahāngīr*', '*Tarikh-e-Salimsāhī*', '*Tarikh-e-Jahāngīrnāmā*', '*Dwazdasal*', '*Jahāngīri vakiyat* etc. This work was translated by Major David Price in 1904 in English. It is reprinted under the title "*Memoirs of the emperor Jahangir*" by J.K. Ahuja from Delhi-7. This edition is used in the article, A perusal of this work indicates that Jahāngīr became *Pādsāh* on 10

Jamadol Akhir 1014, October 1605 on Tuesday. As soon as he became the ruler he had issued a decree. In it the eleventh item is highly significant as it deals with the ban on slaughter of animals. It is stated in it that --

1. As Jahāngīr was born in Rabi-ul-avval meat-eating was prohibited in the kingdom.
2. He was enthroned on Thursday so slaughter was prohibited on that day.
3. For Sunday no slaughter of animals was permitted. This practice was established by Akbar before eleven years and Jahāngīr continued it.

He had released the prisoners and in them one was in prison at Gwalior for forty years.

It is highly significant that the above decree prohibited animal slaughter in the empire of Jahāngīr for 126 days. It clearly indicates that Jahāngīr had prohibited animal slaughter for at least four months during the year.

Moreover Jahāngīr notes that Hindus should be allowed to follow their religion without any hindrance, but on the point of *Sati* it may be noted that he strictly prohibited this practice.

If one follows his autobiography one finds two interesting examples of his attitudes. During his rule there was trouble on Lahore-Kabul high way. Khwājā Abul Hasan cleared this trouble. In this action 17,000 persons were killed and others were captured. Jahāngīr forgave those captured and gave them the work of bringing fodder for the elephants. He has noted that this blood bath is painful, but so long as other ways are not found there is no option. Moreover, he noted that the ruler has to protect his people from trouble.

His remarks when compared with XIIIth Asokan edict finds a great similarity of experience and emotions. It is a well-known fact that he had hung a bell for Justice. These features in his life are highly significant for proper evaluation.

The letter of Sohakasuta and its time are highly significant. When Jahāngīr came to throne, *Paryuṣana* festival was over, but Rabi-ul-avval and *Paryuṣana* were coinciding so the question of killing of animals was out of question. But it changed afterwards. In this change there was a coincidence of *Jamadol Akhir* in 1610 when Jaina *Samgha* went to the court of Jahāngīr.

Usually during *Paryuṣna* the non-slaughter days, the Thursdays and Sundays would always be coming so two or three non-violent days would

naturally exist during these festivals. Under these conditions the Jaina *Samgha* at Āgrā took advantage of this situation and might have requested for promulgation of the decree of non-violence during *Paryuṣana*, on the coronation day. Jahāngīr conceded to this request. This information was sent to Vijayasena Sūri who was residing at Pāṭan (Somnāth or Devkee).

All these historical antecedents do not uphold the views of Hīrānand Śāstrī as noted above.

The analysis of Jahāngīr's auto-biography also suggests that he was deeply influenced by his father. As a boy Jahāngīr had asked his father about stopping the building of temples of the icon worshippers. Akbar's answer of tolerance as a shadow of the Almighty and universal peace had impressed him. He had therefore already imbibed from his childhood the lessons of multi cultural tolerant society and practices with a deep sense for sanctity of life. These ideas were highly favourable for the decree of Non-violence during the *Puryaṣana*. It might have extended the practice of Non-violence and ban on slaughter of animals for a week, but in reality it would be for five or six days more, during the whole year.

Jahāngīr had already declared a ban on slaughter of animals for 126 days. The new order would take the days to 131 or 132 depending on Sundays and Thursdays. This was about 5% increase of days from Jahāngīr's point of view and a great help by the *Pādśāh* to the Jaina *Samgha* and glory to *Tapāgaccha*.

In conclusion, it may be stated that Jahāngīr had inherited from his father the ideas of zilullah (Ruler as shadow of the Almighty) and Sulah Kula (Universal peace), that were effective to sympathise with the Jaina idea of Non-violence. This coincidence was possibly the main reason of Jahāngīr's decree. Moreover, Jahāngīr's autobiography amply demonstrates his desire for non-violent action, but use of violence in the political activity, maintenance of law and order etc. When other more sophisticated methods were not discovered, was reluctantly taken by him. In this aspect the position taken by him and '*Niśithacūrni*' as well as by Jaina thought to solve the riddle of violence for non-violent world also stand almost on the same platform.

* Retd. Professor & Head, Dept. of Ancient History Gujarat Vidyapith, Ahmedabad.

